

संपादकीय

हिंदी और उर्दू की वाक्यरचना और व्याकरण का ढांचा एक है। यह, दर असल, खड़ी बोली है जो दिल्ली, मेरठ और उसके आसपास बोली जाती थी और आज भी बोली जाती है। प्रिंटिंग प्रेस की तकनीक आने के पहले वाचिक परंपरा में और हस्तलिखित पोथियों में साहित्यिक भाषा की हैसियत से ब्रजभाषा, अवधी और मैथिली की बड़ी समृद्ध परंपरा थी। खड़ी बोली किस ऐतिहासिक प्रक्रिया में इन सब बोलियों और भाषाओं को पछाड़ कर साहित्यिक दुनिया में प्रतिष्ठित होती चली गयी उसकी लंबी कहानी है। इस मुद्दे पर इस अंक में कई आलेख हैं। आज़ादी की लड़ाई में फ़ारसी लिपि में लिखित खड़ी बोली अर्थात् उर्दू ने पत्रकारिता और शाइरी के ज़रिये अपनी प्रगतिशील भूमिका निभायी। 1857 के दौर के जनसंघर्षों की स्मृतियाँ जिस तरह लोकभाषाओं ने सुरक्षित रखीं, उसी तरह उर्दू ने भी, अखबारों, शाइरी, संस्मरण, चिट्ठी और आत्मकथाओं के माध्यम से, उन संघर्षों की याद जीवित बनाये रखने की एक शानदार परंपरा कायम की। क्या 1872 के पहले देवनागरी लिपि में लिखित खड़ी बोली हिंदी की ऐसी कोई परंपरा थी? इस सवाल पर भी हम अगले अंक में कुछ सामग्री देंगे।

लेकिन, सवाल यह है कि उर्दू का जन्म कैसे हुआ। बहुत सारे लोग हैं जो ऐतिहासिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उर्दू के विकास को पहलू दर पहलू नहीं देखते। इस संदर्भ में यह हवाला देना ज़रूरी है कि दिल्ली सल्तनत और मुग़ल सल्तनत के विभिन्न युगों में लगभग छः सौ बरसों तक फ़ारसी छापी रही। तेरहवीं सदी से सोलहवीं-सत्रहवीं सदी तक फ़ारसी ज़बान ईरान में और हिंदुस्तान में शिक्षित समाज के बीच जीवंत भाषा थी और उसने एक क्लासिकल परंपरा विकसित की। यहां तक कि ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से भी जितने संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद अरबी, फ़ारसी में उस ज़माने में हुए उतने अनुवाद न तो ब्रिटिश काल में हुए और न आज़ाद हिंदुस्तान में। इसीलिए दरबारों में संस्कृत पंडितों, अरबी फ़ारसी के विद्वानों का वर्चस्व था। फ़ारसी के इसी वर्चस्व से लड़ते हुए खड़ी बोली ने हिंदवी, दकनी, गूजरी, रेख़्ता और उर्दू के रूप में क्लासिकल रचनाशीलता की ऐसी मिसालें सामने रखीं कि फ़ारसी फीकी पड़ गयी और एक देसी ज़बान ने ख़ानकाहों, दरगाहों, सरायों, बाज़ारों और लश्करों की मदद से अपना सिक्का जमा लिया। उर्दू के विरसे से जुड़े इन सवालों पर इस अंक में काफ़ी सामग्री दी गयी है।

देश-विदेश में हिंदी फ़िल्म, थियेटर, हिंदुस्तानी संगीत, शास्त्रीय संगीत और सूफ़ी संगीत की जो लोकप्रियता है, उसमें हिंदी-उर्दू दोनों का साझा रहा है। उपन्यासों, कहानियों, गज़लों, नज़्मों और गीतों को एक तरफ़ जहां संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश की श्रमणसंस्कृति, साहित्यिक और भाषाई संपदा का लाभ मिला है, वहीं दूसरी ओर उसे फ़ारसी-अरबी-तुर्की के ख़ज़ाने से भी काफ़ी दौलत हासिल हुई है। लेकिन, सबसे ज़्यादा हिंदी-उर्दू क्षेत्र की बोलियों ने ही अपनी ठेठ रचनाशीलता से इन भाषाओं की साहित्यिक सांस्कृतिक परंपरा को सींचा और पल्लवित किया है। पर आज हिंदी और उर्दू दोनों के सामने (कुछ एक अपवादों को छोड़ कर) एक-दूसरे से और अपनी बोलियों से कट कर जड़ और प्राणहीन अजायबघर बनने का ख़तरा मंडरा रहा है।

भूमंडलीकरण के आज के ज़माने में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व बनाये रखना केंद्रीय सरकार की अर्थव्यवस्था और औद्योगिक नीति का ही एक अंग है। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के वर्चस्व, देशी और देशोत्तर औद्योगिक निगमों, और पूंजी बाज़ार ने अपने कामकाज व संचार माध्यमों आदि में खासतौर पर अंग्रेज़ी का दबदबा बनाया हुआ है। अंग्रेज़ी संचारमाध्यमों ने हिंदी-उर्दू क्षेत्र की तमाम बोलियों और जनभाषाओं के विशाल इलाके को हिंदीपट्टी-गोबरपट्टी का नाम दे कर लांक्षित कर रखा है। दिलचस्प तो यह है कि इस पूरे इलाके के साहित्यिक सांस्कृतिक आयोजनों के बारे में अंग्रेज़ी संचारमाध्यमों में कभी कोई ख़बर भूले भटकते ही छप पाती है, मानो सांस्कृतिक दृष्टि से यह पूरा क्षेत्र उनके लिए निर्जीव हो। तमाम औद्योगिक और वित्तीय निगमों के बिकाऊ माल को बाज़ार मुहैया कराने, उपभोक्ताओं को लुभाने वाले हज़ारों करोड़ के विज्ञापन इसी इलाके में खपाये जाते हैं।

पचास करोड़ से ज़्यादा आबादी वाले इस विशाल अंचल को हिंदी-उर्दू भाषी क्षेत्र न कह कर उसे हिंदीपट्टी-गोबरपट्टी की संज्ञा देने के मूल में भी एक नस्लवादी सांप्रदायिक आग्रह काम कर रहा है। इसके द्वारा वे यह बताना चाहते हैं कि उर्दू यहां पैदा ही नहीं हुई, और उर्दू का खड़ी बोली से कोई लेना देना ही नहीं। इसके अलावा पूंजीवादी विकास के तहत जिस तरह यह इलाका क्षेत्रीय असमानता और पिछड़ेपन का शिकार है उसका भी मज़ाक़ बनाया जा रहा है।

इन तमाम प्रपंचों और छलछद्मपूर्ण अभियानों के कारण हिंदी-उर्दू और अन्य भाषाओं को गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। ज़िला और क़स्बे के स्तर पर संस्कृतिप्रेमी लोग चंदा करके पत्रिकाएं निकाल रहे हैं, गोष्ठियां कर रहे हैं, नाट्यमंडलियां गठित करके नयी सांस्कृतिक चेतना का विस्तार कर रहे हैं, तथा संगीत की विभिन्न परंपराओं को नया रूप दे कर जन-जन तक पहुंचा रहे हैं। इन कार्यक्रमों के लिए सरकार या औद्योगिक निगमों से न कोई मदद मिलती है और न उम्मीद ही बनती है। अन्य भारतीय भाषाओं की भी यही स्थिति है।

इस बाधग्रस्त परिवेश में हिंदी और उर्दू के बीच शत्रुतापूर्ण तनाव पैदा करने वाले कम सक्रिय नहीं हैं। ऐसे लोग हिंदी को 'हिंदुओं की भाषा' और उर्दू को अल्पसंख्यक 'मुस्लिम समुदाय की भाषा' के रूप में देखने दिखलाने के लिए हर तरह के हथकंडे अपनाने में लगे रहते हैं। इस मनोभाव और समझ को आज पलटने की ज़रूरत है, पर यह काम केवल प्रगतिशील-जनवादी शक्तियां ही कर सकती हैं। हिंदी से उर्दू की भिन्नता पर जोर देने के लिए प्रायः दो चीज़ों का जिक्र किया जाता है: फ़ारसी लिपि और इस्लाम के धर्मिक संदर्भों वाली शब्दावली का। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि लंबे समय तक पंजाबी, सिंधी और कश्मीरी फ़ारसी लिपि में ही लिखी जाती रहीं। जहां तक ईरान, तुर्की और अरब देशों की प्रकृति, खानपान, मिथक और इस्लाम से जुड़े पारिभाषिक शब्दों का संबंध है, इस संदर्भ में हमें यह भी जानना चाहिए कि चीन, थाइलैंड, जापान, श्रीलंका, नेपाल, भूटान आदि के बौद्ध लेखकों के साहित्य में भी यही समस्या है। क्या मात्र इससे वे चीनी या जापानी संस्कृति की मुख्य धरा से अलग थलग पड़ गये हैं? क्या चीनी, नेपाली, या भूटानी बौद्ध अपनी राष्ट्रीय संस्कृति से भिन्न संस्कृति के लोग माने जाते हैं? या फिर हम भारत में ही देखें, हिंदी-उर्दू क्षेत्र के ही जैन, बौद्ध, सिख या ईसाई क्या भारतीय संस्कृति के अंग नहीं माने जायेंगे?

मानव सभ्यता ने अपनी हज़ारों साल की विकासयात्रा में धर्म से संस्कृति को अलगाने के लिए लंबा संघर्ष किया है। तार्किक बुद्धिवाद, ज्ञानोन्मेष, और वैज्ञानिक विकास की मदद से अब तो इस सारी बहस का निपटारा हो चुका है। धर्म एक अलग चीज़ है और संस्कृति अलग। हर धर्मिक समुदाय अपने ढंग से मिथकीय धर्मिक शब्दों का उपयोग साहित्य और संस्कृति में करता रहा है। क्या हिंदीभाषी हिंदू, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि पौराणिक धर्मिक शब्दों वाले संदर्भ इस्तेमाल नहीं करते? ऐसे शब्दों के उपयोग

से उनकी साहित्यिक कृति धार्मिक कृति नहीं बन जाती। इसीलिए फ़ारसी लिपि और इस्लाम की शब्दावली के कारण उर्दूभाषी जनसमुदाय सांस्कृतिक अल्पसंख्यक के रूप में तब्दील नहीं हो जाता। हिंदवी, दकनी, गूजरी, रेख़्ता के रचनाकारों के द्वारा तसव्वुफ़ की व्याख्या के क्रम में इस्तेमाल की गयी सूफ़ी शब्दावली के बावजूद राहुल सांकृत्यायन तथा डा. श्रीराम शर्मा ने क्या दकनी के साहित्य को हिंदी-उर्दू से भिन्न साहित्य बताया? यह उल्लेखनीय है कि राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित 'दक्खिनी हिंदी काव्यधरा' और श्रीराम शर्मा द्वारा संपादित 'दक्खिनी का गद्य और पद्य' जैसी पुस्तकों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि ये सारी कृतियां फ़ारसी लिपि में लिखी गयी हैं, और इनमें इस्लाम तथा तसव्वुफ़ से संबंधित संदर्भ ही नहीं, अरबी-फ़ारसी के शब्द भी भरे पड़े हैं। क्या जायसी, कुतुबन, मंज़न आदि की रचनाएं फ़ारसी लिपि में लिखे जाने के कारण और तसव्वुफ़ के शब्दों से भरे होने के कारण सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की विरासत मानी जायेंगी?

ज़ाकिर हुसैन कालेज, नयी दिल्ली की एक व्याख्यानमाला के अंतर्गत नामवरसिंह ने हिंदी-उर्दू संबंधों पर एक भाषण 2001 में दिया था। वह भाषण यथावत 'ज़ाकिर हुसैन स्मृति व्याख्यानमाला' नामक पुस्तक में संकलित है। अपने इस भाषण में नामवरसिंह ने रामविलास शर्मा की राय से सहमत होते हुए यह बताया था कि उर्दूभाषी समुदाय 'भले ही सांस्कृतिक अल्पसंख्यक हो', पर भारत के मौजूदा संविधान के अंतर्गत उसे बराबरी का हक़ मिलना चाहिए। यहां स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उर्दूभाषी लोग 'सांस्कृतिक अल्पसंख्यक' हैं। इस तर्क की परिणति यह होगी कि हम मैथिलीभाषी, पंजाबीभाषी आदि सभी को सांस्कृतिक अल्पसंख्यक मानने को मजबूर होंगे। नामवरसिंह को यह स्पष्ट करना चाहिए था कि फ़ारसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू को अपनाने वाले जन समुदाय को 'सांस्कृतिक अल्पसंख्यक' मानना क्या तर्कसंगत और उचित है? इस तर्क के अनुसार चीन, जापान, श्रीलंका, नेपाल, भूटान आदि के बौद्ध साहित्यकार क्या उन देशों की राष्ट्रीय संस्कृति से भिन्न संस्कृति के अंग माने जायेंगे? मज़हब या लिपि की दृष्टि से उर्दूभाषी समुदाय को सांस्कृतिक अल्पसंख्यक मानने का दृष्टिकोण, दर असल, एक प्रच्छन्न नस्लवादी सांप्रदायिक नज़रिया है जो भाषाई दुराग्रह के लिबास में असली चेहरा छिपाये बैठा है।

जिस औपनिवेशिक अफ़सरशाही को आज़ाद भारत की सरकार ने बनाये रखा है, उसने उर्दू के बारे में केंद्र और राज्य सरकारों के फ़ैसलों को लागू करने में इसी नस्लवादी सांप्रदायिक नज़रिये से काम किया है। सच्चाई तो यह है कि पूंजीवादी-भूस्वामी वर्ग की हर राजनीतिक पार्टी का उर्दू को ले कर ऐसा ही सांप्रदायिक नस्लवादी नज़रिया न होता तो उर्दू को इतनी उपेक्षा न झेलनी पड़ती। उर्दू क्या, हिंदी को ले कर भी हिंदीसेवी माफ़िया 1947 से अब तक विभिन्न सरकारी और निजी हिंदी संस्थानों के मार्फ़त हज़ारों करोड़ डकार चुका है, पर ठोस कामों का जायज़ा लें तो पता चलेगा कि आज भी विभिन्न विषयों की सभी महत्वपूर्ण पुस्तकें छात्रों को अंग्रेज़ी में ही पढ़नी पड़ती हैं। इन संस्थानों का एक ही काम रह गया है --देशविदेश में गोष्ठियां, सभाएं और सम्मेलनों का आयोजन।

जहां तक उर्दू का सवाल है, हम एक महत्वपूर्ण घटना का जिक्र करके उर्दूभाषियों की बेचैनी और उनके दर्द को पाठकों के सामने रखना चाहेंगे। 'बढ़ती दूरियां, गहराती दरार' नामक अपनी पुस्तक में रफ़ीक़ ज़कारिया ने एक घटना का हवाला देते हुए लिखा है, '1969 में फ़ख़रुद्दीन अली अहमद भारत सरकार को इस बात पर राज़ी करने में कामयाब हो गये कि मिर्ज़ा ग़ालिब की जन्म शताब्दी अखिल भारतीय स्तर पर मनायी जाये। परिणामस्वरूप, बंबई में एक विशाल आम समारोह आयोजित किया गया। मैंने उसकी अध्यक्षता की। केंद्र और राज्य के अनेक गण्यमान्य व्यक्तियों ने समारोह में हिस्सा लिया। उसमें भाग लेने वाले प्रमुख उर्दू लेखकों और शाइरों में लोकप्रिय गीतकार साहिर लुधियानवी भी थे। जब शांत, विनम्र साहिर अपने सामान्य गंभीर व्यक्तित्व के साथ अपनी रचना पढ़ने के लिए खड़े हुए तो तालियों की प्रचंड गड़गड़ाहट हुई, सभी

ने बड़ी उम्मीद के साथ सुनना शुरू किया कि अब उर्दू कविता के शिखरपुरुष मिर्जा ग़ालिब को श्रद्धांजलि अर्पित करने वाली मार्मिक रचना सुनने को मिलेगी । लेकिन जब साहिर ने रचना पढ़नी शुरू की और पंक्ति दर पंक्ति पढ़ते गये तो सभी दंग रह गये, मंच पर बैठे मंत्री व अधिकारी धक् रह गये और विशाल जनसमुदाय उछल पड़ा । साहिर ने सुनाया :

इक्कीस बरस गुज़रे आज़ादिए-कामिल को
तब जाके कहीं हमको ग़ालिब का ख़याल आया
तुरबत है कहां उसकी मिस्किन था कहां उसका
तब अपने सुख़नपरवर ज़हनों में ख़याल आया ।
सौ साल से जो तुरबत चादर को तरसती थी
अब उस पे अक़ीदत के फूलों की नुमाइश है
उर्दू के तअल्लुक़ से कुछ भेद नहीं खुलता
यह ज़शन यह हंगामा ख़िदमत है कि साज़िश है ।
जिन शहरों में गूँजी थी ग़ालिब की नवा बरसों
उन शहरों में अब उर्दू बेनामोनिशां ठहरी
आज़ादिए-कामिल का ऐलान हुआ जिस दिन
मातूब ज़बां ठहरी, ग़द्दार ज़बां ठहरी ।
जिस अहदे-सियासत ने यह ज़िंदा ज़बां कुचली
उस अहदे-सियासत को मरहूमों का ग़म क्यों है
ग़ालिब जिसे कहते हैं उर्दू ही का शाइर था
उर्दू पे सितम ढा के ग़ालिब पे करम क्यों है ॥

साहिर ने अपनी इस अमर कविता में आज के हिंदुस्तान में उर्दू की बदहाली की जो मार्मिक तस्वीर खींची है, वह सटीक है । इसमें उर्दूभाषी हिंदुस्तानियों के दर्द को वाणी दी गयी थी । '

नया पथ का यह अंक उर्दूभाषियों के दर्द को ही नहीं, हिंदीभाषियों के दर्द को भी सामने लाना चाहता है । हिंदी-उर्दू क्षेत्र के सभी लोगों का यह दर्द है क्योंकि अपने साज़ा विरसे की हिफ़ाज़त का सवाल बहुत महत्वपूर्ण है ।

दृश्य-श्रव्य कलाओं यानी फ़िल्म, रंगकर्म और संगीत में हिंदी-उर्दू तथा बोलियों की साज़ा संस्कृति उतनी बाधग्रस्त नहीं है । हिंदी-उर्दू के लिखित रूपों में लिपि की भिन्नता के कारण जो दूरी और बेगानगी थी, उसे भी लगातार दूर किया जा रहा है और परिचय तथा आत्मीयता की मदद से उसे पूरी तरह दूर करना मुमकिन है । **नया पथ** इसी दिशा में प्रयत्नशील है ।

इस अंक की तैयारी में हमें अर्जुमंद आरा और शहरोज़ के साथ साथ जिन हिंदी-उर्दू अदीबों और विद्वानों से सहयोग प्राप्त हुआ है उन सब के हम आभारी हैं । लेकिन, हमारे सामने चुनौती बड़ी है और जनवादी लेखक संघ को हिंदी-उर्दू लेखकों का साज़ा संगठन बनाने और इस साज़े को **नया पथ** में नुमायां तौर पर वाज़े करने के लिए उनके और अधिक सक्रिय सहयोग की अपेक्षा है और हम उन्हें इसकी दावत देते हैं ।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

परिप्रेक्ष्य

हिंदुस्तान की तामीर

एजाज़ अहमद

सरज़मीने हिंद पर अक़वाने आलम के फिराक
क़ाफ़िले बसते गए, हिंदोस्तां बनता गया।

—रघुपति सहाय फिराक गोरखपुरी

मैं यहां चार सवाल करना चाहूंगा—

1. हमारी सभ्यता के इतिहास में वह कौन-सी चीज़ है, जिसने भारत को भारत बनाया?
2. ऐतिहासिक गहनता ने किस तरह खुद उस उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को एक रूप दिया, जब वह विदेशी शासन के खिलाफ़ खड़ा हुआ और किस तरह उसने हमारी सभ्यता को एक खास किस्म का राष्ट्रीय चरित्र प्रदान किया?

3. 1947 में एक आज़ाद, प्रभुसत्तासंपन्न राष्ट्र-राज्य वजूद में आया और भारत की जनता ने 1950 में स्वयं को एक संविधान प्रदान किया, जिसमें गणतंत्र की कल्पना की गयी थी। यूरोपीय अर्थ में एक राष्ट्र-राज्य की कल्पना ही नहीं की गयी थी, बल्कि देश को भारी सांस्कृतिक और क्षेत्रीय विविधताओं (से संपन्न जातीयताओं के एक संघ) के रूप में भी समझा गया था। तब हमारे गणतंत्र के निर्माताओं की दृष्टि किस तरह की थी?

4. आज नव उदारवादी आर्थिक नीति और बहुसंख्यक सांप्रदायिकता का संयोग उस समझ को ही मटियामेट करने पर आमादा है जो राष्ट्रीय और यहां तक कि सभ्यता के स्तर पर भी, स्वयं के बारे में हमारी बुनियादी समझ रही है। तो ऐसे समय में भारतीय संस्कृति के निर्माण और पुनर्निर्माण के बारे में किस तरह की शक्तियां आपस में टकरा रही हैं?

हमारी अद्वितीय सभ्यता तब भी स्पष्ट रूप से भारतीय दिखायी देती है जबकि वह न तो एक साझी भाषा से जुड़ी हुई है और न एक साझा धर्म या प्राचीन प्रजातीय पौराणिकता उसे बांधे हुए हैं। तो हम यहां के लिए भौतिक उत्पादन की उन बेपनाह लंबी और बेहद पेचीदा प्रक्रियाओं पर तथा सांस्कृतिक संरचनाओं पर भी विचार कर सकते हैं।

भारत की सांस्कृतिक एकता को अभिजातवादी सिद्धांत एक ऐसी महान परंपरा की देन मानते हैं, जिसका सारतत्व सिंधुपारी हिंदू सामाजिक व्यवस्था के ब्राह्मणवादी विचारों में और प्राचीन संस्कृत के आदर्शमुखी ग्रंथों में निहित है। दूसरी तरफ़ इस सभ्यता के अंदर मौजूद विविधताओं को बहुत सारी लघु परंपराओं के घात-प्रतिघात से उत्पन्न माना जाता है और इन परंपराओं को स्थानीय, अस्थिर और आपसी निरंतरता से रहित माना जाता है। प्राच्यवादी ज्ञान परंपरा और उच्च जातीय भारत विद्या

में आमतौर पर समाहित यह महिमामंडित छवि इस (महान परंपरा) को पूरे मध्यकाल के दौरान वर्चस्ववादी करार देती है, जिसे व्यापक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी, जो इतनी शक्तिशाली थी कि विरोध की तमाम आवाजों को दबा सके और फिर भी इतनी उदार थी कि ढेरों लघु परंपराओं की स्थानीय विविधताओं को अपने साथ जगह दे सके। इस तर्क का एक निष्कर्ष यह भी है कि जहां बौद्ध मत से लेकर सिख मत तक भारत के अंदर पैदा होने वाले विरोध को इस बृहद् या महान परंपरा ने एक जगह दी, वहीं बाहर से आने वाले धार्मिक विश्वास, खासतौर से इस्लाम और ईसाइयत, इस वृहद् परंपरा से तालमेल नहीं बिठा सके और इस तरह भारतीय समाज में हमेशा विजातीय तत्त्व ही बने रहे। जैसा कि हम देख सकते हैं, वृहद् परंपरा की यह महिमामंडित समझ किस प्रकार आसानी से तंगनज़र बनकर अंततः एक आधुनिक सांप्रदायिक दृष्टि का रूप ले लेती है।

मध्यकालीन भारत के आरंभिक भाग तक के संदर्भ में आधुनिक ज्ञान दृष्टि ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था और संस्कृत प्राचीनतावाद की व्यापक स्वीकृति और उनके अबाध वर्चस्व के इस विचार को एक बड़ी हद तक चुनौती देती है। लगता है कि आध्यात्मिक वर्चस्व की प्रमुख व्यवस्थाओं के प्रतिरोध का स्वर और उसकी निरंतरता प्राचीन काल से ही इस सभ्यता की एक उल्लेखनीय विशेषता रही हैं। ब्राह्मणवादी तत्त्व-मीमांसा का एक केंद्रीय तत्त्व रहा है वर्णाश्रम धर्म, लेकिन लगता है कि प्राचीन भारत में इसकी विचारधारा मुख्य रूप से समाज में प्रभुत्वशाली ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों पर ही हावी रही है। ऐसा लगता है कि दस्तकारों और काश्तकारों के अनेक स्तर और इसी तरह पशुपालक और आदिवासी समूह विशेषाधिकारी वर्गों से अलग रहे हैं। उनकी पवित्रतावादी विश्वदृष्टि बिल्कुल ही भिन्न विश्वास-प्रणालियों से बनी और इसलिए भौतिकवादी दर्शन की ओर अधिक झुकी हुई रही है। इस दर्शन का प्रतिनिधित्व लोकायत संप्रदाय करता है, जिसके बारे में बदनसीबी से हमारा ज्ञान बहुत कम है। फिर भी बौद्ध मत के उत्थान की ऐतिहासिक दशाओं के बारे में इतना तो हम जानते ही हैं कि इसके बारे में कुछ विश्वसनीय अनुमान लगा सकें। मसलन यह कि बौद्ध मत में ब्राह्मणवाद की कुछ धारणाएं जरूर पायी जाती हैं, जैसे कर्मफल और पुनर्जन्म की धारणाएं; फिर भी उसने वर्णाश्रम धर्म को एक सिरे से अगर खारिज कर दिया तो यह संभवतः एक ओर जनजातियों और शूद्रों तथा दूसरी ओर ब्राह्मणवाद के डगमगाते हुए वर्चस्व के सीधे-सीधे टकराव का नतीजा था और यह ब्राह्मणवाद उस समय राजतंत्र द्वारा निर्मित और करों पर निर्भर व्यवस्था के लिए आवश्यक श्रम-विभाजन को वैधता प्रदान करता था। अनेकता को बहुत अधिक महत्व देने वाली एक सभ्यता की अपनी एकता के क्या कारण थे, अगर हम इस पर थोड़ा और गहराई से सोचें तो पाएंगे कि शक्ति के वर्चस्वहीन रूपों को जगह देने में अजीबो-ग़रीब किस्म की यह तत्परता मूलगामी विरोध-प्रतिरोध की निरंतरता और बहुतला की देन हो सकती है। इस एकता का कारण उन विभिन्न शूद्र समूहों की इच्छा शक्ति और कारवाई है जो उस इतिहास से बाहर न जाने पर अड़े हुए हैं, जिसे उनकी कीमत पर रचा गया है।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के सामाजिक दायरे के बारे में भी संभवतः कुछ ऐसी ही बातें कही जा सकती हैं। पारलौकिक और लौकिक दोनों प्रकार के विषयों से संबंधित संस्कृत ग्रंथों की तमाम उपलब्धियों और शक्तियों के बावजूद यह बात कही जा सकती है कि स्त्रियों और शूद्रों के वेद-पाठ

पर और इसलिए संस्कृत के अध्ययन पर लगे प्रतिबंधों ने संस्कृत को किसी की भी मातृ-भाषा नहीं बनने दिया और वह प्रभुत्वशाली जातियों तक सीमाबद्ध होकर केवल पितृ-भाषा बनकर रह गयी। इस तरह अगर स्वयं संस्कृत की नाट्य-परंपरा तक में स्त्रियां और शूद्र प्राकृत बोलते हैं तो यह बात अहमियत रखती है। इस सिलसिले की नाजुक अहमियत उस भक्ति-सूफी-संत-परंपरा के उदय और शानदार इतिहास में दिखायी देती है, जिसका आरंभ छठी सदी के आसपास तमिलनाडु में हुआ और जो कोई हजार साल बाद उत्तर भारत में अपने उरूज पर पहुंची। भारत के काफी बड़े हिस्से में, एक के बाद दूसरे क्षेत्रों में इस परंपरा ने अनुभूति और संवेदना और गीतों और विश्वासों के वैध वाहकों के रूप में बहुत सारी मातृ-भाषाओं को जन्म दिया, पुष्ट किया और इस तरह ऊंची जातियों की पितृ-भाषा को विस्थापित किया। यह और बात है कि उस पितृ-भाषा से उसने वह सब लिया जो उसे उपयोगी लगा और उसका समन्वय उसने अनधिकृत और निषिद्ध तत्वों के साथ किया। लेकिन, ये मातृभाषाएं हर जगह निचली और मंझोली जातियों की बोलियां थीं और इसलिए वे अनेक प्रकार की प्रतिबंधित ज्ञान-प्रणालियों और विश्वास-प्रणालियों का खजाना भी थीं। वे अधिकृत ग्रंथों से अधिक बोलचाल के करीब थीं, जनजातीय अतीत, पशुपालक समूह, शिल्पी संघ और नारी के अनुभव के करीब थीं, यहां तक कि वे बौद्ध और जैन मत जैसे महान प्रतिरोध-आंदोलनों के मूल रूप के भी करीब थीं।

यह बात नहीं कही जा सकती कि इस बेहद पेचीदा भक्ति-सूफी-संत-परंपरा की हर धारा प्रभुत्वशाली ब्राह्मणवादी व्यवस्था का एक समान विरोध करती रही। इनमें से बहुत-सी धाराएं तो परलोकमुखी निष्क्रियता की, यहां तक कि रूढ़िवाद की भी पोषक थीं, और कुछ ने तो एक बड़ी हद तक उसी व्यवस्था की भ्रांतियों और शिक्षाओं से अपना तालमेल बिठा लिया। फिर भी कुछ पहलू स्थायी हो गये। पितृ-भाषाओं से मातृ-भाषाओं की ओर होने वाला परिवर्तन पलटा नहीं जा सका और इसी तरह वर्णाश्रम धर्म का सख्त विरोध जारी रहा। उच्च ब्राह्मणवाद की परंपराओं के ठीक उल्टे, जात-पात विरोधी भक्ति संप्रदाय हिंदू धर्म के अंदर से पैदा हुआ, लेकिन उसने इस्लाम के अंदर की कुछेक विरोधी धाराओं की ओर भी हाथ बढ़ाये। अद्वैत वहदतुल-वजूद के और करीब साबित हुआ और शरीयत से सूफी की नफरत ब्राह्मणवाद विरोधी संत को जानी-पहचानी चीज़ लगी और इस तरह इन दोनों के संपर्क से समन्वय के ऐसे रूप पैदा हुए जो इतिहास में नये थे। सिंधुपारी मैदानों में संस्कृत को साहित्य और दर्शन में, धर्मग्रंथों में एक बेजोड़ शास्त्रीय भाषा का दर्जा मिला हुआ था। उसके विपरीत भाषाओं की बहुलता भक्ति-सूफी परंपरा का अनिवार्य तत्व थी और इस परंपरा में न तो सिद्धांतों की एकता का, न किसी आदर्श आचरण का और न ही बाकी जनता पर किसी एक भाषा के आरोपण का कोई महत्व था। यह परंपरा खुद ही सांस्कृतिक और धार्मिक वर्चस्व की एक काफी ठोस व्यवस्था का विरोध करते हुए उभरी थी और इसमें सिद्धांतों की किसी एकता को नहीं बल्कि अनुभूति और संवेदना, गीत और नृत्य, आचार और विचार की एक ऐसी संस्कृति को बढ़ावा मिला जिस पर एक मोटा-मोटी सहमति थी और जो भाषाओं की सरहदों को काटती थी। इस तरह यह परंपरा विभिन्न भाषाओं में फली-फूली। उसने इन भाषाओं को पुख्ता बनाया और इन भाषाओं से जुड़े सांस्कृतिक समूहों ने उन्हें आगे बढ़ाया। इनके बीच भी सांझे मुहावरों का और आपसी पहचान का एक ढांचा पैदा हुआ, लेकिन किसी

सांझी भाषा या सांझे सिद्धांत को अपनाने की मजबूरी के बगैर। ठीक इसी अर्थ में भक्ति-सूफी परंपरा ने एक बड़ी, भारत-व्यापी भूमिका उस विश्व-दृष्टि के निर्माण में, उस संस्कृति के विकास में निभायी, जिसे आज कोई भारतीय संस्कृति कह सकता है और जो इस या उस क्षेत्र या भाषा से जुड़े हुए नहीं हैं।

इस तरह जातिप्रथा की बेरहमियों और बेलोच के बावजूद जिस चीज़ को हम भारत की विविधता के रूप में जानते हैं, वह प्रभुत्वशाली उच्च जातीय संस्कृति की देन नहीं है। वह पैदा हुई तो उत्पीड़ित वर्गों के प्रतिरोध की निरंतरता से, और इसलिए ब्राह्मणवाद कैथोलिक ईसाइयत वाले ढर्रे पर अपने आपको वर्चस्ववादी, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में ढालने में नाकाम रहा। हमारे सांस्कृतिक इतिहास के आरंभिक कालों पर विचार करने का यह सिर्फ एक ढंग है। उसी तरह एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में भारत के विकास पर भी विचार कर सकते हैं। इसके बारे में भी अलग-अलग दृष्टिकोण रहे हैं। ब्रिटिश प्रशासकों का और विद्वानों का भी दावा था कि भारत को इतिहास में पहली बार ब्रिटिशराज ने ही एक किया, वरना वह तो आपस में टकरा रहे समुदायों, धर्मों, पक्षों और 'नस्लों' का एक हैरानकुन ताना-बाना था। इसकी बजाय हमारा तर्क यह है कि एक आधुनिक-पूर्व सभ्यता से एक आधुनिक-राष्ट्र में संक्रमण की शुरुआत उपनिवेशी कब्जे के नहीं बल्कि उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के कारण हुई। अगर हम 1880 के दशक में और उसके बाद राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के आरंभिक चरण को भी देखें, जबकि वह अभी राष्ट्रीय स्वाधीनता का आंदोलन नहीं बना था बल्कि एक बड़ी हद तक उच्च वर्गों का आंदोलन था, तो भी दो विशेषताएं साफ दिखायी देती हैं।

सबसे पहले तो हम इस शुरुआती और जोरदार सरोकार को देखकर हैरान होते हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन सही अर्थों में राष्ट्रीय बन सके, इसके लिए आवश्यक है कि वह अधिक से अधिक समावेशी बने और अपने दायरे में भिन्न-भिन्न धर्मों, क्षेत्रों और भाषाओं की जनता को समेटे, यानी कि वह एकजुट राष्ट्रीय आंदोलन बने जिसमें बहरहाल अंदरूनी तालमेल और रंगारंगी की गुंजाइश हो। धर्मनिरपेक्षता इस राष्ट्रवाद की एक बुनियादी प्रवृत्ति तब भी थी, जब उसके प्रति वचनबद्धता को एक अच्छी तरह व्यक्त विचारधारा का रूप नहीं मिला था। इसका कारण ठीक यही था कि जिस समाज को एक आधुनिक राष्ट्र में बदलने की कोशिश की जा रही थी, वह धर्मों और पंथों के एतबार से काफी विविधता लिये हुए था। भारत के विभाजन के बहुत सारे कुप्रभावों में एक कुप्रभाव यह भी है कि हम भूल जाते हैं कि विभाजन से पहले के भारत में मुसलमान कुल आबादी का कोई सवा दो प्रतिशत हिस्सा थे और देश के दो सबसे बड़े सूबों, यानी बंगाल और पंजाब में वे बहुमत में थे। धर्मनिरपेक्षता की या कम से कम आपसी सद्भाव की विचारधारा भारत में स्वयं राष्ट्रवाद की विचारधारा के अटूट अंग के रूप में पैदा हुई। धर्मनिरपेक्षता का विचार स्वयं समाज के अंदर तरह-तरह की सांप्रदायिकता के मुक़ाबिले तथा 'बांटो और राज करो' की साम्राज्यी नीतियों के मुक़ाबिले भी प्रतिरक्षा की एक व्यवस्था के रूप में विकसित हुआ; चाहे वे अज्ञेयवादी और 'समाजवादी' दीनदार मौलाना आज़ाद हों या दक्षिणपंथी सरदार पटेल, जिनकी अपनी राजनीतिक संस्कृति हिंदू सांप्रदायिकता की संस्कृति से बहुत दूर नहीं थी। यह धर्मनिरपेक्षता किसी भी विशेष नेता के निजी रुझानों से अलग, एक वस्तुगत आवश्यकता थी। इसलिए उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग में राष्ट्रीय आंदोलन के आरंभ से लेकर (चाहे तो कह लीजिए कि) उन्नीस सौ सत्तर की

दहाई तक जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पतन शुरू हुआ, धर्मनिरपेक्षता और धार्मिक सद्भाव के विचार भारत की विचारधारा के बुनियादी घटक बने रहे। इसका मतलब क़तई यह नहीं है कि भारत का बुर्जुआ राष्ट्रवाद हमेशा इन विचारों का वफ़ादार रहा या कांग्रेस जैसे प्रमुख राष्ट्रवादी संगठन या उनके नेतृत्व भी सांप्रदायिक तत्त्वों से खाली थे। मेरा तो यह विचार है कि राष्ट्रीय आंदोलन अगर देश-विभाजन या पाकिस्तान के निर्माण को रोकने में नाकाम रहा तो इसका मुख्य कारण यही था कि उसकी अपनी क़तारों में एक काफ़ी बड़ा दक्षिणपंथ भी मौजूद था, जो हिंदू सांप्रदायिकता की राजनीति में एक बड़ी हद तक शामिल था और राजनीतिक स्तर पर सक्रिय मुसलमानों के बड़े-बड़े हिस्से उसे इसी रूप में देख रहे थे। मेरा अभिप्राय यह है कि राष्ट्रीय आंदोलन का हिरावल दस्ता धर्मनिरपेक्षता को हमेशा एक आधुनिक राष्ट्र में भारत के परिवर्तन के लिए आवश्यक समझता रहा और यह दस्ता अपने बहुत से समर्थकों में धर्मनिरपेक्षता के अभाव को एक कमज़ोरी, पूरे राष्ट्रीय आंदोलन की शक्ति और वैधता में कमी के रूप में देखता रहा।

इसी तरह, राष्ट्रीय आंदोलन का बहुभाषी और बहुक्षेत्रीय चरित्र भारत के वस्तुगत ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चरित्र की पैदावार था। अफ़्रीका या अरब दुनिया को उपनिवेशवाद ने अनेक छोटे-बड़े राज्यों में बांट दिया। इसके विपरीत, भारत का एकीकरण अनेक बोलियां बोलने वाले एक विशाल उपनिवेश के रूप में हुआ। ब्रिटिश भारत के ज़्यादातर सूबे यूरोप के ज़्यादातर मुल्कों से बड़े थे। विभाजन से पहले बांगला भाषियों की संख्या यूरोप के फ़्रांसीसी भाषियों जितनी ही थी और फ़्रांसीसी सर्व कोएट को जितना कम समझते थे; बंगाली भी तमिल को उतना ही कम समझते थे। यह तमिल भी अंग्रेज़ी और फ़्रांसीसी समेत किसी भी आधुनिक यूरोपीय भाषा से अधिक प्राचीन थी। जड़ें जमा चुकी भाषाओं की, और इसलिए हर विशेष भाषा के साथ पैदा होने वाली सांस्कृतिक विशेषताओं की यह बहुलता हमारी धरती पर उपनिवेशवाद के आने के बहुत पहले से ही भारतीय समाज की बुनियादी प्रकृति का हिस्सा थी। इस तरह, इस ठोस ऐतिहासिक संदर्भ में आधुनिक भारतीय राष्ट्र, जो अंदरूनी विविधताओं से कहीं अधिक संपन्न था, लाज़मी तौर पर उस तरह के एक भाषा और एक संस्कृति वाली राष्ट्रीयता से भिन्न रहा जो यूरोप की, और आम तौर पर उन्नत पूंजीवाद की ख़ासियत है। नतीजा यह रहा कि विभिन्न क्षेत्रों में अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे तबकों की संपर्क भाषा बन गयी और जब भारत के तमाम जनगणों पर एक तथाकथित 'राष्ट्र-भाषा' के नाम पर हिंदी को लादने की कोशिश की गयी तो असाध्य उत्साह और मूर्खता के दर्शन भी हुए। लेकिन इस दूसरे रवैये से जल्द ही पीछे भी हटना पड़ा और इस स्पष्ट तथ्य को अधिकांशतः पूरी तरह स्वीकार किया गया कि जिस 'भारतीय राष्ट्र' की एकता बनाये रखने की पुरज़ोर कोशिश की जाती है, उसकी बड़ी इकाइयों में लोग कुछ दर्जन भाषाएं और उन बड़ी इकाइयों से परे बहुत सारी दूसरी बोलियां भी बोलते ही रहेंगे।

यह मान्यता निश्चित ही एक वस्तुगत तथ्य की मान्यता थी, लेकिन मेरा ख़याल यह है कि इस तथ्य को व्यापक स्वीकृति कहीं अधिक पुरानी इस सांस्कृतिक वास्तविकता के कारण मिली कि राष्ट्रीयता के जन्म से पहले तहज़ीबी एकता से मिलती-जुलती कोई चीज़ पैदा हो चुकी थी और उन तमाम सदियों में भी हम बहुत सारी भाषाएं बोल रहे थे। एक बहुभाषी राष्ट्रीयता की यह स्वीकृति भी काफ़ी उल्लेखनीय थी। लेकिन ख़ासतौर पर यूरोप में अधिकांश राष्ट्रीयताओं

के इतिहास में उपजातीयता और भाषा के केंद्रीय महत्व को देखते हुए इससे भी अधिक उल्लेखनीय बात यह थी कि भारत में उपजातीय-भाषायी राष्ट्रीयताओं का एक हैरान करने वाला अभाव दिखायी देता है। उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भारत में भाषा पर आधारित उस तरह का कोई शक्तिशाली अलगाववादी आंदोलन कभी पैदा नहीं हुआ, जैसा कि, मिसाल के लिए, सांप्रदायिकता पर आधारित वह अलगाववादी आंदोलन था, जिसके चलते पाकिस्तान बना। इसकी बजाय यहां भारतीय संघ में भाषायी राज्यों के गठन के लिए अनेक आंदोलन उभरे। इस तरह भाषाओं की बहुलता और नतीजे में सांस्कृतिक विविधता कोई ऐसी चीज़ है, जिसे दिल से स्वीकारा जा चुका है। अगर यह तथ्य हमें बहुत उल्लेखनीय नहीं दिखायी देता तो इसलिए कि हम उसी समाजी माहौल और उसी तहज़ीब में पले-बढ़े हैं, जिसने इस वास्तविकता को जन्म दिया है। तो भी इस स्थिति की तुलना हम अमरीका जैसे देश से, दुनिया के सबसे संपन्न देश से, कर सकते हैं, जहां के नागरिक उन प्रवासियों की संतान हैं (और पहले के गुलामों की संतान भी हैं) जिनका संबंध मूल रूप से कोई दो सौ अलग-अलग भाषायी समूहों से रहा है। फिर भी उनसे कहा जाता है कि वे उन भाषाओं को भूलकर उसी अंग्रेजी भाषा की एकभाषी तानाशाही कुबूल कर लें जो उस एकभाषी राष्ट्र के जीवन में किसी भी दूसरी भाषा को कोई भी संवैधानिक दर्जा देने से इंकार करती है।

धर्मों, पंथों, भाषाओं और क्षेत्रीय संस्कृतियों की भारी विविधता की यह स्वीकृति उपनिवेश विरोधी आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता रही है। उतनी ही हैरानी स्वयं भारतीय समाज में सुधार के प्रति भारी सरोकार को और अनेक प्रकार के सुधारों के लिए आंदोलनों के धमाकाखेज़ उभार को देखकर होती है—जैसे बंगाल में स्वयं ऊंची जातियों में, उत्तर भारत के मुसलमानों में, महाराष्ट्र की दलित जातियों के बीच सामाजिक न्याय की तड़प। कहा तो यह भी जा सकता है कि सही अर्थों में उपनिवेश विरोधी आंदोलन के जन्म से कई दहाई पहले ही समाज-सुधार आंदोलन शुरू हो चुके थे। उनकी परिपक्वता का एक लंबा काल रहा है जो उन्नीसवीं सदी के एक बड़े हिस्से को समेटता है और इस काल में खुद उपनिवेशी सत्ता को अक्सर भारतीय समाज के सुधार और आधुनिकीकरण के निमित्त के रूप में देखा जाता था, जब उपनिवेशी राजसत्ता ने यह बात साफ़ कर दी कि वह ऊंची जातियों और संपत्तिशाली वर्गों को चोट पहुंचाने वाले सुधार लागू करने के लिए तैयार नहीं हैं तो उसके बाद, उन्नीसवीं सदी की आखिरी चौथाई और बीसवीं सदी की पहली चौथाई के दौरान एक बड़ा काल ऐसा रहा जब 'राष्ट्रीय आंदोलन' ने अपने आपको मूलतः एक दबाव समूह के रूप में विकसित किया। इसका मक़सद उपनिवेशी सत्ता को यह समझाना था कि जिस भारतीय समाज पर वह राज कर रही है, उसके और भी कारगर सुधार के लिए वह खुद अपनी नीतियों में सुधार कर ले। इस बीच पूरी उन्नीसवीं सदी में और बीसवीं सदी के मध्य में स्वाधीनता के समय तक, हमें ऐसे अनगिनत आंदोलनों, संगठनों का उदय भी दिखायी देता है जो राजनीतिक स्वाधीनता के बजाय समाज-सुधार के लिए कोशिश कर रहे थे।

वैसे सभी समाज-सुधार आंदोलन प्रगतिशील या आधुनिकता प्रेमी नहीं थे। उनमें से बहुत से तो घोर रूढ़िवादी या सांप्रदायिक और संकीर्ण थे और कुछ एक आंदोलनों में सामाजिक रूढ़िवाद, सामाजिक और धार्मिक पहचान से (आधुनिक) शिक्षा का गहरा संबंध था और कुछ एक ने तो हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख यानी तरह-तरह की सांप्रदायिकताओं के उभार में भारी योगदान दिया, यहां

तक कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ भी अपने आपको सुधार आंदोलन ही कहता है। यहां मुझे अंतोनियो ग्राम्शी का यह कौल याद आता है कि इटली में उन्नीसवीं सदी के आखिरी हिस्से में बुर्जुआ राष्ट्रवाद की विचारधाराओं ने 'सुधार' का मतलब अक्सर 'पुनर्स्थापना' लगाया जाता था। तो भी दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि भारत में कम्युनिज़्म का आरंभिक इतिहास ऐसे लोगों से भरा पड़ा है, जिन्होंने बुर्जुआ राष्ट्रवाद को छोड़कर उभर रहे कम्युनिस्ट आंदोलन को अपनाया। कारण यह था कि वे आर्थिक शक्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा के मूलगामी पुनर्वितरण के सवाल पर इस तरह के राष्ट्रवाद की असंगतियों से दुखी थे, जबकि यह पुनर्वितरण सही मायनों में उत्पीड़ित जातियों और वर्गों का भला करता। दूसरे, यह बात भी कही जानी चाहिए कि भारत के बुर्जुआ राष्ट्रवाद के कुछ अधिक प्रगतिशील तत्त्वों की यह आम समझ थी कि अपने आपको बखूबी बदले बिना और अपने अतीत के कुछ बदतरीन पहलुओं को त्यागे बिना भारत एक सचमुच का आधुनिक राष्ट्र नहीं बन सकता और यह कि भारत के लिए आधुनिक राष्ट्रीयता की लड़ाई सिर्फ उपनिवेशी उत्पीड़कों के खिलाफ नहीं बल्कि उसके अपने बहुत सारे सामाजिक ढांचों और रीति-रिवाजों के सड़े-गलेपन और अत्याचारों के खिलाफ भी थी। प्रगतिशील सुधारों की इस प्रतिबद्धता का एक सकारात्मक परिणाम यह निकला कि उपनिवेशी शासकों के दंभ और नस्लवाद से पीड़ित बहुत सारे उपनिवेशों के विपरीत, यहां पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों को उपनिवेश विरोधी आंदोलन में कभी प्रमुखता नहीं मिली।

यह बात काफी उल्लेखनीय है कि सुधारवादी और राष्ट्रवादी जाति-प्रथा के सवाल पर कितने असहज महसूस करते थे और यह समझ कितनी तीखी थी कि जाति के सवाल पर इस बुरी तरह बंटा हुआ कोई समाज शायद ही एक राष्ट्र कहलाने का हकदार हो, क्योंकि एक राष्ट्र के सदस्यों में कम से कम एक क्षैतिज सामाजिक समानता तो होती ही है। याद कीजिए विवेकानंद का वह मशहूर जुमला कि जाति-प्रथा के भेदभाव मानने वाला हिंदू धर्म; उनके शब्दों में, सिर्फ एक 'रसोई वाला धर्म' है। इसी तरह अपने राष्ट्रवाद संबंधी व्याख्याओं में टैगोर ने टिप्पणी की थी कि जहां लोग साथ बैठकर न तो भोजन करने के लिए स्वतंत्र हों और न एक दूसरे के परिवार में शादी-ब्याह कर सकें, उसे शायद ही एक राष्ट्र कहा जा सके। अंबेडकर के साथ पूना-समझौते पर दस्तखत करने के पहले गांधी का भी ऐलान था कि जाति-प्रथा जिंदा रहे, इससे बेहतर तो यही होगा कि हिंदू धर्म मर जाय।

उपनिवेशी काल में सुधार की अनगिनत परियोजनाओं में जाति-प्रथा की केंद्रीयता से इंकार नहीं किया जा सकता। क्यों? पहला कारण निश्चित ही यह है कि ब्राह्मणवाद और बुद्ध के महासंग्राम के समय से ही जाति का सवाल भारतीय सभ्यता और समाज के इतिहास का एक बड़ा अनसुलझा सवाल रहा है और अदम्य सवाल भी। हजारों साल के संघर्षों के बावजूद इस सवाल का हल न होना ब्राह्मणवादी व्यवस्था की और उससे जुड़ी शक्ति और संपत्ति की व्यवस्थाओं की मजबूती का प्रमाण है। लेकिन अगर यह सवाल हजारों साल तक अदम्य रहा है और बराबर बाहरी सामाजिक संकटों को जन्म देता रहा तो इससे यह बात भी साबित होती है कि प्रभुत्व की व्यवस्था की वहशी ताकत अपनी जगह, उस व्यवस्था की व्यापक जन-स्वीकृति में बराबर दरारें भी पड़ती रहती हैं, उत्पीड़ित वर्ग बराबर खड़े होकर उत्पीड़ित होते रहने से इंकार करता है और हमारे समाज के बेहतरीन और सबसे ज्यादा प्रगतिशील तत्त्वों ने इस सवाल को जिंदा रखा है। मेरा अपना विचार

यह है कि जाति-विरोधी सामाजिक समतावादी विचारधारा से लैस भक्ति-सूफ़ी परंपरा ने, जो भारत के लगभग हर क्षेत्र और हर भाषा में व्याप्त रही है, प्रभुत्वशाली समाज व्यवस्था के विश्वासों और उसके लिए गढ़े गये औचित्य के सामने संकट पैदा करने और उसे गहराने में भारी योगदान दिया है। दमन के इतिहास से लैस लेकिन विरोध और प्रतिरोध से भी लैस यह अतीत राष्ट्रीय आंदोलन के अंदर मौजूद प्रमुख सुधारकों के मन को मथता रहा है, जबकि साथ में उनकी यह समझ तो रही ही है कि एक जाति-आधारित समाज से एक सचमुच एकजुट राष्ट्र का उदय संभव नहीं है। लेकिन, उस दौर की राजनीति में जाति-प्रथा को इतना केंद्रीय महत्व न तो प्रतिरोध की परंपराओं की विरासत से मिला और न राष्ट्रीय नेतृत्व के एहसासे-गुनाह से मिला, बल्कि आधुनिक प्रकार के जातिवाद विरोधी आंदोलनों के उदय जैसे वास्तविक तथ्य से मिला। यह आंदोलन 'राष्ट्रीय आंदोलन' से काफी पहले ही पैदा हो चुके थे। महात्मा ज्योतिबा फुले का सत्यशोधक समाज 1873 में, यानी 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से लगभग एक पीढ़ी पहले स्थापित हुआ था। राष्ट्रवादी तो इस सवाल से निगाहें चुरा ही नहीं सकता था।

1919 के बाद जब राष्ट्रीय आंदोलन सही अर्थों में एक जन-आंदोलन बना और धीरे-धीरे उसने अपने आपको अगली दहाई में एक स्पष्ट साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन में ढाल लिया, तो इन दोनों केंद्रीय विचारों को भारी शक्ति मिली-इसे कि राष्ट्रीय आंदोलन में सांस्कृतिक एकजुटता हो और उसमें सभी पंथों का समावेश हो, और इसे कि एक और भी एकजुट और समतावादी भारत के निर्माण के लिए भारतीय समाज के लगभग हर पहलू में सुधार आवश्यक है। इसमें शक नहीं कि राष्ट्रीय आंदोलन के इस बुनियादीतन उदारवादी गठन पर एक दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया भी हुई, खासतौर पर रा. स्व. संघ और हिंदू महासभा जैसे संगठनों की तरफ से, लेकिन पूरे उपनिवेश विरोधी संघर्ष के दौरान यह दक्षिणपंथ भारतीय समाज के हाशिए पर ही पड़ा रहा। इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण तो 1920 की दहाई में मजदूर वर्ग के जुझारूपन में बढ़ोतरी और कम्युनिस्ट आंदोलन का उभार था। जहां रा. स्व. संघ आदि अपनी फ़ासी हमदर्दियों के लिए बदनाम थे और उपनिवेशी शासकों से सक्रिय सहयोग करते रहे, वहीं भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उसने भारतीय समाज के उन बहुत सारे जुझारू हिस्सों को अपनी ओर खींचा, जिनका उदारपंथी राष्ट्रवाद की सीमाओं से मोहभंग हो चुका था। यह आंदोलन एक विश्वव्यापी फ़ासीवाद विरोधी संघर्ष के माहौल में और देश के अंदर बढ़ रहे उपनिवेश विरोधी आंदोलन के माहौल में भी आगे बढ़ा और यह इन दोनों प्रवृत्तियों का अभिन्न अंग बना रहा। इसी से इस बात की भी व्याख्या होती है कि आज़ादी के बाद गणतंत्र की शुरूआती दहाइयों में जहां घोर दक्षिणपंथ बुरी तरह अलग-थलग रहा, वहीं कम्युनिस्ट वामपंथ को उन दिनों बड़े पैमाने पर उदारपंथी बुर्जुआ राष्ट्रवाद का प्रमुख वैचारिक विकल्प समझा जाता था, बावजूद इसके कि भारतीय संविधान के धर्मनिरपेक्ष और लेकतांत्रिक जीवन-मूल्यों में कम्युनिस्ट वामपंथ और नेहरूआई राजसत्ता दोनों ही साझीदार थे।

(एशियाई पत्रकारिता महाविद्यालय में 'हिंदुस्तान की तामीर' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत परचे के कुछ अंशों का अनुवाद)।

अनुवाद-नरेश नदीम

अनेकता में एकता*

टाम डीगन

वसुधैव कुटुंबकम। कुछ दिन पहले ही मैंने इन शब्दों को सुना। इसका अर्थ सैयद इक़बाल ने मुझे बताया, जिनसे मैं यहां कल्चरल सेंटर पर मिला था। इस जानकारी के लिए मैं उनका आभारी हूं। मैं अपने इस छोटे से संबोधन में इसका इस्तेमाल करूंगा। आशा है कि वे इसका बुरा नहीं मानेंगे। जाहिर है कि इसे प्राचीन संस्कृत से लिया गया है और इसका मतलब है, 'पूरा संसार मेरा घर है।' इसके पीछे निहित भावनाएं मेरे लिए अर्थवान हैं। इसीलिए मैंने इसे चुना है।

भारत और भारतीय अवाम के प्रति मेरा गहरा लगाव है, क्योंकि आयरलैंडवासी होने के नाते मैं औपनिवेशिक दासता के बाद की स्थितियों में बड़ा हुआ हूं। भारत की तरह मेरा देश भी ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा था। आज़ादी के साथ जाहिर तौर पर धार्मिक आधारों पर उसका भी विभाजन हुआ। बाद में पूरी दुनिया से जुड़ने के पश्चात मैंने महसूस किया कि आयरलैंड का विभाजन एक त्रासदी थी, अनावश्यक त्रासदी। इसके अलावा मैंने यह भी महसूस किया कि स्वतंत्र आयरिश देश का शेष यूनाइटेड किंगडम से अलग होना भी एक त्रासदी था, क्योंकि हमारी भी वही संस्कृति थी जो अंग्रेजों, स्कॉटों और वेल्शों की थी। पिछली सदियों में यदि आयरलैंड में अधिक प्रबुद्ध शासन होता तो अपने शासन के लिए संघर्ष भी नहीं हुआ होता। मैं लंदन में रहता हूं और वहां मुझे अपनापन महसूस होता है। मेरी वही संस्कृति और हास्य-विनोद की वही प्रवृत्ति है जो कि मेरे अंग्रेज भाइयों की है। एकमात्र अंतर यह है कि अधिकांश अंग्रेज प्रोटेस्टेंट हैं और मैं कैथोलिक। लेकिन आज ग्रेट ब्रिटेन में धार्मिक अंतर का कोई महत्व नहीं है। यूरोपियन यूनियन के बन जाने के बाद आयरलैंड और यूनाइटेड किंगडम एक दूसरे के और अधिक नज़दीक आ रहे हैं। यह यूनियन बहुत-से यूरोपीय देशों के प्रबुद्ध लोगों के प्रयासों का परिणाम है, जिन्होंने महसूस किया है कि हमारी बहुत-सी साझा बातें हैं। यह नया यूरोप बहुत-सी भिन्न धार्मिक, नृजातीय और भाषायी परंपराओं का सम्मिश्रण है, लेकिन वह साझा संस्कृति से गुंथा हुआ है। यूरोपीय अवाम ने यह भी समझ लिया है कि बड़ी इकाई बेहतर होती है और एकता में अधिक ताकत होती है।

आयरलैंड के विभाजन की त्रासदी का कारण विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोगों के बीच ऊपरी अंतरों को माना जाता है। केवल धार्मिक कारणों से भारत के विभाजन को भी आज दोनों तरफ के लाखों लोगों द्वारा त्रासदी माना जाता है।

* यह आलेख मई 2008 में इस्लामिक कल्चरल सेंटर (नई दिल्ली) के सभागार में पढ़ा गया था। टाम डीगन यूरोपियन यूनियन की पार्लियामेंट में आयरलैंड के प्रतिनिधि सदस्य हैं और लंदन में रहते हैं।

संसार के बहुत से बड़े प्रभुतासम्पन्न राष्ट्रों की आबादी जनजातीय-नृजातीय, धार्मिक-भाषायी और सांस्कृतिक बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों से बनी है। भारत, चीन, रूस, यूनाइटेड किंगडम और नाइजीरिया इसके कुछेक स्पष्ट उदाहरण हैं। उनके अलग-अलग हो जाने का हमेशा खतरा रहता है। यदि आबादी के एक हिस्से को सताया जाता है या उसके साथ लगातार भेदभाव किया जाता है तो वह अवश्य अलग हो जायेगा। यातना देना, सताना या भेदभाव अलगाव का मार्ग है। सभी मिश्रित राष्ट्रों में हमेशा ऐसे तत्व मौजूद होते हैं, जो अपने अवाम को यह कहकर अलग करते हैं कि कुछ कारणों से उन्हें राजनीतिक और आर्थिक तौर पर स्वतंत्र होना चाहिए। कभी-कभी कुछेक स्थितियों में अलगाववादी तत्वों की बातों में दम होता है। यदि कोई बहुसंख्यक वर्ग किसी तानाशाही राजनीतिक व्यवस्था के जरिए अल्पसंख्यक अवाम को सता रहा है या उसके प्रति भेदभाव बरत रहा है तो उन्हें संवाद या शांतिपूर्ण आंदोलन के जरिए न्याय पाने का पूरा अधिकार है।

लेकिन जब संवाद से बात न बने और आंदोलन का मुकाबला दमनकारी नृशंस ताकत से किया जाय तो अलगाववादी समूहों का निर्माण और सांप्रदायिक हिंसा का होना तय हो जाता है। इतिहास में ऐसे देशों के उदाहरण भरे पड़े हैं जो अल्पसंख्यकों के पास स्वतंत्रता के अलावा और कोई चारा न होने के कारण छिन्न-भिन्न हो गये, लेकिन जब इस तरह के अलगाववादी आंदोलनों का नेतृत्व अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में चला जाता है तो इन पूर्व अल्पसंख्यकों की दशा और भी अधिक खराब हो जाती है।

अलगाववादी आंदोलनों के साथ दिक्कत यह है कि उनका नेतृत्व अक्सर तथाकथित समुदाय-नेता करते हैं, जिनका मकसद अपने समुदायों का भला नहीं बल्कि अपनी निजी महत्वाकांक्षा होती है। ये लोग सामाजिक अशांति पैदा करने के लिए हर संभव नृजातीय, सांस्कृतिक या धार्मिक शिकायत या घटना का प्रयोग करते हैं। ये पाखंडी लोग खुली झील में तैरने के बजाय कुएं के मेंढक बने रहने में आनंद लेते हैं। वे ऐसे हर देश में मौजूद रहते हैं, जहां नृजातीय या धार्मिक विभाजन की आशंका हो। ये लोग ऊपरी अंतरों का तो बढ़-चढ़कर प्रचार करते हैं, लेकिन साझा मूल्यों और परंपराओं की जान-बूझकर अनदेखी कर देते हैं। उलटे प्रचार में जब उन्हें सफलता मिल जाती है तो वे हिंसा, आतंकवाद और यहां तक, कि गृहयुद्ध भी भड़का देते हैं।

लेकिन इन आदिम विभाजक तत्वों को इसलिए सफलता मिलती है, क्योंकि लोकतांत्रिक समाजों में प्रगतिशील ताकतें अपना काम नहीं करतीं। उलटे प्रचार के विरुद्ध सच्चाई का सहारा लेकर उनका विरोध किया जाना चाहिए। भारतीय कलाकार, लेखक, विशेष रूप में सिनेमा और टीवी फिल्म निर्माता भारतीय मानस, अपने युवाओं के दिलों को गहराई से छू सकते हैं। नाटकों और कहानियों द्वारा उग्रवाद को प्रभावी ढंग से हतोत्साहित किया जा सकता है। उथले धार्मिक या सांप्रदायिक अंतरों पर आधारित अलगाववाद और गुटवाद का मुकाबला एकता के मूल्यों पर बल देकर और जंगली लोगों के इरादों का पर्दाफाश करके किया जा सकता है। नाटकों या रंगकर्म का राष्ट्र निर्माण में जबर्दस्त प्रभाव रहता है, इसलिए उनका अधिकाधिक उपयोग किया जाना चाहिए। प्रतिस्पर्धात्मक बाजार में कुशल कलाकार इस तरह के कार्य कर सकते हैं। शेक्सपियर और डिक्सेंस प्रचारवादी थे। उनके सामाजिक संदेश अक्सर लोकप्रिय स्तर पर बाजार के चौक-चौराहे पर उदात्त

तरीके से दिये जाते थे। भारतीय कलाकार इस दिशा में पीछे नहीं रहने चाहिए।

विश्व निरंतर अंतर्राष्ट्रीयतावाद की ओर जा रहा है। समय और दूरी के सिमट जाने और मानव-निर्मित विपत्तियों के विश्वव्यापी भय के कारण यह आंदोलन चला है। एक विश्व का विचार मजबूती पकड़ रहा है, लेकिन इसके जनजातीय, नृजातीय और राष्ट्रवादी शत्रु मौजूद हैं।

वे लोगों के बीच विभाजन पैदा करते हैं और उन्हें जंगलियों के रूप में देखा जाना चाहिए। इन जंगली लोगों के इरादों का पर्दाफाश करके भावी विश्व-समस्याओं का मुकाबला करने में एकता के मूल्य पर बल देकर, प्रभावशाली सच्चे ढंग से बड़े लोकतांत्रिक देश और संभवतः भावी एक विश्व का हिस्सा होने के लाभों के बारे में जानकारी देकर विभिन्न परंपराओं वाले राष्ट्रों के बीच एकता कायम की जा सकती है।

तमाम जनगण के साथ मैं भी भारत को विविध संस्कृति पर निर्मित संपूर्ण राष्ट्र के चमकीले उदाहरण के रूप में देखता हूँ। ऐसी संस्कृति जो पूरे उप-महाद्वीप और एशिया के बहुत बड़े हिस्से में मौजूद है। भारत लोकतंत्र है। समय-समय पर कुछ सामाजिक और सांप्रदायिक समस्याएं उभर कर सामने आती हैं, लेकिन किसी भी समूह को सताया नहीं जा रहा है और न ही किन्हीं उप समूहों के साथ भेदभाव किया जा रहा है। एक के बाद दूसरी भारतीय सरकारों द्वारा सक्रिय अभियानों के कारण जातिगत भेदभाव खत्म हो रहा है। भारत में उल्लेखनीय आर्थिक विकास हुआ है, जिसके फलस्वरूप करोड़ों लोगों का जीवन-स्तर ऊपर उठा है। मैं व्यक्तिगत रूप में इस तथ्य का साक्षी हूँ। मैं 1960 के दशक में भारत आया था और उस समय मैंने यहां के बहुत से लोगों की शोचनीय दशा को देखा था। मैं उस समय की और अब की स्थितियों में तुलना कर सकता हूँ। यह उत्साहजनक राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रगति उस प्रबुद्ध प्रगतिशील भारतीय मिश्रित संस्कृति की उपलब्धियों की प्रतीक है, जिसे भारत के बुद्धिमान पुरुषों और स्त्रियों ने कार्यान्वित किया है और जो अपने अवाम के सच्चे सेवक सिद्ध हुए हैं।

एक विदेशी के रूप में मैं भारत और उसके अवाम के लिए केवल सम्मान व्यक्त कर सकता हूँ और एक महान राष्ट्र के रूप में उसके एकजुट रहने की कामना कर सकता हूँ।

गंगा-जमुनी तहज़ीब-चंद बातें अली अहमद फातमी

मुशतरका यानी गंगा-जमुनी तहज़ीब हिन्दोस्तानी तारीख़ (इतिहास) और तहज़ीब का ऐसा शानदार, जानदार अहम और नाजुक मौजू (विषय) है, जिस पर बार-बार बात किये जाने की ज़रूरत है। ज़रूरत इसलिये भी है, क्योंकि इन दिनों इसकी शकल-ओ-सूरत को मसख़ (विकृत) करने की कोशिश की जा रही है। कुछ हालात और हादसात भी ऐसे हो रहे हैं या किये जा रहे हैं, जिससे सदियों पुरानी गंगा-जमुनी तहज़ीब को बहुत ज़्यादा नुकसान हो रहा है।

हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार और पत्रकार विद्यानिवास मिश्र जो हिन्दोस्तानी तहज़ीब और तारीख़ पर अच्छी नज़र रखते हैं, अपने एक मज़मून (लेख) में लिखते हैं—“कितनी जातियां यहां घुली-मिलीं कि उनकी अलग पहचान नहीं रह गयी। गंगा की धारा में इतनी नदियां मिलीं, सभी गंगा हो गयीं। हिन्दोस्तानी तहज़ीब की यही खूबी है कि वह पराया नहीं देखती।”

लेकिन यही मिश्रा जी जब नवभारत टाइम्स (हिन्दी) के प्रधान सम्पादक हुए तो उनके सोचने-समझने का अंदाज़ बदल गया। बाद में वह सब कुछ हिंदू तहज़ीब के हवाले से देखते और समझते रहे। और सिर्फ़ विद्यानिवास मिश्रा जी ही क्या, न जाने कितने अदीब और दानिश्वर (बुद्धिजीवी) हैं जो 6 दिसम्बर 1992 के बाद खास तौर पर बदल गये। तरह-तरह के आरोप लगाने लगे। इन तमाम संगीन आरोपों में यह भी है कि माज़ी (इतिहास) में मुसलमान बादशाहों ने हिन्दोस्तान में इस्लाम मज़हब को लादने और इसकी ग़लत और नाजायज़ तबलीग़ (प्रचार) करने की कोशिश की और इस सिलसिले में तरह-तरह के जुल्म किये गये। आरोप और भी हैं।

इतनी बात तो एक मामूली पढ़ा-लिखा हिंदू और मुसलमान भी जानता है कि कुतुबउद्दीन ऐबक से लेकर बहादुर शाह ज़फ़र तक की हुकूमतें मुसलमान बादशाहों की ज़रूर थीं, लेकिन उन्हें इस्लामी हुकूमत करार देना सरासर ग़लत है। इस्लाम में बादशाहत की कोई कल्पना नहीं है। यह बादशाह मुसलामान ज़रूर थे, लेकिन सबसे पहले बादशाह थे। कहीं-कहीं यह ज़रूर हुआ कि उन्होंने अपने अधिकार और प्रभाव के द्वारा इस्लाम की तबलीग़ (प्रचार) करने की कोशिश की, लेकिन वह ज़्यादा कामयाब नहीं हुये। बल्कि इससे माहौल में मन्फ़ी (नकारात्मक) असर हुआ। जो किसी भी तहज़ीबी वहदत (सांस्कारिक एकता) के लिये नुकसानदेह ही साबित होती है; क्योंकि तहज़ीबों का मिलाप आम लोगों की सतह पर लेन-देन, दुख-सुख, रस्म-रिवाज और एक साथ रहन-सहन और आगे बढ़कर वैचारिकता में होता है और यह सब मानव समाज के एक-दूसरे के साथ रहने से पैदा होता है।

दिलचस्प बात है और गंगा-जमुनी तहज़ीब की एक मानीखेज़ (अर्थपूर्ण) मिसाल है कि

हिंदोस्तान में बाज़ाब्ता (विधिवत) इस तहज़ीब का आगाज़ (आरंभ) मुसलमानों की हुकूमत के दौरान हिंदुओं की भक्ति तहरीक (आंदोलन) से होता है। आबिद हुसैन ने अपनी किताब में साफ तौर पर लिखा है—“सब से पहली और सबसे अहम चीज़ जिसने हिंदुओं और मुसलमानों में हम आहंगी (समन्वय) की एक आम फिज़ा (वातावरण) पैदा कर दी, वह भक्ति तहरीक थी। तेरहवीं सदी के शुरू में मुसलमानों की हुकूमत कायम होने के बाद शिमाली हिंद (उत्तरी भारत) में भक्ति के लिए और भी साज़गार माहौल पैदा हो गया।”

मुसलमानों की हुकूमत में भक्ति के लिए फिज़ा साज़गार (अनुकूल) करने में मुस्लिम सूफियों ने मदद की और इस तरह हिन्दोस्तान में मिली-जुली तहज़ीब का खूबसूरत आगाज़ हुआ। सूफियों में अकसर शायर, भक्तों में ज़्यादातर कवि बल्कि जनकवि थे, जिनकी शायरी और कविताओं में इंसानी दोस्ती का अक्स नजर आता है और जिसकी गूँज दूर-दूर तक फैली। कबीरदास ने तो ऐसे-ऐसे अवामी रंग भरे कि तहज़ीब हिन्दू-मुस्लिम से बाहर निकलकर इंसानी और अख़लाक़ी रंगों में रंग गयी। और यहीं से एक नये दौर का आगाज़ होता है कि हिंदू-मुस्लिम कौमों की कुर्वत (निकटता) और मुहब्बत इससे पहले नहीं देखी गयी थी। इस सूफियाना तहज़ीब ने खूब-खूब रंग भरे। पंजाब में गुरु नानाक ने इसे और ज़्यादा विस्तार दिया। बंगाल में भी रोशनी फैली और फैलती चली गयी। धीरे-धीरे एक नये मुशतरका और गुत्तहिदा (एकता) समाज का वजूद कुछ फ़िकरी और कुछ फ़ितरी अंदाज़ से परवान चढ़ने लगा। इस तहज़ीब की जड़ें गहरी होती गयीं। हिंदोस्तान की सरज़मीन के बारे में यूं भी कहा जाता है कि वह स्पंज की तरह है, जो बड़ी आसानी से सब कुछ ज़ब्त कर लेती है। अगर मुस्लिम सूफियों ने इंसानी दोस्ती और मुहब्बत का यह माहौल न बनाये रखा होता तो मुसलमानों की हुकूमत का कयाम इतना आसान न होता। डॉक्टर ताराचंद अपनी किताब (इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर) में एक जगह लिखते हैं—“जब फतहयाबी (विजय) का पहला तूफान थम गया और हिंदू-मुस्लिम एक पड़ोसी की तरह रहने लगे तो बहुत दिनों तक साथ-साथ रहने की वजह से उन्होंने एक-दूसरे के ख़्यालात आदात-व-अतवार (संस्कार), रस्म व रिवाज को समझने की कोशिश की और बहुत जल्द दोनों कौमों में इत्तेहाद पैदा हो गया।”

वास्तव में हिन्दू और मुसलमान कुछ इस तरह से करीब आये। एक-दूसरे से मेल-जोल ऐसा बढ़ा कि रहन-सहन, रस्म व रिवाज़, अक़ीदत व मुहब्बत और हद यह कि पूजा और इबादत में नाम-भर कर फ़र्क रह गया। अगर एक तरफ मुसलमान कुछ मन्दिरों में चढ़ावा चढ़ाने लगे तो हिन्दू मस्जिदों के दरवाज़े पर दुआयें लेने लगे। मंदिर का कलश और मस्जिद का गुंबद एक रंग में रंग गया। मंदिर के कलश में ईरानी कला की झलक नज़र आयी तो दूसरी तरफ मस्जिद के गुंबदों में कमल का फूल नज़र आने लगा। दोनों कौम के लोगों ने कुछ ऐसे तौर-तरीके अपनाये जो पूरी तरह न तो इस्लामी थे और न पूरी तरह हिन्दू थे, बल्कि हिंदोस्तानी थे। इसी वजह से इस्लामी दुनिया में भारत का मुसलमान ‘हिंदोस्तानी मुसलमान’ के नाम से जाना गया और आज भी इसी नाम से जाना जाता है। इनकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि इन्हें काटकर अलग किया ही नहीं जा सकता।

जब भी दो कौमों आपस में मिलती हैं तो उनके मेल-जोल की एक कहानी तो वह होती

है जो हुक्मरानों और सियासी लोगों के ज़रिये लिखी जाने की कोशिश की जाती है, कभी-कभी धर्मगुरुओं के ज़रिये से भी देखी जाती है; लेकिन आदान-प्रदान मेल-जोल की एक कहानी वह होती है जिसे आम आदमी लिखता है वह आम आदमी जिसकी कुदरत भी मददगार होती है। जब हिंदू-मुस्लिम का मेल-जोल बढ़ा तो उनकी इबादतगाहें भी बनीं। मस्जिद और मन्दिर साथ-साथ बने। कारोबार और लेन-देन बढ़ा और फिर धीरे-धीरे इतने करीब आये कि उनका रहन-रहन बिल्कुल हिंदुओं जैसा हो गया। इस तरह के असरात (प्रभाव) कुदरती थे और इसी कुदरत के हवाले से ही मुस्लिम मुल्कों के साथ हिंदोस्तान के ताल्लुक़ात (संबंध) अच्छे हुए और इतने अच्छे हुए कि हिंदोस्तान ने इस्लामी दुनिया पर अपने इल्म और फलसफा (दर्शन) का गहरा असर डाला और कलाकारों, दानिश्वरों, का बाकायदा आदान-प्रदान हुआ। इन सूरातों में जब मुसलमान हिंदोस्तान आये तो उनके ज़ेहन में हिन्दोस्तान का एक साफ-सुथरा और मुक़द्दस तसव्वुर (कल्पना) था। एक ऐसा तसव्वुर जिसमें तहज़ीब, संजीदगी (गंभीरता), रुहानियत, इमरानियत वगैरह का दख़ल था। तो बस हुआ यह कि मुसलमान को हिंदोस्तान में कदम रखते ही यहां के तहज़ीबी सांचे में ढलने में देर न लगी। डॉक्टर ताराचंद ने तो यहां तक कह दिया कि मुसलमान हिंदू तहज़ीब के नक़ल हो गये। मुसलमानों ने हिंदोस्तान में कदम रखते ही सबसे पहले जिस चीज़ का असर लिया वह ज़ात-पात की तक्सीम थी। हिंदू पुराने ज़माने से ब्राह्मण, राजपूत, द्राविड़, खत्री, सुनार वगैरह की शक़ल में तक्सीम था। समाजी मेल-जोल और उसके गहरे असरात ने मुसलमानों को भी तेज़ी से सैयद, पठान, बुनकर, अंसारी, कुरैशी, दर्जी, हज्जाम वगैरह के ख़ानों में तक्सीम कर दिया और फिर यह सिलसिला फैलता ही चला गया, इस हद तक कि शादी-ब्याह, और दीगर रस्म-व-रिवाज़ का ताल्लुक़ (संबंध) भी ज़ात-पात में सिमट कर रह गया। मुसलमान औरतें हिंदू औरतों की तरह रस्म-रिवाज़ और तौर-तरीक़े अपनाने लगीं और उनकी तहज़ीब में ढल गयीं। उनकी पोशाक, श्रृंगार, ज़ेवर वगैरह की बनावट से लेकर पहनावे तक का असर कुबूल किया। मेंहदी, बरात, कंगन वगैरह की रस्में मुसलमानों में पहले इस शक़ल में न थीं, यह सब उन्होंने यहीं अख़्तियार (धारण) किया और इस हद तक कि सिर्फ़ निकाह का फ़र्क रह गया। छोटी उम्र की लड़की की शादी, बेवा की शादी, पर्दा और औरत के हुकूक़ (अधिकार) वगैरह की बातें सब कुछ वैसी ही होकर रह गयीं, जैसा कि हिन्दुओं में हुआ करता है। तीज-त्यौहारों का तो यह आलम हुआ कि इनकी आत्मा तो अलग रही, लेकिन इनके जिस्म की आराइश और ज़ेबाइश (सजावट) एक-सी हो गयी। दीवाली, शबेबरात करीब आये, रमज़ान और नवरात्रि में कुर्बत हुई, मुहर्रम और दशहरा बिल्कुल एक-जैसे होकर रह गये। अकबर इलाहाबादी ने यूं ही नहीं कहा था—

मुहर्रम और दशहरा साथ हो गया,

निबाह उनका खुदा के हाथ हो गया।

जिन लोगों ने दशहरे की चौकियों और मुहर्रम के ताज़ियों को करीब से देखा है, वह इनकी मुमासिलता (समता) पर हैरत करेंगे और खुशी भी कि यह वह दो त्यौहार हैं, जिनमें अक़ीदत (श्रद्धा) के हवाले से लोगों के एक साथ होने की मासूम तसवीर झलकती नज़र आती है। इसलिए कि हजारों-लाखों हिंदू ताज़िये के नीचे से निकलने की अक़ीदत (श्रद्धा) आज भी रखते हैं, इसी तरह बलदेव जी का मेला या देहात के कुछ मेले ऐसे भी हैं, जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों

हिस्सा लेते हैं। जन्म अष्टमी में कहीं-कहीं भगवान कृष्ण का रोल मुसलमान बच्चा ही करता है। मुसलमानों ने जिंदगी क्या, मौत के बाद ही बहुत-सी रस्में हिंदुओं से लीं। इस्लाम में तीजा, दसवां, चालीसवां वगैरह का कोई तसव्वुर नहीं है। यह सब हिंदुस्तान की देन है। इसके अलावा बच्चे की पैदाइश, खीर चटाई, मुंडन, सालगिरह और दूसरी रस्में सब यहीं से लीं और आज सब मिल-जुलकर और पूरे लुत्फ के साथ इन रस्मों की अदायगी करते हैं।

मुसलमान जब मध्य एशिया से चले थे तो अरबी अमामा, जुब्बह, रिदा, कुलाह, मोजा वगैरह पहनते थे। लेकिन हिंदोस्तान में क़दम रखते ही यह सब ग़ायब हो गये और उनकी जगह कुर्ता, अंगरखा, अचकन, शेरवानी, पगड़ी, दोपट्टा, पायजामा वगैरह ने ले ली। धीरे-धीरे यह सब पोशाकें आपस में इस क़दर मिल गई कि कम से कम पोशाक के ज़रीये हिंदू-मुसलमान की पहचान ख़त्म हो गयी। यूपी के ज़्यादातर हिस्से में हिंदू-मुस्लिम दोनों ही चूड़ीदार पायजामा, शेरवानी और दो पल्ली टोपी पहनने लगे। पंजाब के मुसलमान हिन्दू सभी कमीस, शलवार पहनने लगे। देहात के हिन्दू-मुसलमान का फर्क तो और भी मिट गया। दकन (दक्षिण भारत) चले जाइये तो हिंदू-मुसलमान सभी लुंगी पहने हुये मिल जाएंगे।

जो मुसलमान अरब से आये, उनकी मादरी (मातृभाषा) ज़बान अरबी थी। महज़ एशिया के मुसलमानों की ज़बान तुर्की थी और मुग़ल हुकूमत की सरकारी ज़बान फारसी थी। आज तीनों ज़बानों की हिंदोस्तान में क्या हैसियत है, इन तीनों ज़बानों में से एक ज़बान भी हिंदोस्तानी मुसलमान नहीं बोलता बल्कि इसके बरअक्स मुसलमानों ने सूबाई और इलाक़ाई (प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय) ज़बानों को अपनी ज़बान बना लिया। पंजाबी मुसलमान पंजाबी बोलता है, बंगाली मुसलमान बंगाली, गुजराती मुसलमान गुजराती-तामिलनाडु का मुसलमान तो अस्सलामु अलैकुम की जगह सलामडू कहता है। इसी आपसी मेल-जोल और अपनाइयत का यह खूबसूरत नतीजा निकला कि अगर एक तरफ मुसलमानों ने बाबू लाल, शेख मोहम्मद लाल जैसे नाम मिलते हैं या वो चौहान और मलिक हो गये तो दूसरी तरफ हिन्दुओं ने भी रुस्तम सिंह, बख़्तावर सिंह, रोशन लाल जैसे नाम रखने शुरू कर दिये।

अब मैं कुछ बातें ज़बान और अदब (साहित्य) के बारे में अर्ज़ करना चाहूंगा। उर्दू और हिंदी दोनों का जन्म, लालन पालन, तरबियत मुसलमानों की आमद और उनकी बूद-व-बाश (रहना-रहना) और उनकी अख़लाकी और मआशी हालात पर आधारित है। लेकिन दोनों ज़बानों के अदब की तख़लीक़ व तश्कील (रचना) और फ़रोग़ (उत्थान) मुग़ल हुकूमत के ज़वाल (पतन) के बाद होता है। दुनिया में शायद ही एक ज़बान दूसरी ज़बान से इतनी करीब हो जितनी कि उर्दू हिंदी से या हिंदी उर्दू से करीब है। दोनों एक ही ख़ानदान से ताल्लुक रखती हैं, दोनों आर्याई ज़बानें हैं, दोनों की क़वायद (व्याकरण) एक है। नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस की लुग़त (शब्दकोश) में छः हजार अरबी-फ़ारसी के अल्फ़ाज़ हैं। लुगात आसिफ़िया में पचहत्तर फीसद उर्दू के वह अल्फ़ाज़ हैं, जिनकी जड़ें संस्कृत में मिलती हैं। हिंदी उर्दू की पैदाइश एक जगह हुई और दोनों एक ही मां की बेटियां हैं। हिंदी की कोई कहानी, कविता उर्दू अल्फ़ाज़ (शब्द) के बगैर पूरी नहीं हो सकती। लगभग यही सूरत उर्दू की अरबी तख़लीक़ात (रचना) की है। उर्दू में हज़ारों अल्फ़ाज़ ऐसे हैं, जिनका ताल्लुक संस्कृत या इलाक़ाई (क्षेत्रीय) ज़बानों से है, जिनका प्रयोग आज

भी उर्दू अदब में हो रहा है।

उर्दू को मुसलमानों की ज़बान कहा जाता है, हालांकि यह बात कतई तौर पर सच नहीं है। हिंदोस्तान के सारे मुसलमानों की ज़बान उर्दू नहीं है। बंगाल का मुसलमान बंगाली, गुजरात का गुजराती, पंजाब का पंजाबी बोलता है। उर्दू इसी सरज़मी की पैदावार है। गंगा और जमुना के पानी ने इसे सैराव किया। हिंदोस्तान की ताज़ी हवाओं ने इसे जवान किया। यह सही है कि मुस्लिम सूफियों ने खासतौर पर सूफ़ी शायरों ने इसकी तरबियत की, लेकिन सैकड़ों हिंदी अदीबों और शायरों ने भी उर्दू को संवारने में हिस्सा लिया। अगर एक तरफ इस्लामी कल्चर और मज़हब पर उर्दू में किताबें लिखी गईं तो हिंदू धर्म और संस्कृत पर भी उर्दू में बहुत किताबें मिलेंगी। उपनिषद, भगवद्गीता, भगवतपुराण, कालीदास के नाटक, बेताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, पद्मावत, लीलावती, वेद, ज्योतिष वगैरह, गरज़ कि कोई ऐसा मौजू नहीं है जिसमें उर्दू में किताबें न मिलती हों। उर्दू ज़बान सिर्फ सूफियों की तबलीग नहीं बल्कि इसमें साधुओं, दरवेशों का ईश्वर-प्रेम भी है। सिर्फ हम्द (अल्लाह की तारीफ में लिखी गयी कविता) और नात (हज़रत मोहम्मद सल्ल की तारीफ में लिखी गयी कविता) नहीं, बल्कि भजन और लोक गीत भी हैं। सिर्फ अज़ानें नहीं बल्कि मंदिरों का कलश और घंटियां भी हैं। देशभक्ति के दिल हिला देने वाले गीत भी हैं। हिंदू त्यौहारों, रस्म-व-रिवाज़ पर जितनी नज़्म उर्दू में मिलेंगी, उतनी तो मुस्लिम त्यौहारों पर नहीं मिलती। नज़ीर अकबराबादी जैसे अवामी शायर ने सिर्फ होली पर ग्यारह नज़्में कही हैं। अल्लामा इकबाल ने इमाम हिन्द के उन्वान (शीर्षक) से भगवान राम पर बहुत बेहतरीन नज़्म कही। मौलाना हसरत मोहनी भगवान कृष्ण से गैरमामूली (असाधारण) अक़ीदत (श्रद्धा) रखते थे। उर्दू में ऐसी नज़्मों का अंबार है, जिसमें पूरा हिंदोस्तान तमाम क़ौमों, गंगा-जमुनी तहज़ीब और मिट्टी की खुशबू रची-बसी नज़र आयेगी। उर्दू का दामन क़ौमी और सेकुलर किरदार से मालामाल है। लेकिन इसके बरअक्स हिंदी साहित्य में हज़रत मोहम्मद सल्ल हज़रत अली या हज़रत इमाम हुसैन था दूसरे मज़हबी या समाजी लीडर पर कोई बड़ी नज़्म या कहानी नज़र क्यों नहीं आती? हिंदू फलसफा (दर्शन) पर जितनी किताबें उर्दू में मिलती हैं, क्या हिंदी ज़बान में भी इस्लामी कल्चर और हद यह कि उर्दू कल्चर के बारे में इतना साहित्य मिलेगा? यह एक तलख़ सवाल है। इसे आप सिर्फ़ इत्तेफाक़ कह कर टाल नहीं सकते। यह एक ऐसी हक़ीक़त है जो उर्दू-हिंदी दोनों के किरदार, तहज़ीब और फ़िक्र को साफ तौर पर दिखाती है। उर्दू का मिज़ाज (प्रकृति) एक मख़सूस गंगा-जमुनी तहज़ीब, मेल-जोल मोहब्बत और खुलूस का रहा है। इन सब तलख़ सूरतों के बावजूद उर्दू वालों की चार-छः नस्लों ने हिंदी को बतौर क़ौमी ज़बान पढ़ा और सीने से लगाया। लेकिन आज हिंदी दोस्त किस क़दर उर्दू ज़बान और तहज़ीब से वाकिफ़ हैं। एक ऐसी तहज़ीब जो ख़ालिस सेकुलर और क़ौमी (राष्ट्रीय) जज़्बे से सरशार है और जो हिंदोस्तानी कल्चर से मालामाल है, उस पर तरह-तरह के इल्ज़ाम लगाये जा रहे हैं और अब तो एक मख़सूस हल्के के ज़रीये (द्वारा) ये इल्ज़ाम आम किये जा रहे हैं कि मुसलमान बादशाहों ने इस ज़बान की सरपरस्ती की और हिंदोस्तानी तहज़ीब को बिल्कुल इस्लामी तहज़ीब में, यानी पूरे हिंदोस्तान का इस्लामीकरण कर देना चाहा, जबकि यह बात न सिर्फ़ सरासर गलत है बल्कि सच्चाई इसके बिल्कुल बरअक्स (विपरीत) है। हिन्दोस्तान इस्लामी तहज़ीब में नहीं रंगा बल्कि इस्लाम और मुसलमान दोनों हिन्दोस्तानी तहज़ीब

में रंगे, रचे, बसे; दोनों का भारतीयकरण हुआ और यह अमल किसी सियासत और मसलेहत (नीति) के तहत नहीं बल्कि मेल-मिलाप; आदान-प्रदान के एक फितरी अमल और बहाव के साथ हुआ। तहजीबों का गैरशऊरी (अचेतन) संगम अमल में आया। उसे तो ऐसा होना ही था और वह होकर रहा। यह मेल-जोल, मोहब्बत और मिला-जुला कल्चर ही हमारा अस्ल सरमाया है कि जिस पर हम जितना फ़ख़ करें, कम है। लेकिन तहजीब और कौम को खानो (विभागों) में तक़सीम (विभाजित) करके इस अज़ीम सरमाया (महान् सम्पत्ति) को बांटने वाली सोच नैरो नेशनलिज़्म का शिकार हो जाया करती हैं और उन्हें सिर्फ़ अपनी ज़ात, अपनी क़ौम और अपने कारनामों के अलावा कुछ दिखाई नहीं देता। इस अंधेपन में वह भूल जाया करते हैं कि कल्चर का दायरा या उफ़ुक़ (क्षितिज) इन सबसे बुलंद होता है। अली सरदार जाफ़री ने अपनी एक तक़रीर में कहा था—

“हम दरअस्ल (वास्तव में) नैरो नेशनलिज़्म के शिकार हो गये हैं। कल्चर का हॉरिज़न, नैरो नेशनलिज़्म से बड़ा हुआ करता है। नैरो नेशनलिज़्म हमेशा कल्चर के परों को कुतरना चाहता है और खानों में बांटकर देखता है और यही इन दिनों हो रहा है, जिसकी सख़्त मज़मूमत (निन्दा) की जानी चाहिए।”

अनुवाद—अब्दुल मोहयी

मेरा एक ख़्वाब है*

यावर अब्बास

मैं अपने लेख की शुरुआत अलामा इक़बाल के क़ौमी तराने की ज़मीन पर लिखी एक नज़्म से करना चाहता हूँ :

सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा
हम बुलबुलें हैं इसकी ये गुलसितां हमारा
ऐ आबरु-ए दे गंगा वो दिन है याद मुझको
उतरा तेरे किनारे जब कारवां हमारा
ये कारवां नहीं था जो चंद रोज़ ठहरे
हम आके बस गये थे ये था मकां हमारा
सदियों में हमने इसको किस प्यार से सजाया
रश्के-जिनां बना था ये गुलसितां हमारा
फिर एक दिन हम ही ने तोड़े तमाम रिश्ते
गुमराह हो गया फिर ये कारवां हमारा
बिठा दिया था हमको उल्टा पता कर
मंज़िल न अपनी कोई न सायबां हमारा
भटका हुआ मुसाफ़िर लेकिन भटक-भटक कर
खुद ढूंढ लेगा इक दिन रोशन निशां हमारा
उस रोज़ फिर कहेंगे और मिलके सब कहेंगे
सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा

मैं एक बात शुरू में ही कह दूँ। मैं पाकिस्तान से प्यार करता हूँ, क्योंकि वहां एक ज़मीन है, जहां पर अवाम हैं। क्यों न करूं? वे मेरे खून, मेरी संस्कृति, मेरी विरासत का हिस्सा हैं। वे मुझसे और आप से किस मामले में जुदा हैं? क्या वे वही ज़बान नहीं बोलते, वही गाने नहीं गाते और उसी हवा में सांस नहीं लेते? हमारे बीच में कोई पहाड़ या समंदर नहीं जो हमें एक दूसरे से जुदा करता हो। बस एक अजीब-सा दो राष्ट्र का सिद्धांत है, जिसके हिसाब से हिंदू और मुस्लिम

* यह आलेख मई 2008 में इस्लामिक कल्चरल सेंटर (नई दिल्ली) के सभागार में पढ़ा गया था। यावर अब्बास बी.बी.सी. की उर्दू सर्विस में संवाददाता हैं और लंदन में रहते हैं।

दो अलग राष्ट्र हैं। साम्राज्यवादियों ने सोवियत संघ के कल्पित ख़तरे का मुक़ाबला करने के वास्ते इस उपमहाद्वीप में अपना फौजी अड्डा बनाने के मक़सद से इस दो राष्ट्र के सांप्रदायिक सिद्धांत का इस्तेमाल किया। ध्यान रहे कि दूसरे विश्वयुद्ध के खत्म होने के तुरंत बाद पहले के दोस्त (एक ओर सोवियत संघ और दूसरी ओर ब्रिटेन और अमरीका) नये सिरे से चले शीतयुद्ध में एक दूसरे के कट्टर दुश्मन बन गये। पुराना खेल पहले की तरह शुरू हो गया। 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ इंडिया' कैसे बनने दिया जाता, क्योंकि (क) वह इतना ताकतवर राष्ट्र बन जाता जिसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता और (ख) वह सोवियत संघ का साथ देता। इसलिए देश के बंटवारे का फैसला किया गया, इतनी हड़बड़ी में बंटवारा कर दिया गया ताकि ज़्यादा से ज़्यादा गड़बड़ी हो और बंटवारे से बने दोनों देश आपस में लड़ते रहें और साम्राज्यवादियों से हथियार खरीदते रहें। यह भी ध्यान रहे कि युद्ध के बाद ब्रिटेन माली तौर पर दिवालिया हो गया था। उसकी अर्थव्यवस्था पूरी तरह से चरमरा गयी थी। केवल हथियार उद्योग ही अर्थव्यवस्था को बचा सकता था। इसलिए दो राष्ट्रों का सिद्धांत जबर्दस्त धोखा था और जिसके अभी बताये गये मक़सद थे। भारत के अवाम की इच्छा-अभिलाषा से उसे कुछ लेना-देना नहीं था। भारत के 5% से भी कम जिन लोगों से इस बारे में राय मांगी गयी, उनसे भी इशारे वाले सवाल पूछे गये, जैसे कि 'क्या आप अपनी पत्नी को पीटना बंद कर देंगे?' अवाम से पूछे बगैर ही देश के बंटवारे का फैसला हो चुका था। उन्हें तो इसकी केवल क़ीमत चुकानी पड़ी, जिसमें लाखों बेगुनाह लोग मारे गये। बहुत-से लोग बेघरबार हो गये और अपनी ही ज़मीन पर शरणार्थी बन गये। बंटवारे से किसी भी समस्या का हल नहीं निकला। उससे बहुत-सी समस्याएं पैदा हुईं, जिन्हें दूर करने के लिए न जाने कितनी और पीढ़ियों की ज़रूरत पड़ेगी। जो इस मिथक से अभी भी चिके हुए हैं, उनसे मैं केवल यहीं कहूंगा।

यदि बंगलादेश के निर्माण ने दो राष्ट्रों के सिद्धांत की धज्जियां नहीं उड़ा दी हैं तो भी वास्तविकताएं इस सिद्धांत को झूठा साबित कर देती हैं। भारत में पाकिस्तान से ज़्यादा बड़ी मुस्लिम आबादी है। यदि वे अलग राष्ट्र हैं तो वे भारत में क्या कर रहे हैं? क्या उन्हें पाकिस्तान नहीं चला जाना चाहिए? बीच में न कोई समंदर और न पहाड़। बस एक काल्पनिक लाइन है जो मनमाने ढंग से नक्शे पर खींच दी गयी है। किसी नक्शे पर इस तरह खींची गयी लाइन इतनी ही आसानी से मिटायी भी जा सकती है।

पूर्व यूगोस्लाविया में बिलकुल यही किया जा रहा था। वे भी लाइन खींच रहे थे और मिटा रहे थे। इस सिलसिले में लाखों बेगुनाह लोग मारे जा रहे थे। अपने घरों से खदेड़े जा रहे थे। भारतीय होने के नाते मैं उन्हें बता सकता था कि इससे कुछ नहीं बनेगा। मैं उन्हें बता सकता था—आप कितनी ही नृजातीय सफाई करें (यह कितनी भयानक बात है, नरसंहार के लिए कितना गुणगान है, जबर्दस्ती बेदखली को छिपाया जाना है), आप कितने ही लोगों को खदेड़ दें, कितनी ही मस्जिदों को नष्ट कर दें, कितने ही गिरजाघरों को उड़ा दें, कितने ही मंदिरों को नेस्तानाबूद कर दें, आप मनुष्यों को, स्वयं से भिन्न मनुष्यों का साहचर्य लेने से नहीं रोक सकते। नृजातीय तरीके से साफ किया गया समाज नैतिक तौर पर गंदा समाज होता है। यह समाज बौद्धिक रूप से दिवालिया होता है और सामाजिक तौर पर एकरस और उबाऊ। इस तरह के समाज का नष्ट

होना तय होता है।

क्रॉस-फर्टिलाइजेशन समाज को ताकत देता है। भारत को क्रॉस-फर्टिलाइजेशन से ही ताकत मिली है। भारत की दो गौरवपूर्ण उपलब्धियां—शास्त्रीय संगीत और उर्दू-क्रॉस-फर्टिलाइजेशन का ही नतीजा है। उत्तरी भारत के शास्त्रीय संगीत को अपनी अद्वितीयता कहां से मिली है? यह बैजू बावरा की मियां तानसेन को हराने की ललक से आयी है, यह पंडित ओंकारनाथ ठाकुर और उस्ताद अब्दुल करीम खान के मिलने से आयी है, पंडित रविशंकर द्वारा उस्ताद अलाउद्दीन के कदमों में बैठकर सितार सीखने से आयी है, उस्ताद अल्लारकखा की थाप पर बिरजू महाराज के नाचने से आयी है, पंडित हरिप्रसाद चौरसिया और उस्ताद जाकिर हुसैन की जुगलबंदी से आयी है, बनारस के विश्वनाथ मंदिर के बाहर उस्ताद बिस्मिल्लाह खान के शहनाई-वादन से आयी है।

यही क्रॉस-फर्टिलाइजेशन उर्दू ज़बान यानी कि पंडित रतननाथ सरशार और मौलाना अब्दुल हलीम शरर की ज़बान, मीर बाबर अली अनीस और पंडित दयाशंकर कौल नसीम की ज़बान, मिर्जा असदुल्लाह खां ग़ालिब और मुंशी हरगोपाल गुप्ता की ज़बान, मुंशी प्रेमचंद और कुर्तुलेन हैदर की ज़बान, सआदत हसन मंटो और रजिंदर सिंह बेदी की ज़बान, इस्मत चुगताई और कृष्णचंद्र की ज़बान, अल्लामा इक़बाल और पंडित ब्रिज नारायण चकबस्त की ज़बान, रघुपति सहाय फिराक और शब्बीर हसन जोश मलीहाबादी की ज़बान, फ़ैज अहमद फ़ैज और पंडित आनंदनारायण मुल्ला की ज़बान, मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद और पंडित जवाहरलाल नेहरू की ज़बान, कृष्ण बलदेव वैद और मुशीरुल हसन की ज़बान, अहमद फ़राज़ और पंडित गुलज़ार जुत्शी की ज़बान, चमनलाल चमन और आपके अपने यावर अब्बास की ज़बान में समृद्धि का स्रोत है।

भारत में हमने एक अद्वितीय संस्कृति विकसित की है, जो आंशिक रूप में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच निकट संपर्क का नतीजा है। मेरा जन्म बुंदेलखंड के चरखारी रजवाड़े में हुआ था। यह इलाका आल्हा-ऊदल की गाथा के लिए मशहूर है। यह हिंदू राज्य है, जहां मेरे दादा दीवान या प्रधानमंत्री थे। मेरी मरहूम पत्नी हमीदा का पुश्तैनी घर वही है, जो हमारे तत्कालीन लंदन हाई कमिश्नर, मरहूम डॉ. एल. एम. सिंघवी का है। (ताज्जुब है कि दोनों का इंतकाल एक ही रोज शनिवार, 6 अक्टूबर 2007 को हुआ) मेरी पत्नी राजस्थान से हैं, जिनके वालिद प्रमुख हिंदू राज्य उदयपुर में चीफ जस्टिस थे। मेरा रामायण और महाभारत की कहानियों के बीच लालन-पालन हुआ। सालाना रामलीला मेरी बचपन की यादगारों में सबसे अधिक नुमायां हैं। इसी तरह से मोहर्रम के मुस्लिम महीने में शोक के दस दिनों में हमारे हिंदू महाराजा अपना खुद का खूबसूरत ताजिया बनवाते थे और ताजियों के जुलूस में नंगे पैर हमारे साथ चलते थे।

यह स्वस्थ आदान-प्रदान पूरे भारत में उस समय हज़ार गुना बढ़ जाता है, जब मुसलमान और हिंदू, सिख और ईसाई एक साथ मिलकर होली, बैसाखी, ईद और क्रिसमस त्योहारों में हिस्सा लेते हैं।

बंटवारे से पहले और उसके बाद की घटनाओं से इस स्वाभाविक संसर्ग को गहरी चोट पहुंची, लेकिन इससे यह सचाई मिट नहीं जाती कि हम एक ही अवाम हैं। 1947 के खौफ़नाक पागलपन से हज़ारों साल की विरासत खत्म नहीं हो जाती। बंटवारे को मंजूर करके हमने बहुत बड़ी ग़लती की थी। लेकिन इस बंटवारे को दिल से मंजूर करके और झूठे सिद्धांत पर इस तरह

प्रतिक्रिया करके हम और भी बड़ी ग़लती करेंगे। बच्चों को अपने पिताओं के पापों पर फिर विचार करना चाहिए।

हमारे देश में जो लोग केवल इसलिए कुछ बेगुनाह भाइयों को निशाना बना रहे हैं कि उन्होंने किसी खास धर्म को अपनाया है, वे देश का बहुत अहित कर रहे हैं। वे हम सब बच्चों की भारतमाता की सौम्य और सुंदर छवि को बिगाड़ रहे हैं। प्रत्येक स्वतंत्रता दिवस हमें 15 अगस्त 1947 के उन भाग्यशाली क्षणों की याद दिलाता है। हमें स्वतंत्रता संघर्ष के आदर्शों के प्रति समर्पित होना होगा और वह सब कुछ करना होगा, जिससे कि आज के हिटलर और मुसोलनी के घटिया प्रतिरूप अपने पैर न जमा सकें।

भारत के भव्य और धर्मनिरपेक्ष संविधान ने जाति, वंश, लिंग और रंग का भेदभाव किये बगैर अपने सभी नागरिकों को बराबरी के साथ देश का निर्माण करने की प्रेरणा दी है। हमें केवल यह करना चाहिए और उस दिन की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब सारी रुकावटें दूर हो जायेंगी। ऐसा ज़रूर होगा, क्योंकि मार्टिन लूथर किंग की तरह मेरा भी एक सपना है।

मेरा सपना है कि मेरे मुल्क के लोग बगैर किसी रुकावट के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा कर सकेंगे। मेरा सपना है कि डर और संदेह की ईंटों और मसाले से हमारे दिलों में बनी बर्लिन की दीवार, प्यार और आपसी विश्वास के श्रम से धीरे-धीरे टूट जायेगी।

मेरा एक सपना है।

मेरा सपना है कि मेरे लोगों की पीठ से ग़रीबी का बोझ हट जायेगा।

मेरा सपना है कि जातिवाद का अभिशाप और भ्रष्टाचार का कैंसर हमारे राजनीतिक तंत्र से हट जायेगा।

मेरा सपना है कि मेरे देश में प्रत्येक बच्चे को अपने बचपन का आनंद लेने के लिए समय और स्थान मिलेगा।

मेरा सपना है कि हमारी प्रचीन ज़मीन पर बंटे और अजनबी बने लोग फिर इकट्ठे होंगे और अपनी जबर्दस्त प्रतिभा का प्रयोग सभी की और अधिक समृद्धि और ख्याति के लिए करेंगे।

मेरा सपना है कि प्रेम की नफ़रत पर विजय होगी और गांधी का जीवन व्यर्थ नहीं जायेगा।

मेरा एक सपना है।

सुर और लय

महेश्वर दयाल

सुर और लय अर्थात् संगीत की तुलना जादू से की जाती है। इसे आत्मा का भोजन भी कहा जाता है। संगीत से अधिक प्रभावकारी कला शायद कोई और नहीं है। यह वह कला है, जिसका प्रभाव मनुष्यों पर ही नहीं बल्कि समस्त प्राणि जगत पर होता है। हिंदुस्तानी संगीत का प्रारंभ वैदिक काल से होता है। एक विश्वास यह है कि इसकी सृष्टि स्वयं ब्रह्मा ने सामवेद से की और नारद मुनि ने महादेवजी के सामने खुद गाया। हिंदुओं में संगीत को मुक्ति का मार्ग माना गया है। कहा जाता है कि संगीत एक दिव्य वस्तु थी, जिसे पृथ्वी पर लाने का श्रेय भरत और नारद मुनि को प्राप्त था। धार्मिक ग्रंथों के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण ने कहा था, 'ए नारद, न तो मैं बैकुंठ में रहता हूँ, न योगियों के हृदय में। लेकिन मेरे भक्त जहाँ गाना गा कर मुझे याद करते हैं, वहीं मैं मौजूद रहता हूँ।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि संगीत शुरू से ही भक्ति और आराधना का साधन रहा है। कन्यक्यूसस का भी कथन है, 'ए संगीत तू उस परमपिता परमेश्वर की भाषा है।' भर्तृहरि कहते हैं, 'साहित्य, संगीत कला विहीना साक्षात् पशु पुंछ विषाण हीना।'

हिंदुस्तानी संगीत पर पहला ग्रंथ भरत मुनि का ही था, जिसका नाम 'नाट्यशास्त्र' था। यह ग्रंथ किस युग में लिखा गया, इसके बारे में भिन्न-भिन्न मत हैं। विभिन्न इतिहासकारों ने इसे ईसा मसीह के जन्म से सौ वर्ष पहले से चौथी सदी ईसवी तक के युग में रचित ग्रंथ बताया है। मगर अब काफी छानबीन के बाद यह विचार ठीक माना जाता है कि यह ग्रंथ तीन हजार वर्ष पहले लिखा गया। इस ग्रंथ में भरत ने उन सभी वाद्यों का वर्णन किया है जो उस काल में प्रयुक्त थे अर्थात् वीणा, मृदंगम् और खड़ताल आदि। भरत मुनि के युग में भी संगीत को चालीस वाद्यों में बृंदवाद्य के रूप में प्रस्तुत करने की प्रथा थी। इसे 'कुतूपा' कहते थे और 'नाट्यशास्त्र' में सविस्तार वर्णन किया गया था कि नाटक में कौन-सा वाद्य किस स्थान पर और दूसरे वाद्यों से कितनी दूर रखा जाये। उन दिनों संगीत के तीन तत्त्व थे—गायन, वादन और नृत्य। इन तीनों तत्त्वों से मिलकर संगीत पूर्ण होता था। किंतु इनमें गायन श्रेष्ठ माना गया है। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में संगीत के तीनों तत्त्वों का वर्णन था। गीत को श्रेष्ठ मानने के बारे में यह कहा जाता है कि गीत में सुर, लय, कविता के अतिरिक्त एक भाव है, जिसे संदेश की गरिमा प्राप्त है।

इसके बाद संगीत विद्या पर 500 वर्ष के बाद एक पुस्तक लिखी गयी, जिसका नाम 'बृहदोपनिषद्' था। ऐसा जान पड़ता था कि पुस्तकें तो लिखी गयी होंगी, परंतु कोई सुरक्षित नहीं रही। केवल दतिल्ला की पुस्तक 'दत्यलम' उपलब्ध रही। मगर कई सदियों बाद उसका भी नाम-निशान नहीं रहा। कालिदास ने अलबत्ता अपनी कुछ रचनाओं में जैसे 'शाकुंतलम्' और

‘मालविकाग्निमित्रम्’ में अपने युग के संगीत का अर्थात् पांचवीं सदी में बहुत सुंदर चित्रण किया है। वात्स्यायन के ‘कामसूत्र’ में भी उसके काल में संगीत, नृत्य, कविता और नाटक की जो प्रतिष्ठा थी उसकी बड़ी प्रभावकारी झलकी मिलती है।

पांचवीं सदी से ग्यारहीं-बारहवीं सदी तक भारतवर्ष में संगीत फलता-फूलता रहा और उसमें नयी-नयी चीजें जोड़ी गयीं। कहा जाता है कि सातवीं सदी में सितार का आविष्कार भी हुआ। मतंग ऋषि का संगीत पर प्रसिद्ध ग्रंथ ‘वृहद्देशी’ भी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, सातवीं सदी में ही लिखा गया। छह बड़े राग गाये जाने लगे और उनके साथ जुड़े हुए और कई रागों का प्रचलन हुआ। उस काल के बाद संगीत विद्या पर एक बहुत प्रामाणिक और महत्वपूर्ण ग्रंथ ‘संगीत रत्नाकर’ है, जिसकी रचना शारंगदेव ने की थी। यह ग्रंथ 1230 ई. में लिखा गया था। शारंगदेव कश्मीर निवासी थे और संगीत विद्या के बहुत बड़े पंडित। उन्हें यह योग्यता अपने पूर्वजों से विरासत में मिली थी। उनके पिता कश्मीर छोड़कर देवगिरि में जाकर बस गये थे, जिसे अब औरंगाबाद कहते हैं। उन्हें अपने अध्ययन के लिए दक्षिण भारत का यह प्रदेश शांतिपूर्ण और अनुकूल लगा। शारंगदेव यद्यपि व्यवसाय से उच्च स्तर के लेखा अधिकारी थे, लेकिन संस्कृत और संगीत में उनकी विद्वता अनुपम थी। ‘संगीत रत्नाकर’ में उन्होंने वैदिक काल से अपने समय तक के संगीतशास्त्र का सार और उसके सभी महत्वपूर्ण पक्षों को प्रस्तुत किया है। यह केवल एक विद्वतापूर्ण कृति ही नहीं है वरन् इसमें संगीत विद्या के चार मूलभूत पक्षों पर बड़ी विस्तृत जानकारी मिलती है। दूसरे शब्दों में यह राग, ताल, जाति, शैली और वाद्य पर बहुत सुंदर टीका है। सच तो यह है कि अगर हमारे सामने ‘संगीत रत्नाकर’ न होती तो ‘नाट्यशास्त्र’ को समझना कठिन हो जाता। प्रकारांतर से ‘संगीत रत्नाकर’ ‘नाट्यशास्त्र’ की कुंजी और उस पर एक श्रेष्ठ समीक्षा है। इसमें उन सभी वाद्यों का भी बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है, जो उस समय प्रयुक्त होते थे। समुद्रगुप्त विक्रमादित्य के काल का उल्लेख करते हुए इतिहास-वेत्ताओं ने लिखा है कि भारतीय संगीत अरबवासियों ने सीखा और यहां के कलाकार, खलीफा हारून-अरशीद के समय में बग़दाद बुलाये गये। गुरु नानकदेव जी के साथ उनके शिष्य भाई मर्दाना भी (जो रबाब बजाने में प्रवीण था) उनके साथ था। गुरु नानकदेव जी फ़ारस, अरब और विशेषकर मक्का और मदीना भी गये थे।

ईरानी प्रभाव

‘संगीत रत्नाकर’ के बाद हिंदुस्तानी संगीत में महान् परिवर्तन हुए। विदेशी आक्रमणों और देश की पराजय ने भारतीय कलाओं और विशेष रूप से संगीत को प्रभावित किया। इसमें ईरानी प्रभाव प्रमुख था। तंबूरा, शहनाई और चंग, बरबत और छोटा दफ़ ईरानी वाद्य हैं, जो हिंदुस्तान में ईरान से आये। ईरानी संगीत का आधार बारह ‘मक़ाम’ थे। हिंदुस्तान में उनके लिए ‘संस्थान’ का प्रयोग करने लगे जो ‘मक़ाम’ शब्द का संस्कृत प्रतिरूप है। आगे चलकर यहां के वादक उसी संस्थान को ‘ठाठ’ कहने लगे।

ईरानी संस्कृति और संगीत की भारत को सबसे बड़ी देन अमीर खुसरो (1253-1324) थे। यद्यपि उनके पिता ईरानी थे, लेकिन उनकी माता हिंदुस्तानी थीं और उनका जन्म उत्तरप्रदेश में एटा जिले के पटियाली नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने बलबन से लेकर अलाउद्दीन खिलजी

और गयासुद्दीन तुग़लक़ तक कई बादशाहों की नौकरी की। उन्होंने हिंदुस्तानी संगीत में बड़ी दिलचस्पी ली और उसे न केवल स्वयं सीखा, बल्कि हिंदुस्तानी और ईरानी रागों के मिश्रण से उसमें बहुमूल्य वृद्धि की। उन्होंने बहुत से मिश्रित रागों और तालों का आविष्कार किया, जिनमें से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं :

साज़गरी, ऐमन, मुआफ़िक़, फ़रग़ाना, सरपरदा, क़ौल-ओ-क़ल्बाना, नक़्श-ओगुल के अतिरिक्त ग़ज़ल भी अमीर खुसरो के दौर में प्रचलित हुई।

ग़ज़ल इतनी लोकप्रिय तर्ज़ है कि आम और ख़ास सभी लोग इसे पसंद करते हैं। इसमें आमतौर पर इश्क़-मुहब्बत के भाव व्यक्त किये जाते हैं और ज़्यादातर उर्दू और फ़ारसी में गायी जाती है। क़व्वाली का विषय आमतौर पर नातिया' होता था और यह ज़्यादातर मज़ारों पर उसों के मौक़े पर गायी जाती थी। आज भी ग़ज़ल और क़व्वाली बड़ी लोकप्रिय है और क़व्वालों की हर जगह मांग है। नक़्श-ओ-गुल में बहार के विषय प्रस्तुत किये जाते थे, मगर इसका रिवाज अब लगभग समाप्त हो गया है। अमीर खुसरो खुद भी फ़ारसी के मशहूर शायर थे। दिल्ली में निज़ामुद्दीन औलिया के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी और वे उन्हें अपना पीर मानते थे। उन्हीं के पहलू में दफ़्न भी हुए। मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद 'आब-ए-हयात' में लिखते हैं :

'संगीत में उनकी स्वाभाविक वृत्ति थी, वह एक ऐसी बीन थी जो बिन बजाये बजती रहती थी। इसलिए ध्रुपद की जगह क़ौल-ओ-क़ल्बाना बनाकर बहुत से रागों का आविष्कार किया और उनमें से अधिकतर गीत उनके आज तक हिंदुस्तान के स्त्री-पुरुषों की ज़बान पर हैं। बीन को छोटा करके सितार का भी आविष्कार किया गया।

फ़िरोदस्त एक ताल है। यह हिंदुस्तानी ताल चाचड़ या दीपचंदी की चौदह मात्रा का एक दायरा है।

अमीर खुसरो एक ऐसे विद्वान, शायर और सूफ़ी थे जो सदियों तक पैदा नहीं होते। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का श्रीगणेश करने में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनमें पक्षपात नाम को भी नहीं था और उन्होंने हिंदुवी यानी हिंदी भाषा न केवल सीखी बल्कि बड़ी उदारता से उसका प्रयोग करके उस समय की भाषा और साहित्य को मालामाल कर दिया। अंत में वे तसव्वुफ़ में ऐसे डूबे कि उसके सिवा हर चीज़ को नगण्य समझने लगे। वे एक बाकमाल और गुणी इंसान थे, जिन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता। संगीतशास्त्र में नये-नये आविष्कार करके उन्होंने उसकी सतह को बहुत बुलंद किया।

क़व्वाली

क़व्वाली संतों, सूफ़ियों और करामात वालों की महफ़िलों में पैदा हुई, पली और परवान चढ़ी। हिंदुस्तान में संगीत का संबंध शुरू से भक्ति से रहा है। संगीत को मंदिरों में प्रश्रय मिला और उसका उपयोग भी अधिकतर वहीं हुआ। क़व्वाली का लालन-पालन बल्कि उसका जन्म ही ख़ानक़ाहों में हुआ। परवरदिगार और अपने पीर-मुरशिद की प्रशंति के लिए क़व्वाली को श्रेष्ठ

1. हज़रत मुहम्मद साहब की छंदोबद्ध स्तुति से संबंधित ।

माध्यम समझा गया। क़व्वाली शब्द 'क़ौल' से ही निकला है, जिसका अर्थ बोल या कोई बात कहना है। भारत में इसका प्रचलन चिशतिया निज़ामी सूफ़ियों से शुरू हुआ। अल्लुतमिश के काल में चिशती ख़ानक़ाह में क़व्वाली का गाया जाना एक लाज़मी बात बन गयी और दूर-दूर से क़व्वाल आकर अपनी कला का प्रदर्शन करने लगे। अमीर खुसरो के हाथों यह एक ऐसा फ़न बन गया, जिसकी अपनी हस्ती और विशेषता थी। शुरू-शुरू में क़व्वाली को बिना साज़ों के गाया जाता था, मगर बाद में तो इसे साज़ों के साथ ऊंची आवाज़ में बड़े जोश-ख़रोश के साथ गाया जाने लगा, यानी लगातार तालियों, ढोलक, तबला, सारंगी और हारमोनियम के साथ। यह हिंदुस्तानी हरिकीर्तन का प्रभाव है, जो वैदिक काल से चला आ रहा है।

क़व्वाली के अपने शुद्ध रूप में स्पष्ट नियम होते हैं। सबसे पहले खुदा की तारीफ़ की जाती है, फिर हज़रत मुहम्मद साहब की, उसके बाद हज़रत अली और अंत में सूफ़ियों का गुणगान किया जाता है। क़व्वाली में तीन ज़रूरतों को पूरा करना होता है अर्थात् 'मकान' (देश), 'ज़मान' (काल) और 'इख़्तान' (भाई-बंधुओं) की। क़व्वाली उसी समय गायी जानी चाहिए, जब नमाज़ का वक़्त न हो (काल), इसे ऐसी जगह पर गाया जाना चाहिए, जो पाक-साफ़ और अलग-अलग हो (देश) और इसे केवल उन लोगों के बीच गाना चाहिए, जिनके ख़यालात पाक-साफ़ हों न कि गंदे और बेतरतीब (भाई-बंधु)। इससे ज़ाहिर होता है कि क़व्वाली सिर्फ़ ख़ानक़ाहों और मज़ारों तक सीमित थी। अब क़व्वाली एक तफ़रीह का ज़रिया भी बन गयी है और 'इख़्तान' और शायद 'ज़मान' की भी कोई पाबंदी नहीं है।

क़व्वाली के तीन दर्जे होते हैं। पहला 'कैफ़ीयत', जिसमें एक पाक माहौल पैदा होता है और सुनने वाले अपना ध्यान दुनियादारी से हटाकर खुदा-ए-पाक की तरफ़ लगाते हैं। दूसरा 'वज्द', जिसमें क़व्वाल और श्रोता एक होकर एक प्रकार के आत्म-समर्पण की दशा में पहुंच जाते हैं। इस सतह से भी ऊपर उठकर क़व्वाली की तमाम महफ़िल एक ऐसी मंज़िल या दरजे में दाख़िल होती है, जिसे 'हाल' कहते हैं और जिसे हिंदुओं की समाधि या खुदा से एकात्म होने के समकक्ष माना जाता है। अक्सर देखा गया है कि जब क़व्वाली उस सतह पर पहुंचती है तो कुछ लोग अपने कपड़े तक फाड़ देते हैं, अपना सर ज़मीन पर मारते हैं और क़व्वाल की तान और लय पर सर धुनते या नृत्य करते हैं। कहा जाता है कि परवरदिगार से ऐसी एकात्मकता वह चरमावस्था है जो बंदों को अपनी ज़िंदगी में बहुत कम और बड़े नसीब से मिलती है। हज़रत ख़्वाज़ा कुतबुद्दीन बख़्तियार काकी जो अजमेर शरीफ़ के ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिशती के मुरीद थे, इस दशा में लगातार पांच दिन रहने के बाद अल्लाह को प्यारे हुए, जबकि क़व्वाल यह शेर गाता रहा :

कुशतगान - ए - खंजर - ए - तसलीम रा

हर ज़मान अज़ ग़ैब जान - ए - दीगर अस्त'

क़व्वाली की महफ़िल ज़बाबी गाने, उसे ताल और सुर में दोहराने, मौक़ा-ब-मौक़ा गाकर न पढ़ने और गाह-ब-गाह नृत्य पर भी होती है। यह एक ऐसी महफ़िल होती है, जिसमें क़व्वाल

1. जो लोग निष्ठा के खंजर से मारे हुए हैं, उनके लिए हर क्षण ग़ैब (परलोक) में एक नया जीवन आता है।

और उसके साथियों के साथ श्रोताओं की टोली भी शरीक होती है। कभी-कभार अगर श्रोताओं की 'दशा' ऐसी होती है कि किसी खास शेर या लफ्ज़ को दोहराना जरूरी मालूम हो तो क़व्वाल उसे दोहराता रहता है, ताकि उनके दिलों पर असर पैदा हो। बुनियादी तौर पर क़व्वाली अनेक इंसानी आवाज़ों के उतार-चढ़ाव, तालियों और जिस्म की हरकतों का मिश्रण है। ये सभी तत्व शायरी को एक जिस्म और रूह प्रदान करते हैं और शेरों में एक चिंगारी या शोले की शक्ति आ जाती है। इस तरह से क़व्वाली एक मुकम्मल फ़न की शक्त इख़्तियार कर लेती है। अमीर खुसरो क़व्वाली को सुनते-सुनते हाथ ऊपर उठाकर नृत्य करने लगते हैं। उनके पीर-मुरशिद हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया ने एक बार उन्हें हाथ बंद करके और नीचे रखकर नाचने की हिदायत दी, क्योंकि "जैसे तुम बादशाह (खुदा) के दरबार में जाते हो, तुम्हारा दुनिया से फिर भी ताल्लुक रहता है।" क़व्वाली एक ऐसी कला है जो अपने आपको इबादत और इज़्ज़ (नम्रता) से एक-रूप कर देता है। क़व्वाली यद्यपि फ़ारसी शेरों की पैदावार है, मगर हिंदी और हिंदुस्तानी संगीत को भी उसने ख़ूब अपनाया। हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया राग पूरवी के शौकीन थे और उनकी इच्छा के अनुसार कम-से-कम क़व्वाली उनकी ख़ानकाह में इस राग में गायी जाती थी। वक्त के गुज़रने के साथ हिंदुस्तान में क़व्वाली की लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी कि मेलों-ठेलों, उत्सवों और महफ़िलों में भी क़व्वाली गायी जाने लगी। जहां सूफ़ियों के मज़ारों और ख़ानखाहों में उसी के मौकों पर तो क़व्वाली बदस्तुर वैसे ही होती है, वहां यह होटलों और तफरीहगाहों में भी इतनी लोकप्रिय हो गयी है कि इसे सुनने के लिए लोग बेताब रहते हैं और सुनते-सुनते उन पर एक जादू-सा हो जाता है।

क़व्वाल बच्चे घराना

हालांकि हिंदुस्तानी संगीत में ग्वालियर घराना सबसे ज़्यादा अहम और पुराना समझा जाता है, मगर उससे पहले भी ख़याल और ख़याल गायकी में क़व्वाल बच्चे घराने का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि यह घराना सुल्तान शम्सुद्दीन अल्लुतमिश के काल में शुरू हुआ और इसके संस्थापक दो भाई सावंत और बूला थे, जिनमें से एक गूंगा और दूसरा बहरा था। इस घराने के नाम से जाहिर होता है कि उसके संस्थापक क़व्वाल थे। उनके बारे में एक किस्सा मशहूर है : एक दिन बादशाह अल्लुतमिश ने संगीत गोष्ठी की इच्छा प्रकट की और अपने वज़ीरों को उसका आयोजन करने का आदेश दे दिया। वज़ीरों ने शहर-भर में बड़े गवैयों की तलाश शुरू कर दी। कुछ लोगों को सावंत और बूला का मज़ाक करने को सूझी-यानी उनके माध्यम से तमाशा देखना चाहते थे। उन्होंने वज़ीरों को बताया कि सावंत और बूला मशहूर संगीतकार हैं और उन्हें इस महफ़िल में बुलाया जाये। वज़ीरों ने दोनों भाइयों को हुक्म भिजवा दिया कि शाही दरबार में हाज़िर होकर बादशाह के सामने गायें। दोनों भाई अपनी अशक्तता के कारण चिंतित थे और अंततः उन्होंने निराश होकर अपने आपको खुदा के रहम-करम पर छोड़ दिया। उन्होंने खुदा से दुआ की और मदद मांगी और खुदा ने दुआ कुबूल की। एक हज़रत ख़्वाजा-ए-ख़्वाज़गान को इस शरारत का पता चला तो उन्होंने खुदा से इल्तजा की कि न सिर्फ़ इन दोनों भाइयों की अशक्तता दूर कर दे, बल्कि उन्हें ऐसी उम्दा आवाज़ और संगीत में प्रवीणता दे कि वे अपनी आबरू बचा सकें। उन्होंने दोनों भाइयों से यह कहा कि बिल्कुल मत घबराओ

और बादशाह के हुजूर में पेश होकर जब हुक्म मिले तो निडर होकर गाना शुरू कर दो।

दोनों भाई हज़रत ख़्वाजा-ए-ख़्वाज़गान की बात से हौसला पाकर दरबार में पहुंचे, पर ज्यों ही उन्हें बादशाह ने हुक्म दिया, दोनों भाई यह देखकर हैरान रह गये कि वे न केवल बोल और सुन सकते थे, बल्कि वे उच्चकोटि के संगीतकार थे। यह एक चमत्कार मात्र था जो कि सिर्फ अल्लाह की मर्जी और मेहरबानी से हो सकता था। दोनों भाइयों ने इतना उम्दा गाया कि बादशाह बहत खुश हुए और जिन लोगों ने यह मज़ाक किया था, वे हैरान और परेशान हो गये। उन्हीं दोनों भाइयों से क़व्वाल-घराना शुरू हुआ।

शाही संरक्षण

हिंदुस्तान में अधिकतर शासकों ने संगीत कला में भारी रुचि ली। मुअज़्ज़दीन कैक़ुबाद जलालुद्दीन ख़िलजी और कुतबुद्दीन ऐबक का ज्यादातर समय उसी शौक में गुज़रता था। सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक़ की ऐसी बहुत-सी तस्वीरें मिलती हैं, जिनमें वह तख़्त पर बैठा दासियों के गाने का आनंद ले रहा है। फ़िरोज़ तुग़लक़ के समय में संगीत कला की बड़ी तरक्की हुई। उसके ज़माने में संगीतशास्त्र पर 'मारिफ़त-उल-इलहान' और 'ग़नियत-उल-मनिया' जैसी बहुमूल्य पुस्तकें लिखी गयीं। जौनपुर की पूर्वी सरकार के शासक सुल्तान इब्राहीम की प्रेरणा से 'संगीत शिरोमणि' संकलित हुई। उसके पोते सुल्तान हुसैन को इस फ़न में बड़ी महारत हासिल थी और उसने कई राग ईजाद किये। कश्मीर का सुल्तान जैनुल आबिदीन भी संगीत का बड़ा संरक्षक था और उसके दरबार में भी बहुत-से फ़न के माहिर जमा हो गये थे। मालवा का बादशाह बाज बहादुर तो खुद भी एक माहिर संगीतज्ञ था। ग्वालियर के महाराजा मानसिंह तोमर को तो सभी गवैयों ने अपना गुरु मान लिया था। उसी ने ध्रुपद को बहुत बढ़ावा दिया था और संगीतशास्त्र पर 'मानकटोहल' नामक पुस्तक लिखी थी, जिस पर सारे उत्तर भारत के गवैयों का मुद्दतों तक दारोमदार रहा। उसने ग्वालियर में संगीत का एक विद्यालय भी स्थापित किया था, जहां से बड़े नामवर गवैये प्रशिक्षित होकर निकले। वरख़्शू नायक जिसकी बेटी से तानसेन ने राग सीखा था, राजा मानसिंह का ही शिष्य रहा था।

मुग़ल साम्राज्य और संगीत

हिंदुस्तान में मुग़ल साम्राज्य का संस्थापक ज़हीरुद्दीन बाबर खुद संगीत प्रेमी था। 'तुजुक-ए-बबरी' के अध्ययन से मालूम होता है कि जब वह काबुल के बागों में दोस्तों के साथ नदी के किनारे बैठकर जाम-ओ-मीना से दिल बहलाता था तो हिंदुस्तानी संगीत का भी आनंद उठाता था। हिंदुस्तान में बाबर को न वह शांति प्राप्त हुई और न ही उसके शास में वह स्थिरता आ पायी कि किसी भी कला का विकास हो सकता। उसके बेटे हुमायूँ को संगीत-प्रेम विरासत में मिला था। वह सप्ताह में दो दिन संगीत गोष्ठियां करता था। मांडव की विजय के बाद हुमायूँ युद्धबंदियों का वध करवाना चाहता था, जिनमें सुल्तान बहादुरशाह गुजराती का दरबारी गायक उस्ताद बीजू भी शामिल था। संयोग से एक हिंदू उधर से गुज़रा और उसने बीजू को पहचानकर हुमायूँ के हुजूर में पेश किया। राजा की सिफ़ारिश पर हुमायूँ ने बीजू की ओर ध्यान दिया और उसे कुछ सुनाने के लिए कहा। बीजू ने ध्रुपद गाकर सुल्तान और दरबारियों को बहुत प्रभावित किया।

सुल्तान पर, जो उस वक्त लाल लिबास पहने और नंगरी तलवार लिये बैठा था, इतना असर हुआ कि उसने सुर्ख लिबास उतारकर सब्ज़ लिबास पहन लिया और बादशाह के क़ैदियों की रिहाई का हुक्म दे दिया। मौक़ा मिलते ही हुमायूँ ने बीजू को अपने दरबार में एक सम्मानपूर्ण पद प्रदान किया और उसे पुरस्कार आदि से सम्मानित किया। लेकिन कुछ समय के बाद बीजू भाग निकला और अपने भूतपूर्व स्वामी बहादुरशाह गुजराती के पास पहुंच गया। उसे देखते ही बहादुरशाह ने कहा, 'मैंने अपनी खोयी हुई दौलत पा ली।' हुमायूँ को जब बीजू के भागने की सूचना मिली तो उसने दुःखद स्वर में कहा, 'बदकिस्मत था जो भाग गया। अगर हमारी ख़िदमत में रहता तो इतना पाता कि सुल्तान बहादुरशाह को भूल जाता।' यही गायक 'बैजू बावरा' के नाम से मशहूर है।

हुमायूँ के निर्वासन के दौरान हिंदुस्तान में शेरशाह, इस्लाम शाह और मुहम्मद आदिलशाह एक दूसरे के बाद तख़्त पर बैठे। मुहम्मद आदिलशाह संगीत का संरक्षक भी था और एक उच्च कोटि का गायक भी। उसने ग्वालियर में राजा मानसिंह तोमर की परंपरा को जीवित रखा और गवैयों के प्रशिक्षण में चढ़-चढ़कर भाग लिया। मियां तानसेन ने भी उसी से शिक्षा प्राप्त की थी।

अकबर का दरबार तो संगीत का विकास-स्थल था। अबुल फ़ज़ल के कथनानुसार छब्बीस गवैये और साज़िंदे शाही दरबार में नौकर थे। उनमें मियां तानसेन, सुब्हान खां, साहब खां, चांद खां, तान तरंग खां, सरवर खां, और मियां लाल खासतौर पर उल्लेखनीय हैं। तानसेन के बारे में अबुलफ़ज़ल लिखता है, 'गुज़स्ता हज़ार बरस में उस जैसा गवैया पैदा नहीं हुआ।' अबुलफ़ज़ल के पिता शेख मुबारक खुद संगीत के नामवर उस्ताद थे। अकबर के ज़माने में एक और संगीतज्ञ मुल्ला अबुल क़ादिर बदायूनी था। वह 'मुतख़वउत्तवारीख़' का लेखक था और हिंदुस्तानी और ईरानी संगीत पर पूरा अधिकार रखता था। वह खुद भी ऊंचे दर्जे का बीननवाज़ था।

तानसेन का असली नाम त्रिलोचन दास था। वह जाति के गौंड ब्राह्मण थे और उनके पिता मकरंद पांडे ग्वालियर निवासी थे। मौज़ा भेंट, जो ग्वालियर से सात मील की दूरी पर पूर्व में स्थित है, तानसेन का जन्म-स्थान है। यह भी कहा जाता है कि तानसेन मौज़ा चौबुरजी में पैदा हुए। उनकी जन्म तिथि के बारे में यक़ीन से कुछ नहीं कहा जा सकता। मगर आमतौर पर यह अनुमान किया जाता है कि वह 1531 ई. में पैदा हुए। मकरंद पांडे का यह पुत्र बड़ी उम्र में हज़रत मुहम्मद ग़ौस की दुआ से पैदा हुआ था। पीर साहब ने यह भी पेशीनगोई की थी कि यह बालक संसार में अमर हो जायेगा। जन्म के एक-दो वर्ष बाद ही मकरंद पांडे ने उसे हज़रत ग़ौस को भेंट कर दिया कि आपने ही इसे दिया है, आप ही इसे अपने संरक्षण में ले लें। इस प्रकार तानसेन बचपन ही से हज़रत मुहम्मद ग़ौस की देखभाल में पलते रहे। ऐसा मालूम होता है कि बाद में उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और संगीत जगत में मियां तानसेन के नाम से प्रसिद्ध हुए।

तानसेन को गायक संगीत सम्राट मानते हैं। उन्होंने संगीत शास्त्र की शिक्षा ग्वालियर के संगीत विद्यालय से प्राप्त की थी। उन्होंने बाबा हरिदास से मथुरा में भी शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने बख़्शू नायक की लड़की से भी कुछ संगीत के सूत्र सीखे, मगर उसने उनकी ओर

कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया। हकीकत तो यह थी कि उनमें ईश्वर प्रदत्त गुण थे। वह संगीत के नायक के अतिरिक्त एक फकीर भी समझे जाते थे। दीपक और मल्हार रागों में उनका कोई सानी नहीं था। तानसेन ने बहुत से नये प्रयोग किये और एक राग दरबारी का नहड़ा अकबर के सामने पेश किया और असावरी और गांधारी को मिलाकर जोगिया शब्द बढ़ाया और मल्हार में नहड़े को शामिल करके मियां की मल्हार नाम रखा। मियां की तोड़ी और मियां की सारंग भी तानसेन के प्रयोग हैं, जो बहुत प्रसिद्ध हैं।

तानसेन और बैजू बावरा के मुकाबले का किस्सा बड़ा मशहूर है। बैजू बावरा ने तानसेन को नीचा दिखाने की ठान ली और ग्वालियर पहुंच गये। तानसेन अपने घर मौज़ा भेंट में थे। उन तक पहुंचने के लिए नदी पार करनी पड़ती थी। नदी पर धोबिनें कपड़े धो रही थीं और बैजू बावरा को भी अपने मैले कपड़े धुलवाने का खयाल आया। एक धोबन से पूछा तो उसने पलटकर सवाल किया कि कपड़े 'हाल' के पानी में धुलवाओगे या 'पाल' के? बैजू बावरा धोबन का प्रश्न नहीं समझे तो उसने बताया कि 'हाल' के पानी से आशय वह पानी है जो अभी आसमान से बरसे और 'पाल' के पानी का अभिप्राय है, यही नदी का बहता हुआ पानी। बैजू बावरा ने 'हाल' के पानी में कपड़े धोने की फरमाइश की। धोबन ने मल्हार राग छेड़ दिया। थोड़ी ही देर में पानी बरसने लगा। जब कपड़े धुल गये तो धोबन ने गाना बंद कर दिया। धूप खिल गयी और धोबन ने कपड़े सुखाकर बैजू बावरा के हवाले कर दिये। बैजू बावरा दंग रह गये और उन्होंने धोबन से पूछा कि तुम किसके कपड़े धोती हो? जवाब मिला, तानसेन के। बैजू बावरा ने सोचा कि जिस तानसेन की धोबन ऐसा गाती है तो तानसेन का क्या कमाल होगा? उन्होंने सोचा कि चलो अब आये हैं तो तानसेन से मिल ही लें। उनके मकान पर पहुंचे। तानसेन ने बड़े आदर-सत्कार से बिठाया और बैजू बावरा की फरमाइश पर गाना सुनाया। बैजू बावरा को गाना उतना नहीं जंचा जितनी तानसेन की तारीफ सुनी थी और उनके दिल में मुकाबिला करने की ख्वाहिश फिर पैदा हो गयी। उन्होंने जवाब में एक राग छेड़ दिया, जिससे जंगल का एक हिरन मस्ती की हालत में आकर बैजू बावरा के सामने आ खड़ा हुआ और सर झुका दिया। बैजू बावरा ने जोश में आकर अपनी माला हिरन के गले में डाल दी और गाना बंद कर दिया। हिरन गाना बंद होते ही चौकड़ियां भरता हुआ जंगल की ओर लौट गया। बैजू बावरा ने तानसेन से कहा कि बाबा, मैं आपकी नगरी में आकर लुट गया और मेरे गुरु की दी हुई माला हिरन ले गया। तानसेन बोले, उसमें मेरी नगरी का क्या दोष आपके गाने के असर से हिरन आया था और अपनी माला आपने उसे पहना दी थी। मगर बैजू बावरा तो तानसेन को नीचा दिखाना चाहते थे। उन्होंने इलजाम तानसेन पर ही धरा। तानसेन भी जोश में आ गये और उन्होंने गाना शुरू कर दिया। बहुत से हिरन वैसी ही मालाएं गले में पहने सामने आ खड़े हुए। तानसेन बैजू बावरा से बोले कि अपनी माला पहचान कर उतार लो। बैजू बावरा हैरान रह गये कि किस हिरन के गले में से माला उतारें, क्योंकि सबने एक-सी ही मालाएं पहन रखी थीं। जब बैजू बावरा बेबस हो गये तो तानसेन ने अपना गाना बंद कर दिया। माला वाले हिरन के सिवा सारे हिरन चले गए। बैजू बावरा से बोले-आपकी यह माला है, उतार लो।

यह भी कहा जाता है कि तानसेन का मुक़ाबिला बैजू बावरा से नहीं हुआ बल्कि गोपाल का मुक़ाबिला बैजू बावरा से महाराजा जम्मू के दरबार में हुआ और गोपाल मात खा गया। महाराजा ने गोपाल को मृत्युदंड देने की आज्ञा दे दी। लेकिन बैजू बावरा ने महाराजा से यह कहकर दंड माफ़ करा दिया कि गोपाल मेरा ही शिष्य है।

तानसेन की मरण-तिथि अधिकांश इतिहासकारों ने 1588 ई. बतायी है। आपका मक़बरा ग्वालियर में है। मक़बरे के करीब एक इमली का दरख़्त है, जिसके पत्ते गवैये और तवाइफ़ों इस श्रद्धा से खाते हैं कि उनकी आवाज़ में सुरीलापन आ जाये और प्रसाद के रूप में बाहर भी ले जाते हैं।

जहांगीर ने भी संगीत को प्रश्रय दिया। उसके दरबार में उस्ताद मुहम्मद नाई, बाक़िया, शौकी तंबूरा नवाज़, जहांगीर दाद, चतर खां, हाफ़िज़ अब्दुल्ला और रहीम दाद खां जैसे निपुण कलाकार मौजूद थे। 'तुजुक-ए-जहांगीरी' में इनमें से अधिकांश का उल्लेख मिलता है। जहांगीर कव्वाली का भी दिलदादा था। उसकी मजलिस-ए-समाअं में सूफ़ियों को हाल आ जाता था। एक बार दिल्ली के क़व्वाल उसके हुज़ूर में क़व्वाली पेश कर रहे थे और जब उन्होंने अमीर खुसरो का यह शेर पढ़ा :

हर क़ौम रास्त राहे दीने-ओ-क़िब्लागाहे

मन क़िब्ला रास्त करदम बर सिम्त कज कुलाहे'

तो अली अहमद मोहरकुन को हाल आ गया। उन्होंने भी अपनी टोपी ज़रा तिरछी कर ली और तड़प कर ज़मीन पर गिर पड़े। जहांगीर ने लपककर उनका सर उठाया तो वे अल्लाह को प्यारे हो चुके थे।

शाहजहां के काल में संगीत बहुत फूला-फला। उसकी सुरुचि स्थापत्य में प्रकट हुई। वह एक संयमी और नेक बादशाह भी था और उसके बारे में कहा जाता है कि उसने नमाज़ कभी क़ज़ा नहीं की। इस नेकी और संयम के बावजूद वह संगीत कला को प्रश्रय देता था। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि शाहजहां की अपनी आवाज़ बड़ी सुरीली थी और बादशाह ने खुद कई हिंदी राग ईजाद किये थे। 'क़ावायद-उल सलतनत-ए-शाहजहानी' में लिखा है कि शाहजहां को ईरानी, कश्मीरी और हिंदुस्तानी राग-रागिनियों से ख़ास लगाव था और वह हरमसरा में हर रोज़ दो-तीन घंटे तक संगीत का आनंद उठाता रहता था। रात को महफ़िलों में गाने-बजाने पर दासियां नियुक्त थीं और शाही दरबार में संगीत कला के उस्ताद अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। नायक बख़्शू की मृत्यु को काफ़ी समय हो चुका था, लेकिन शाहजहां उसका बड़ा प्रशंसक था। इस ख़याल से कि कहीं समय बीतने के साथ लोग नायक बख़्शू को भूल न जायें, उसने अपने संगीत विशेषज्ञों को हुक्म दिया कि वे बख़्शू के गाये हुए ध्रुपद राग एकत्र करें। उन्होंने बड़ी मेहनत के बाद 'हज़ार ध्रुपद-ए-नायक बख़्शू' के नाम से एक पुस्तक संपादित

1. हर जाति का एक धर्म है और उसका अपना आराधना-स्थल और एक या अधिक तीर्थ-स्थान होते हैं। मैंने उस अभिमानी महबूब को अपना क़िब्ला और काबा बना लिया है।

2. नियत समय के बाद।

करके बादशाह की खिदमत में पेश की। उस पुस्तक की एक प्रति अभी तक बॉडलिन लाइब्रेरी ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में सुरक्षित है। शाहजहां के संगीत-प्रेम का अनुमान इससे भली प्रकार लगाया जा सकता है कि लालकिले के नौबतखाने में गैवेये मौजूद रहते थे, जो दिन के पहरों को रागों और रागिनियों में बिताया करते थे।

शाहजहां के शासन काल में शादी-ब्याह के उत्सवों में संगीत के कार्यक्रम विशेष रूप से आयोजित किये जाते थे। जब शहजादा दारा शुकोह का निकाह नादिरा बेगम से हुआ तो उस अवसर पर 'मुतरिबान-ए-हफ्तकिश्वर' मौजूद थे और उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन किया। शहजादा शुजा की शादी के मौके पर भी मशहूर गवैयों ने संगीत का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। जब औरंगजेब का निकाह दिलरस बानो से हुआ तो संगीतकारों ने ऐसा रंगरंग कार्यक्रम पेश किया कि अब्दुल हमीद लाहौरी के कथनानुसार आसमान वालों ने कई रोज़ तक ज़मीन से सिवाय नग़मात के और कोई आवाज़ नहीं सुनी।

सैफ़ खां ने 'राग दर्पण' में शाहजहां के काल में जिन 32 संगीतकारों का उल्लेख किया है, उनमें सूफ़ी बहाउद्दीन का नाम सबके ऊपर है। आप ऊंचे दर्जे के संगीतकार होने के साथ एक मुकम्मल दरवेश भी थे। आप तराना और ख़याल बहुत अच्छा गाते थे और रबाब और बीन बजाने में आपका जवाब नहीं था। कलावंत भी शाहजहां का दरबारी गवैया था और अपनी कला में निपुण था। वह भी अपना ज्यादातर समय अल्लाह वालों के साथ गुज़ारता था। शेख़ शेर मुहम्मद भी उस दौर के नामवर संगीतज्ञ और दरवेश हुए हैं। उन्होंने नग़मे में बड़ी तरक्की की। वे ख़याल भी ख़ूब गाते थे और उनके गाने में बड़ा दर्द होता था।

जगन्नाथ कलावंत शाहजहां का दरबारी गवैया था और उसे शाहजहां ने कविराज की उपाधि दे रखी थी। सैफ़ खां ने लिखा है कि तानसेन के बाद उसके स्तर का कोई दूसरा गवैया नहीं हुआ। वह शाहजहां के नाम पर राग बनाया करता था और ध्रुपद गाने में उसका कोई सानी नहीं था। दूसरे हिंदू संगीतकारों में जनार्दन बीकानेरी, ताराचंद कलावंत, सूरदास पगवावजी, धर्मदास कलावंत, तुलसीदास कलावंत, सालमचंद डागर और सुंदरघन उल्लेखनीय हैं। इन सबके बारे में सैफ़ खां लिखता है कि वे बादशाह के कृपापात्र थे। इसी तरह 'बादशाहनामा' में मुहम्मद वारिस ने एक और हिंदु संगीतकार वालीराम का जिक्र किया है, जिसे शाहजहां ने काबुल में दो हज़ार रुपए दिये थे।

शाहजहां के दरबार के संगीतकारों में लाल खां कलावंत का दर्जा बहुत बड़ा था। लाल खां अभी कम उम्र ही था कि वह तानसेन की खिदमत में हाज़िर हुआ। तानसेन ने बड़े ध्यान से उसे संगीत की शिक्षा देना शुरू किया, मगर अभी वह सीख ही रहा था कि तानसेन का निधन हो गया। उनके बेटे बिलास खां ने उसे अपना शिष्य बना लिया और अपनी बेटी की शादी उससे कर दी। सैफ़ खां ने उसे अपने वक्त का सबसे बड़ा ध्रुपद गायक बताया है। लाल खां कलावंत तानसेन की जगह पर खड़ा होकर अपना राग पेश किया करता था। शाहजहां उसे हर समारोह के अवसर पर इनाम-इकराम से सम्मानित करता था। एक बार बादशाह ने उसका राग सुनकर उसे एक हाथी बतौर इनाम दिया और एक दूसरे मौके पर उसे 'गुणसमुद्र' की उपाधि प्रदान की। लाला खां कलावंत के बेटे खुशहाल खां और यसराम खां भी शाही दरबार

के गवैये थे। पिता के देहांत के बाद उसका पद खुशहाल खां को मिला और उसे भी तानसेन की जगह पर खड़े होकर गाना गाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

संगीतकारों और साजिंदों में सैयद खां-बिन-सुब्हान खां, मीर इमाद, अल हिदाद, रहीम दाद खां, सैयद तैयब बुड्डा, फ़िरोज़ डाढ़ी, ज़ाहिर डाढ़ी, मुहम्मद रसवीन, अबुल वफ़ा, बख़्त खां गुजराती और बायज़ीद खां कलावंत की गिनती भी कला के विशेषज्ञों में होती थी। एक और गवैया गन खां कलावंत भी मशहूर दरबारी गवैया था। शहज़ादा शुजा को उसका राग बहुत पसंद था और उसने शाहजहां से उसे मांग लिया था। गन खां की बाकी उम्र शहज़ादे की सेवा में ही बंगाल में गुज़री और वह वहीं फ़ौत हुआ। बायज़ीद रब्बानी, मुहम्मद बाक़ी और शेख़ सादुलाह भी बड़े अच्छे गवैयों में गिने जाते थे। लेकिन बाद में उनके गले अफ़ीम खाने की वजह से ख़राब हो गये थे।

औरंगज़ेब का काल

शाहजहां के शासन काल में संगीत कला ने दूसरी कलाओं के साथ बहुत प्रगति की। औरंगज़ेब के काल में लिखी ऐसी बहुत-सी किताबें हैं, जिनमें आलमगीर बादशाह की खूबियों का ध्रुपद गायन में उल्लेख किया गया है। एक ध्रुपद में औरंगज़ेब को औलिया और जिंदा पीर भी कहा जाता है :

आया आया रे महाबली आलमगीर
साही में साही औलिया जिंदा पीर

बसंत के त्यौहार पर एक ध्रुपद में एक मंगला 'मुखिया' कहती है, 'शाह औरंगज़ेब तुम हमारे साथ बहुत वर्षों तक (होली) धमार खेलते रहे।' लेकिन औरंगज़ेब ने ग्यारहवें साल जुलूस में तमाम संगीतकारों और साजिंदों को अपने दरबार से निकाल दिया। इतिहास की सभी प्रामाणिक पुस्तकों में यह कथा दी हुई है कि एक दिन दरबार से निकाले हुए कलाकार एक झूटमूट का जनाज़ा लेकर शाही महल के करीब से विलाप करते हुए गुज़रे तो औरंगज़ेब ने एक मुसाहिब से पूछा, यह किसका जनाज़ा है? उसने हाथ जोड़कर अर्ज किया कि संगीत का। इस जवाब पर औरंगज़ेब हंस दिया और उसने संगीतकारों से कहला भेजा कि इस मुर्दे को खूब गहरा दफ़न करना ताकि कहीं फिर बाहर न निकल आये।

औरंगज़ेब का संगीत के प्रति यह रवैया उसकी मज़हबपरस्ती, सादगी और संयम आदि के कारण था और तख़्तनशीनी के कई साल बाद प्रकट हुआ। तख़्त पर बैठने से पहले औरंगज़ेब को भी इस कला से बड़ी दिलचस्पी थी। अला-उल-मुल्क तूनी औरंगज़ेब ही के मंत्रिमंडल का सदस्य था जो अपने युग के विशेषज्ञों में से था। हकीकत तो यह है कि इसे बहुत-से इतिहासकारों ने स्वीकार किया है कि बादशाह होने के दस वर्ष बाद तक औरंगज़ेब संगीत का आनंद उठाता रहा। 13 मई 1659 को औरंगज़ेब गद्दी पर बैठा था और उसने प्रसिद्ध संगीतकार खुशहाल खां को अपने दरबार में उचित पद दिया। इसी तरह उसने हयात सरस नयन नामक एक संगीतकार को भी इनाम दिये। कृपा नामक मृदंग वादक को 'मृदंग राय' की उपाधि दी। बहुत से ध्रुपद ऐसे मिले हैं, जिन पर उसकी मुहर लगी हुई है। उनमें जो भाव बांधे गये हैं

वे आलमगीर की शान-शौकत, प्रताप, सालगिरह और दबदबे के बारे में हैं और उनमें से कई में होली का जिक्र भी मिलता है। औरंगजेब के एक मुसाहिब मिर्जा रोशन ज़मीर ने 'संगीत पारिजात' का अनुवाद किया। फ़कीरुल्लाह ने औरंगजेब को पेश करने के लिए 'मान कुतूहल' का अनुवाद 'राग दर्पण' के नाम से किया। इबाद मुहम्मद कामिलख़ानी ने 'रिसाला-ए-कामिलख़ानी', 'असामी सुर' और 'रिसाला दर अमल-ए-बीन-ओ-ठाठ रागिनी' जैसी उच्चस्तरीय पुस्तकें औरंगजेब के काल में ही लिखीं। कई इतिहासकारों ने यह भी लिखा है कि औरंगजेब के तख़्त पर बैठने के कई साल बाद तक हरमसरा में संगीत की गोष्ठियां होती रहीं। औरंगजेब ने 50 साल की उम्र में अपने आपको एक परहेज़गार मुसलमान साबित करने के लिए यह हुक़्म दिया कि संगीतकार दरबार में हाज़िर तो हों, लेकिन गाना न गायें। यद्यपि दरबार में गाना-बजाना बंद हो गया, मगर महलसरा की महफ़िलों में और रंगरेलियों में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। बेगमों और शहज़ादियों के लिए गाने वालों की नियुक्ति खुद औरंगजेब करता था। मिर्जा मुकर्रम खां सफ़वी ने जो संगीत कला में निष्णात था, औरंगजेब से सवाल किया कि नग़मा और सरोद के बारे में हज़रत की क्या राय है? तो हज़रत ने फ़रमाया कि जो उसके पात्र हैं, उनके लिए हलाल है। मिर्जा ने अर्ज़ किया कि फिर हज़रत पात्र होने के बावजूद क्यों इससे परहेज़ फ़रमाते हैं? हज़रत ने जवाब दिया कि तमाम राग-रागिनियां बिना बांसुरी और ख़ासतौर से पखावज के लुत्फ़ नहीं देतीं और बांसुरियों के हराम होने पर सभी एकमत हैं। इसीलिए मैंने सरोद से किनाराकशी इख़्तियार कर ली है।

मुहम्मद शाह रंगीला

संगीत की दुनिया में मुहम्मद शाह रंगीले का नाम हमेशा याद रहेगा। सदारंग, अदारंग और इछाबरस जैसे उच्चकोटि के ख़याल गायक और नायक इसी काल में हुए। उसी के समय में साज़ के रूप में सितार बहुत लोकप्रिय हुआ। यह सेहरा सदारंग के छोटे भाई खुसरो ख़ां के सर पर है। मुहम्मद शाह रंगीले के काल में पहले सितारवादकों का कोई जिक्र नहीं मिलता। दरगाह कुली ख़ां ने कहा है कि खुसरो ख़ां तीन तार वाले एक साज़ पर राग-रागिनियां पेश करते थे। इस साज़ में आवश्यकता के अनुसार तारों की संख्या में वृद्धि होती रही। एक इतिहासकार का यह भी विचार है कि नाम की समानता के कारण लोग खुसरो ख़ां को अलाउद्दीन के समय का अमीर खुसरो समझ बैठे। बादशाहनामे में ख़याल गायकी को हज़रत अमीर खुसरो का प्रयोग बताया गया है, मगर कुछ लोग जौनपुर के आख़िरी बादशाह और संगीत कला में प्रवीण सुल्तान हसन शरकी को ख़याल गायकी का आविष्कर्ता मानते हैं। लेकिन नेमत ख़ां सदारंग ने ख़याल गायकी की दुनिया में चार चांद लगा दिये। कहा जाता है कि एक बार मुहम्मद शाह रंगीले ने किसी बात पर नाराज़ होकर सदारंग का दरबार में आना बंद कर दिया। सदारंग ने दो बच्चों को बड़ी मेहनत और कोशिश से ऐसा तैयार किया कि जब उन बच्चों ने बादशाह के दरबार में सदारंग की बंदिशों को पेश किया तो बादशाह बहुत खुश हुआ और सदारंग को फिर दरबार में आने की इजाज़त मिल गयी।

घनानंद जाति के कायस्थ थे और मुहम्मद शाह के मीर मुंशी थे। उनके बारे में मशहूर

है कि वे गाने में भी माहिर थे। एक बार उन्हें मुहम्मद शाह के दरबार में गाने का हुक्म हुआ। किसी ने कहा, यह उस वक्त तक न गायेँ जब तक सुब्हानी तवाइफ़ सामने न हो। तवाइफ़ बुलायी गयी और उन्होंने उसकी तरफ़ मुंह और बादशाह की तरफ़ पीठ करके गाना शुरू किया। बादशाह और दरबारी गाना सुनकर खुश हुए। मगर बादशाह ने बेअदबी की सज़ा दी और शहर से बाहर निकला दिया। उन्होंने सुब्हानी तवाइफ़ से अपने साथ चलने के लिए कहा, मगर उसने इंकार कर दिया। इंकार से घनानंद का दिल टूट गया और वे फ़कीर बनकर वृंदावन चले गये। यह भी मशहूर है कि नादिरशाह के हमले के बाद किज़िलबाशी सिपाही मथुरा पहुंच गये और घनानंद को डरा-धमकाकर उनसे पैसे मांगे। लेकिन मुंशी घनानंद के पास कुछ न था। जब किज़िलबाशियों ने ज़र-ज़र का शोर मचाया तो उन्होंने उसी शब्द को उलटकर रज रज (धूल) कहा और दो-तीन मुट्ठी ख़ाक फेंकी कि उसके सिवा उनके पास कुछ नहीं है। सिपाहियों ने गुस्से में आकर उनका हाथ काट डाला।

आख़िरी मुग़ल बादशाह का संगीत सम्राट

अकबर के काल से ही संगीत में तान को बहुत अहमियत हासिल रही। जिसकी तान जितनी जोरदार और सुरीली होती थी, उसे उतना ही बड़ा संगीतकार समझा जाता था। एक तान का बादशाह तानसेन मुग़ल काल के उत्कर्ष के समय और दूसरा मुग़ल काल के पतन के समय हुआ। तान के यह दूसरे सम्राट दिल्ली के निकट मौज़ा ड़ासना के कुतबबख़्श थे। मियां कुतबबख़्श अपने वालिद से संगीत की शिक्षा प्राप्त करके दिल्ली आये। वे इस कला में इतने निपुण थे कि अंतिम मुग़ल सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र ने उन्हें क़िले के लिए चुन लिया और वे सबसे बड़े शाही संगीतकार हो गये। बादशाह ने उन्हें 'तानरस' की उपाधि दी। उन्हें लोग आदर से तानरस ख़ां कहते थे। तानरस ख़ां मशहूर संगीतकार मियां अंचपल के शिष्य थे। तानरस में इतने असाधारण गुण थे कि वे बादशाह के बहुत निकट आ गये। वे हफ़्ते में छह दिन क़िले में ही रहते थे। बादशाह के नाश्ते में से ही उन्हें नाश्ता मिलता था। तानरस की शादी के मौक़े पर बहादुरशाह ज़फ़र ने हज़ारों रुपए खर्च करवा दिये। जिस समय तानरस दूल्हा बनकर बादशाह को सलाम करने गये तो खुद बादशाह ने अपने हाथों से मोतियों का सेहरा बांधा और सवा पांच सौ अशरफ़ियां प्रदान कीं।

दिल्ली का एक मशहूर मुहल्ला चांदनी महल है। वह बादशाह ने ख़ां साहब को दे दिया। उसमें कई हवेलियां थीं। यह लाखों रुपये की जायदाद थी। इसमें एक गली का नाम अभी तक 'गली तानरस ख़ां' है। उनका हुलिया था—औसत क़द, लंबे हाथ, बड़ी-बड़ी आंखें, गेहुआं रंग, चौड़ी पेशानी, दुहरा बदन, लिबास में अंगरखा ज़्यादा पहनते थे और चौकोर टोपी लगाते थे। महाराजा अलवर के दरबार में दिल्ली की 1857 की तबाही के बाद पहुंचे। वहां महाराजा ने बड़ी क़द्र की। दूसरी रियासतों में भी बुलाये जाते थे और एक बार नेपाल नरेश ने भी बुलाया। उनके कमाल से खुश होकर नेपाल नरेश ने एक आभूषण भुजदंड अपने बाजू से खोलकर उन्हें दिया, जिसकी कीमत आज से पचास साल पहले बंबई में अस्सी हज़ार रुपये लगी थी। इसके अलावा सवा लाख रुपये और ख़िलातत वगैरा मय चंद घोड़े भी इनायत किये।

नेपाल से लौटने के बाद तानरस निज़ाम हैदराबाद के बुलावे पर हैदराबाद चले गये और तक़रीबन सौ साल की उम्र में वहीं उनका निधन हुआ। उनके शागिर्दों में अली बख़्श और फ़तहे अली ख़ां और हुसैन बख़्श ने बहुत ख्याति पायी। तानरस इतने बड़े लयकार थे कि अपने दौर के संगीत सम्राट माने जाते थे। तराना गाने में उनका कोई सानी नहीं था। आवाज़ में बला की कूक थी। उनकी मृत्यु के बाद दिल्ली में चालीसवां दिया गया, जो लगातार पंद्रह दिन तक चलता रहा। उसमें देश के प्रसिद्ध संगीतकार शामिल हुए।

संगीत का महत्त्व मुग़ल दरबार में अंतिम समय तक बना रहा। बहादुर शाह और उनके पिता अकबर शाह द्वितीय के दरबार में बहुत से संगीतज्ञ थे, जिनमें हिम्मत ख़ां और रागरस ख़ां बेमिसाल थे।

दिल्ली घराना

दिल्ली घराने की शुरुआत तानसेन से होती है, लेकिन कुछ पुराने उस्तादों के अनुसार दिल्ली घराने की बुनियाद उन्नीसवीं सदी में मियां अचपल ने डाली। दिल्ली जो सदियों तक विभिन्न शाही नस्लों और ख़ानदानों की राजधानी रही, स्वाभाविक रूप से संगीत और अन्य कलाओं का एक प्रमुख केंद्र भी थी। शाही सरपरस्ती के कारण हिंदुस्तान के दूसरे भागों के संगीतकार भी यहां आकर बस जाते थे।

मियां अचपल का असल नाम और जन्मस्थान किसी को नहीं मालूम। मरहूम उस्ताद विलायत हुसैन ख़ां के कथनानुसार वे एक बहुत गुणी संगीतकार थे और दिल्ली के समीप ही किसी जगह के रहने वाले थे। अपने समय में वे हिंदुस्तान-भर में मशहूर थे। ख़याल, तराना और चतुरंग गाने में बहुत माहिर थे। वे खुद अपनी बंदिशें बनाते थे और जो हमेशा बड़े मुश्किल रागों में होती थीं। पच्चीस-तीस साल पहले तक आगरा, दिल्ली और पटियाला घरानों के संगीतकारों की बंदिशें गाते थे। राग सादरा, बहार, लक्ष्मी तोड़ी और ऐमन में गाये गये उनके गीत बहुत लोकप्रिय थे और पुराने उस्ताद उन्हें अक्सर गाते थे। वे उस्ताद बड़े चांगे ख़ां के समकालीन थे और कई दरबारों में उन्हें आदर-सम्मान प्राप्त था। उनके बहुत से शिष्य थे, जो बहुत प्रसिद्ध हुए, लेकिन उनमें सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित तानरस ख़ां थे। मियां अचपल की मरण-तिथि 1860 ई. बतायी जाती है।

दिल्ली घराने के कुछ अन्य महान संगीतकार थे—सादिक़ ख़ां, बहादुर ख़ां, दिलावर ख़ां, बाबा नसीर अहमद, पन्नालाल, गोसाईं श्रीलाल, नूर ख़ां, वज़ीर ख़ां, अलीबख़्श ख़ां, मुहम्मद सिद्दीक़ ख़ां और निसार अहमद ख़ां। यह घराना और बहुत से संगीतकारों पर भी अपने से संबंधित होने का दावा करता था, जो दिल्ली के आसपास के इलाकों में रहते थे।

पन्नालाल गोसाईं का संबंध वृंदावन के गोसाईं घराने से था, लेकिन वे दिल्ली आकर बस गये थे। पन्नालाल गोसाईं सितारनवाज़ थे और हिंदुस्तान के मशहूर बिनकार और सितारनवाज़ उनसे इस्लाह (संशोधन) लेते थे। इस्लाह लेने वालों में बरकत उल्लाह ख़ां और बंबई के बिनकार मंगेश और तेलंग जैसे नामवर कलाकार थे। गोसाईं श्रीलाल वगैरा का गाने में अपना वाजब नहीं था। उनकी बनायी हुयी द्रुत की तुमरियां इतनी लोकप्रिय हुईं कि बड़े कलाकारों के जवाब

नाटक कंपनियों और फ़िल्मों में भी गायी गयीं। उदाहरण के लिए 'बाट चलत नयी चुनर रंग डारी रे' और राग बहार की रचना 'संगन बिन गगन बिन पवन चलत पुरवाई माई।'

मम्मन ख़ां का दिल्ली घराना

एक दिल्ली घराना मम्मन ख़ां का भी था। उसके संस्थापक सगी ख़ां सारंगीनवाज़ थे। मशहूर संगीतकार बुंदू ख़ां, रमज़ान ख़ा, चांद ख़ां और उनकी संतान और शिष्य इसी दिल्ली घराने से संबंध रखते हैं।

इस ख़ानदान में उम्दा गवैये और साजिंदे पैदा हुए मगर मम्मन ख़ां और बुंदू ख़ां ने असाधारण ख्याति अर्जित की।

उर्दू से हिंदी रूपांतर : नूर नबी अब्बासी, 'दिल्ली जो एक शहर है' (1991) प्रकाशक : हिंदी अकादमी, दिल्ली से साभार।

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के क़ब्ज़ उर्दू नस्र¹ का आगाज़-व-इर्तिका²

लुत्फ़-उर-रहमान

उर्दू मगरबी³ हिंदी की एक शाख़, खड़ी बोली की तरक्कीयाफ़्ता शक्ल है जिसको सदियों के लिसानी⁴ तग़य्युरात⁵ के नतीजे में हिंदगीर पैमाने पर लिंग्वाफ़्रेंका की हैसियत हासिल हुई। आगे चलकर यही ज़बान मुशतरका⁶ हिंद इस्लामी कल्चर की तर्जुमान⁷ बनी। लेकिन बाज़ाफ़्ता अदबी सरगर्मियों के इत्बार से दकन को उर्दू के पहले मरकज़ की हैसियत हासिल है।

उर्दू कई नामों से मौसूम⁸ रही है। दकनी, हिंदी, हिंदवी, हिंदुस्तानी, गूजरी, रेख़्ता, उर्दू-ए-मुअल्ला और उर्दू। अब्दुल कादिर सुरूरी के मुताबिक़ :

‘उर्दू जैसे-जैसे मुख़्तलिफ़ इलाकों में फैलती गयी, उस मुक़ाम से वो मौसूम की जाती रही। चुनांचे गुजरात में उसे हिंदी और गूजरी के नामों से मौसूम किया जाता था। दकन में वह दकनी से मौसूम की गयी।’

(उर्दू की अदबी तारीख़, पृ. 78)

नसीरउद्दीन हाशमी भी इस ख़याल की ताईद⁹ करते हैं :

‘दकन में यह ज़बान हिंदी और दकनी से मौसूम होती रही है। क़दीम¹⁰ से क़दीम दकनी शुअरा¹¹ और मुसन्नफ़ीन¹² ने इसको हिंदी और दकनी के नाम ही दिए हैं। बारहवीं हिजरी¹³ तक भी दकनी और हिंदी का नाम राइज¹⁴ था।’

(दकन में उर्दू, पृ. 37)

बोलचाल की हैसियत से यह ज़बान अमीर खुसरो के ज़माने में हिंदगीर-मक़बूलियत¹⁵ हासिल कर चुकी थी। यही नहीं उसमें जमालियाती¹⁶ सरगर्मियों के इम्किनात³ भी रौशन हो गये थे। बाज़ा⁴ मुहक्कीन¹⁷ के मुताबिक़ मसऊद साद सलमान ने हिंदी में भी एक दीवान मुरत्तिब⁶ किया था। मसऊद साद सलमान का ज़माना 1046/1121-22 पर मुशतमिल¹⁸ है। मुहम्मद ने ‘लुबाब-उल-अलबाब’ में मसऊद साद सलमान के अरबी, फ़ारसी और हिंदी दीवान का तज़्किरा⁹ किया है (1, 2, दकन में उर्दू, पृ. 49)। अमीर खुसरो ने 1294 ई. में अपनी किताब ‘ग़रतुल कमाल’ में उसके फ़ारसी दीवान के साथ ही ‘दीवान हिंदीवी’ का भी ज़िक़्र किया है (दकन में उर्दू, पृ. 49)। मसऊद साद

1. गद्य, 2. शुरुआत और विकास, 3. पश्चिमी, 4. भाषायी, 5. बदलाव, 6. संयुक्त, 7. प्रतिनिधि, 8. परिचित, जानी गई, 9. समर्थन, 10. प्राचीन, 11. कवियों, 12. लेखकों, 13. इस्लामी सदी, 14. प्रचलित, 15. लोकप्रियता, 16. सौंदर्यबोध के, 17. संभावण, 18. कई, 19. शोधार्थियों,

सलमान के बाद शेख़ फ़रीदउद्दीन गंज शकर (1173-1265 ई.) उर्दू में तख़लीकी-तजुर्बी¹ के इत्बार से काबिले-ज़िक्र हैं। उनके मलफूज़ात² का तज़िकरा मौलवी अब्दुल हक़ ने अपनी किताब 'उर्दू की इब्तिदाई नशो-नुमा में सूफ़ियाए-किराम का काम' में किया है। मसरूद साद सलमान और फ़रीदउद्दीन गंज शकर के दरमियानी अर्से में उर्दू में अदबी सरगर्मियों की शहादत³ नहीं मिलती। मुमकिन है कि इस दरमियानी मुद्दत में कुछ तजुर्बे किए गए हों। लेकिन वो इन्तिशार ज़माना की नज़र हो गए। फ़रीदउद्दीन गंज शकर के साथ ही शेख़ हमीदउद्दीन नागौरी (1193 से 1274 ई) भी इस जिहद से काबिले-ज़िक्र हैं। सूफ़ियाए किराम अपने ज़माने की अवामी बोलचाल से गहरा राब्ता रखते थे। घरों, मुरीदों और अवाम के दरम्यान उनका ज़रिया-ए-इज़हार यही ज़बान थी। लेकिन यह तख़सीस सिर्फ़ ख़ि़त्ता-ए-दकन को हासिल है। शुमाली-हिंद में इस ज़बान को उस अहद तक वो अवामी मक़बूलियत हासिल न हो सकी थी, जो दकन में हासिल हुई। शुमाली हिंद में फ़ारसी ज़बान को सरकारी और दफ़तरी ज़बान का दर्जा हासिल था। मआशरती-सतह⁴ पर फ़ारसी ही मक़बूल ज़रिया-ए-इज़हार थी। इसके बरक्स दकन में उर्दू ज़बान को बहमनी दौर में सरकारी और दफ़तरी ज़बान की हैसियत हासिल हो गयी थी, जिसने इसकी हमाजिहत तरक्की की राहें हमवार कर दीं।

सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ के दकनी उमरा ने 1347 ई. में मर्कज़⁵ से बगावत करके एक आज़ाद बहमनी रियासत की बुनियाद डाली। हसन ख़ान ने ज़फ़र ख़ान अलाउद्दीन बहमन शाह के ख़िताब के साथ दकन में खुद-मुख्तारी का एलान किया, उसके साथ ही उस ज़माने की, दकनी ज़बान को भी लिसानी खुदमुख्तारी हासिल हुई। चूँकि बहमनी सल्तनत के इलाकों में तिलंगी, मरहठी और किन्नर ज़बानें मरव्वज⁶ थीं याने बहमनी क़लम रौ में महाराष्ट्र, तिलंगाना और कर्नाटक के इलाके में। इसलिए बहमनी सलातीन ने इलाकाई और लिसानी कशमकश से निजात पाने के लिए दकनी ज़बान को सरकारी ज़बान बना दिया।

'बहमनी ख़ानदान के आख़िरी बादशाह सुल्तान मुहम्मद शाह (1483 ई.) की रिहलत⁷ के साथ ही बहमनी हुकूमत का शिराज़ा बिखर गया और पांच खुद मुख्तार रियासतें वजूद में आयीं।'

डॉ. तबस्सुम काश्मीरी के मुताबिक़ इन रियासतों की तश्कील⁸ और मुद्दत-सल्तनत इस तरह है :

- (1) इमाद शाही (बरार, 1490-1574 ई.), (2) निज़ाम शाही (अहमद नगर, 1498-1633 ई.), (3) बरीद शाही (बीदर, 1525-1609 ई.), (4) आदिल शाही (बीजापुर, 1491-1686 ई.), (5) कुतुबशाही (गोलकुंडा, 1518-1687 ई.)।

(उर्दू अदब की तारीख़, डॉ. तबस्सुम काश्मीरी, पृ. 108)

इन आज़ाद रियासतों में बतौर ख़ास कुतुबशाही और आदिलशाही सलातीन की सरपरस्ती में उर्दू ज़बानो-अदब को ग़ैरमामूल तरक्की हासिल हुई। जमील जालबी रक़मतराज़⁹ हैं :

'बहमनी दौर हुकूमत में शाही दफ़तर हिंदवी ज़बान में कर दिये गये थे। यूसुफ़ आदिल शाह

1. संपादित, 2. आधारित, 3. चर्चा, 4. रचनात्कब-अनुभवों, 5. कृतियों, रचनाओं, 6. चिन्ह, 7. आर्थिक-स्तर, 8. केंद्र, 9. प्रचलित

ने अपने ज़माना-ए-हुकूमत में हिंदवी (क़दीम उर्दू) को हटाकर शाही दफ़तर फ़ारसी में कर दियो। लेकिन इब्राहिम शाह अक्वल¹ ने शाही दफ़तरों को फिर से उर्दू में कर दिया। 'तारीख़-फ़रिश्ता' से भी इसकी तस्दीक़ होती है।'

(तारीख़ अदब उर्दू, डॉ. जमील जालबी, पृ. 185)

खाफ़ी ख़ान भी इस बाब² में यही कहता है :

'इब्राहिम आदिल शाह दफ़तर फ़ारसी कि बजाय दफ़तर हिंदवी जदो-पिदर इक़रार दाद : बूदंद बरतरफ़ ममूदः बदस्तूर साबिक़ हिंदवीं मुक़रर नमूद।'

(वही)

आगे चलकर जमील जालबी लिखते हैं :

'इब्राहिम आदिल शाह अक्वल (1538-1557 ई., 945-965 हिजरी) के बाद अली आदिल शाह अक्वल (1557-1580 ई., 965 से 988 हिजरी) ने फ़ारसी को फिर दफ़तरी ज़बान बना दिया। लेकिन अदब-व-शेर की सरपरस्ती बदस्तूर कायम रही। जब इब्राहिम आदिल शाह सानिल मआरूफ़ जगतगुरु (1580-1627 ई., 988 से 1037 हिजरी) तख़्तनशीं हुआ तो उसने दफ़तरों में उर्दू को दोबारा राइज किया। और उसके बाद आदिल शाही हुकूमत के ज़वाल तक उर्दू ज़बान ही हुकूमत के दफ़तरों की ज़बान रही।'

(वही)

ज़ाहिर है कि सरकारी ज़बान की हैसियत से सल्तनत के सारे कारोबार नस्र ही में अंजाम दिए जाते होंगे। यहां शाइरी की गुंजाइश नहीं लेकिन ऐसे तमाम आसार हंगामा-आराइयों की नज़र हो चुके हैं। उर्दू नस्र के इब्तिदाई नमूनों में सिर्फ़ सूफ़ियाए-किराम के मलफूज़ात, तस्नीफ़ात³ रह गयी हैं। जिनसे साबित है कि उर्दू में नस्रनिगारी का आगाज़⁴ दकन में हुआ।

एक अर्से तक ख़्वाजा बंदानवाज़ गेसूदराज़ (1421 ई. और 825 हिजरी) से मनसूब 'मिराजुल आशीक़ीन' को नस्र का पहला नमूना समझा जाता रहा। लेकिन डॉ. हफ़ीज़ क़तील की तहक़ीक़ के बाद यह नुक्ता-नज़र मनसूख़⁵ हो चुका है। अब तक की तहक़ीक़ के मुताबिक़ उर्दू नस्रनिगार का इब्तिदाई सुराख़ बुरहानउद्दीन जानम के यहां मिलता है। शाह बुहरानउद्दीन जानम (1582 ई. से 990 हिजरी के लगभग) मिराजी-शम्मुल अशाक़ के फ़रज़ंद और जानशीं थे।

उनका एक रिसाला 'मआरफ़तुल-कुलूब', दूसरा हशत मसाइल से मौसूम है। 'मआरफ़तुल-कुलूब' की नस्र का नमूना दर्ज-ज़ैल⁶ है :

'बिस्मिल्लाह नानों अल्लाह का अररहमान मेहरबान अररहीम, बख़्शी नहार और बख़्शानिहारा। सरानानो अज़ नाख़ुदा, कौन बहोत कि ओर परवरिश करनिहारा तमाम आलम कौन।'

'जान ऐ सालिक पहचानत करना शरिअत का होर हक़ीक़त का होर तरीक़त का होर मआरिफ़त का उस में ब्यान तमाम है कि नफ़ा पाने के बदल आलिमां कौं होर आशिकां कौं, कौ होर वस्लां कौं। अब तो सब कौं तसल्ली दिखलाता है, होर दिल कौं। इन पर कि राहत पाते हैं।'

(दकन में उर्दू, पृ. 256)

1. प्रथम, 2. मृत्यु, 3. लेख-आलेख, 4. आरंभ, 5. रद्द, 6. निर्माकित ।

शाह जानम के दूसरा रिसाला 'हशत मसाइल' की नम्र देखिये :

'पैगंबर सल्लल्लाहो-अलैहे वसल्लम कौं मिराज हुआ तब मुहम्मद (स.) रसूल-अल्लाह अलैहिस्सलाम ने सवाल किये कि सात तबक आस्मान होर। सात तबक ज़मीन क्या क़दीम है या जदीद है। जवाब खुद कहिय्या ऐ हबीब मन ई हमाजदीद आफ़रीदा शुरु सवाल तो कुछ न था तो क्या था। जवाब तजा-सूं में था।'

(वही, पृ. 257)

शाह बुरहानउद्दीन जानम की एक मशहूर किताब 'कलमतुल-हक़ायक़' है जो 1582 ई., 990 हिजरी के क़ब्ल की तस्नीफ़¹ है। यह भी 'मसाइल-तसव्वुफ़' पर मबनी² है। सवाल और जवाब के अंदाज़ में लिखी गयी है। इबारत का नमूना दर्ज ज़ैल हैं :

'सवाल कि खुदाए-तआला अव्वल थे। अव्वल क्यों हैं, जवाब क़दीम थे। क़दीम अव्वल थे। अव्वल अपीन था, सवाल कि क्यों था, कहां था, जवाब बेचून व बेचगुना था, वचून, वचराना बायद गुफ़्तन व लेकिन हस्तीयाफ़ील अशक़ वल अशबा सवाल ऊ कहां था। कहीं तो तआल्लुकात जागा मोल धरता था भी, जवाब तेरे भी वक्त सूं तआल्लुकात धरता है तो उस शै का आफ़रीद गा रोहच जान और जागा सबका आफ़रीदगार, वही पच्छान उस थे अव्वल और अव्वल का भी अव्वल व आख़िर क़दीमो-जदीद सब उस थे। बेज़बान होता उस थे बोल में आया कि अव्वल थे अव्वल है जुमला मख़लूकात थे, लामकां है।'

(दकन में उर्दू, पृ. 257)

'कलमतुल हक़ायक़' से उनके उसलूब का अंदाज़ा भी मुमकिन है। वो अपनी ज़बान को गुजरी से मंसूब करते हैं। जो क़दीम उर्दू की एक उरफ़ियत है। 'कलमतुल हक़ायक़' के दर्जजैल इब्तिदाई जुमले मुलाहिज़ा कीजिए :

'अल्लाह करे सो होय कि क़ादिर तवाना सोय क़दीमुलक़दीम का भी करनहार। सहज-सहज सो तिरा ठारोसहज हुआ भी। तूज तही बार जिधां कुछ नहीं। यही था तहीं। दूसरा शरीक कोई नहीं। ऐसा हाल समझना खुदातही। खुदा कौं जिस पर करम खुदा की होय। सबब यूं ज़बान गुजरी नाम ई किताब 'कलमतुल 'हक़ायक़' खुलासा ब्यां-व-तजला-ए-अयां रौशन शवद कि खुदाए तआला क़दीम-उल-क़दीम क्यों था। जात-व-सिफ़ात-व-कुल-मख़लूकात इब्तिदा व इत्तिहा बाक़ी-व-फ़ानी क़दीम-व-जदीद बाहमा-व-बेहमा, बदीं सबब सवाल-जवाब रोशन कर दिखलाया हुए। इंशाअल्लाह तआला कि खुदाए तआला आलमुलमूब वलशहादत खुदाएतआला की नज़र इदराक करनहारी है। जुमला मख़लूकात पर हमारी नज़र नहीं अनपड़ निहारी है। जात क़दीमी पर कि अगर उसकी कोई क़दीमी पूछे तो शरीक खड़ा कर दिया।'

(तारीख़ अदब उर्दू, जमील जालबी, पृ. 212)

बुरहानउद्दीन जानम की एक दूसरी मशहूर तस्नीफ़ 'रिसाला-ए-वजूदिया' है। जिसकी ज़बान निस्बतन ज़्यादा तरक्कीयाफ़ता है। दर्जजैल इक़तबास³ देखिए :

'ऐ तनोवाजिब-उल-वजूद कहे सो यानी करने करना इस वजूद पर लाज़िम हुआ है, आदमी

1. रचना, 2. आधारित, 3. उद्धरण ।

पर ज्यूं बारह बरस का हुए लग फ़र्ज लाज़िम नहीं इस मानी-ओ-वाजिब-उल-वजूद कहे यानी लाज़िम उल-वजूद जूं चावल का मोड़ फफता भरतस सूं तआल्लुक हैं यूं ना के खुदा-ए-तआला कूं वाजिब-उल-वजूद कहते हैं। वैसा ऐ अच्छे गा ओ वाजिब जात-सूं दाइम-व-काइम¹ है। मुक़ाम शैतानी यानी हलाल होर हराम यक कर समजना सू बात यानी खुदा कर वख्या निगाहयकर वख्या। दोनों समज कर मिलना सू। जिक्र जली, यानी खुदा का याद करना इस तन सूं। जाहिर सो। नफ्स अम्मरः, यानी खुदा मना क्रिया ओ करो...मंज़िल ना सूत यानी हैवानात की सिफ़त होना खाना पीना भागना वले किसी की ख़बर नहीं। यूं खुदा की याद में अपसीं फ़रामोश करना सू। दूसरा तन मुमकिन उल-वजूद यानी रूहानी तन फ़रिश्ते का ऐसा होर का ऐसा इस तन में ओतन है सौ बाट। तरीक़त यानी बातिन में इस तन लग अनपढ़ नां सू। जिक्र क़ल्बी यानी इस तन सूं याद करना खुदा का यानी दिल की ज़बान सूं सो। अक्ल-व- हम यानी मुहम्मद (स.) के नूर में खुदा की जात यूं है ज्यूं फूल में बास यूं समज कर आया हो। ममतना-उल-वजूद यानी बसर अंधारी रात में ज्यूं घरां झाडां पाडां नांदसीं यूं करना सौ बाट।”

(तारीख़-व-अदब, डॉ. जमील जालबी, पृ. 212-213)

जानम के बाद उर्दू नस्र के इर्तिका में शाह महमूद-उल-हक़ खुशवहां का जिक्र आता है खुशवहां जानम के ख़लिफ़ा थे उनकी वसियत के मुताबिक़ उनके फ़रज़ंद शाह अमीन-उद्दीन-आला² के अतालीक़ और पीर-तरीक़त रहे। जानम की नस्री-रिवायत को इन्होंने मज़ीद आगे बढ़ाया और कलमतुल-हक़ायक़ की तर्ज़ पर एक रिसाला लिखा। जो रिसाला महमूद खुशवहां बीजापुरी से मौसूम है। इसका मौजूं भी तसव्वुफ़ और शरिअत है और उसलून-मकालमती खुशदहां की नस्र जानम की नस्र के मुक़ाबले में निस्बतन तरक्कीयाफ़ता और नज़्मो-तर्तीब³ से अरास्ता⁴ है। नमूना दर्जजैल है :

‘अव्वल जिक्र जली अल्लाह का नाऊं जाहिर के अजा सूं, जिक्र कल्बी बातिन की ज़बान सूं, हमेशा बाद-अजां जिक्र रूही मुशाहदा इस तरीक़ सूं। अव्वल मुरशिद की सूरत दिल में मुकाबला पकड़ना, इस सूरत कों देखना सो रूह का नज़र है। इस दिल में यूं बोलना कि सूरत कों देखता सूं कौन। क्या नज़र पाक है। अजीब लतीफ़ बाद-अजां इस सूरत पर ते नज़र साबित करना। अलहिदा नज़र मुअल्लक़ रखना। चंद रोज़ उसका कसरत करना ता नज़र कहे कि मैं अलहिदा नज़र हूं। जाहिर-बातिन यक हुए। बाद-अजां भी इस नज़र की क़रार देना कि यूं तो इसका है मैं नहीं। इस वज़ा सूं चंद रोज़ गुज़रे तो वहम खुदा का दूर होयेगा तो वो नज़र नूर होवे। उसमें दीदार विसाल-व-फ़ना-व-बका हासिल होयेगा। यहाँ इश्क़ मुहब्बत ज्यादा होये। सरीं जिक्र सू इश्क़ है। दीदार देवेगा। कहा है पाक खुदा की तजल्ली लतीफ़ मुशाहदा नूर की नज़र में हूर हाल-हाल ख़फ़ी जिक्र है।’

(तारीख़ अदब उर्दू, डॉ. जमील जालबी, पृ. 307-308)

जानम और खुशवहां के बाद उर्दू के इब्तिदाई नस्रनिगार⁵ की हैसियत से शाह अमीनउद्दीन आला क़ाबिले-जिक्र हैं। अमीनउद्दीन शाह बुरहानउद्दीन जानम के फ़रज़ंद और जानशी⁶ थे, उन्होंने कई

1. जीवित और स्थिर, 2. ज़्यादा, अतिरिक्त, 3. क्रम, संपादन, 4. व्यवस्थित, 5. गद्यकार, ग्रन्थलेखक, 6. पुत्र और उत्तराधिकारी ।

रिसाले मसाइल-तसव्वुफ़ पर कलमबंद किये हैं। एक रिसाला 'गुफ़तार शाह अमीन' और दूसरा 'गंजमख़फ़ी' है। दकनी नस्र में तरसील-व-इब्लाग़ की जिहत से उर्दू की क़बूलियत आम बख़शने में शाह अमीनउद्दीन आला नाक़ाबिले फ़रामोश अहमियत रखते हैं। डॉ. तबस्सुम काश्मीरी का दर्ज-ज़ैल तबसिरा-मारूज़ियत का हामिल है।

'दकनी नस्र में जिस शख़्स ने इब्लाग़ मसले पर शऊरी तौर पर तवज्जो करके नस्र की इल्मी सतह पर क़ाबिले-कबूल बनाया। वो शम्मुल अशाक़ मीरां जी के पोते अमीनउद्दीन आला हैं। उनकी तवज्जा से बीजापुरी नस्र एक नए मुकाम पर जा पहुंची। और उसमें नए इम्किनात रौशन हो गए।'

(उर्दू अदब की तारीख़, डॉ. तबस्सुम काश्मीरी, पृ. 126)

आला की मशहूर तस्नीफ़ 'कलमतुल असरार' इस अहद की नस्र का एक दिलकश नमूना है और दकनी नस्र की इर्तिका में एक अहस संगमिल की हैसियत रखता है। दकनी और फ़ारसी के इम्तिज़ाज से उनकी ज़बान में रवानी, सफ़ाई और सलासत आ गई है। डॉ. हुसैनी शाहिद जानम और आला के उस्लूब के तकाबली-तजज़िये के बाद इस नतीजे पर पहुंचे हैं :

'शाह बुरहानउद्दीन 'जानम' के रिसाला 'कलमतुल-हक़ायक़' से हज़रत 'अमीन' के इस नस्री रिसाले का मुकाबला किया जाए तो अंदाज़ा होगा कि हज़रत 'अमीन' को मरबूत नस्र लिखने का किस दर्जा सलीका था और उन्हें अपने बाप के मुकाबले में ज़बान और इज़हार पर कितनी क़दरत हासिल थी। 'कलमतुल-हक़ायक़' की ज़बान उखड़ी-उखड़ी, कावाक और उलझी हुई है। जुमले नामुकम्मिल, अधूरे और ग़ैर-मरबूत हैं और इबारतें बयान के तसल्सुल और ख़्यालात की तर्तीब से आरी हैं। अज्ज ब्यान का ये आलम है कि मुसन्निफ़ को कदम-कदम पर अशआर का सहारा लेना पड़ता है। इसके बरख़िलाफ़ हज़रत 'अमीन' की ज़बान सुलझी हुई है। जुमले चुस्त और 'फुकरे' दुरुस्त हैं रब्त-व-तसल्सुल शुरू से आख़िर तक काइम रहता है और वो इब्तिहाई अदक़ मौजूं और पेचीदा मसले को न सिर्फ़ सीधी-सादी और मरबूत नस्र में बयान कर सकते हैं बल्कि मानी और मफ़ाहिम के समंदर को कोज़े में बंद करने में भी क़ादिर हैं।

चुनांचे ज़ेरे-नज़र रिसाला उसकी बेहतरीन मिसाल है। यह एक ऐसा मौजूं है जिस पर सैकड़ों सफ़हात स्याह किए जा सकते थे लेकिन हज़रत अमीन के उस सील बेकरां को दो सफ़हात के अंदर समो कर रख दिया है। इस इत्बार से वो ग्यारहवीं सदी हिजरी के कामयाब नस्रनिगारों में शुमार किए जा सकते हैं।

(उर्दू अदब की तारीख़, डॉ. तबस्सुम काश्मीरी, पृ. 1828)

हुसैनी शाहिद के तजज़िये के सबूत में दर्ज-ज़ैल इक़तबास को सामने रखना लाज़मी है।

'अरे भाई! उल्मा बोलते हैं कि क़यामत के दिन सातों तबक़ ज़मीन होर आस्मान होर जो कुछ इन दोनों के दरम्यान है और सब (टूटकर) नाबूद होयेगा तो उस वक़्त यहां से ता वहां से जैसे ला कहते हैं हीर जैसे नहीं बोलते हैं। वहीच अच्छेगा तो यहां भी इतना मालूम करना यूं सब आलम कू कहां-सू आयाथा होर कहां जागे गुमतो यहां भी इतना बोजा चाहिये कि जिस शै मैं सूं से सब आलम बाहर आया होर भी ऊस शैयी मेच गुम हुआ तो ऊस शैयी को नहीं

क्योंकर जानता होर। ऊस शैयी को नाबूद होर अदम क्योंकर बोलना। यहां तक अक्ल के अंखियां सों देख होर कुछ दिल सों समझ के चिराग का नूर कहीं सों पैदा हुआ भी कहां गुम हो गया और मैं अतिबाद कहां सों निकली होर कहां जाने समाती है। होर ये सब आवाज़ कहां सों निकलती है होर रूपी कहां जाके समाती है अहोर फ़ानी होती है।”

(वही, पृ. 127-128)

अमीनउद्दीन आला के मुनफ़रिद उसलूबे-नम्रनिगारी के सबूत में ‘कलमतुल असरार’ का मुंदरजा जैल इक़तबास दखिए :

‘मुरीद ने पूछा मुरशिद कामिल सों कि ऐ मुरशिद रहनुमा वाली हादी साहब ज़मान कलमा का क्या मआना है। सो बोले, होर मेहरबानी करके योर मज़ मुझ पर खोलो। तब मुरशिद ने फ़रमाए कि कलमा का ज़ाहिर मआना यू है कि नहीं कोई मआबूद बरहक् मगर अल्लाह है। होर मुहम्मद भेजे गए हैं ऊस मानीकों बरहक् कि जानना होर अल्लाह को एक कर मानना। तब ज़ाहिर का मुसलमान हुआ लेकिन कलमा का बातनी मआना और है। जब लग उस बातनी मआनी को नहीं समझया तब लग बातिल में मुसलमान नहीं हुआ। मिसाल ऊस का यू है कि सूरज की धूप देखकर मालूम किया कि सूरज है और होर धूप निकलती है। अगर सूरज न होता तो धूप न निकलती लेकिन सूरज कों देखा नहीं। यू मुहम्मद (स.) साहब के मुअज़्ज़ा देखकर मालूम किया कि अल्लाह है। तब मुहम्मद (स.) साहब के मुअज़्ज़े ज़ाहिर हुए अगर अल्लाह न होता तो मुहम्मद को कौन पहचानता और मुहम्मद के मोज़जे कहां से पैदा और ज़ाहिर होते। कलमा का ज़ाहिर मआना बूजकर इतना मालूम करे वा लेकिन खुदा को नहीं दखिया और मुहम्मद को नहीं पहचानया कि अल्लाह किसका नाउं होर मुहम्मद किसगा नाउं है। यू बात नहीं मालूम किया तो मुसलमान बातिल में नहीं हुआ। तब मुरीद ने यू बात सुनकर बहुत आज़जी सूं खड़ा रहकर मुर्शिद को सजदा किया होर कहा ऐ मुर्शिद बरहक् शताबी सूं कलमा का बातनी मआना बोला होर यू नुक्ता मुज पर बेगी सूं खोला गर नीं मुज पर बहोत बेकरारी है। होर यू दिन नहीं सब अधियारी है।’

(तारीख़ अदब उर्दू, जमील जालबी, पृ. 317-318)

इन इक़तबासात से ज़ाहिर है कि शाह अमीनउद्दीन आला की नस्री तस्नीफ़ात मज़हब और तसव्वुफ़ से तआल्लुक़ रखती हैं। इनकी अदबी और तख़लीक़ी अहमियत तो नहीं लेकिन उर्दू नस्र के इर्तिक़ा में इन तस्नीफ़ात के बुनियादी किरदार को नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता। जिसके नतीजे में उर्दू नस्र ने इर्तिक़ाई मंजिले तै कीं।

‘जानम’, खुशदहां और आला दकनी नस्र के आगाज़ व इर्तिक़ा में कलीदी अहमियत रखते हैं ये नस्रनिगारी बीजापुरी नस्री रिवायत के नुमाइंदा हैं, इन ही के दोश-ब-दोश कुतुबशाही अहद के नस्रनिगारों के कारनामे भी सामने आए हैं। कुतुबशाही दौर के सबसे पहले नस्रनिगार मीरां जी हुसैन खुदानुमा हैं। खुदानुमा शाह सुल्तान अब्दुल्लाह के अहद में शाही ख़िदमत पर मामूल थे। किसी सिफ़ारती ख़िदमत के सिलसिले में बीजापुर भेजे गए। जहां हज़रत अमीनउद्दीन आला से शर्फ़-बएँत व ख़िलाफ़त हासिल किया और हैदराबाद वापस आकर मुलाज़मात से किनारा कश हुए और रशद-व-हिदायत की मक़सद जिंदगी बना लिया। उनसे कई नस्री रिसायल मनसूब हैं। मीरां जी हुसैन

खुदानुमा (1595-1663 ई, 1004 से 1074 हिजरी) से मनसूब शरअ तम्हीदात हम्दानी, शरअ मरगूबूल कुलूब और रिसाला वजूदिया हैं। शरअ तम्बहीदात हम्दानी तसव्वुफ़ में है। उसके कई क़लमी नुस्खे हैदराबाद के अहम कुतुबखानों में मौजूद हैं।

तम्बहीदात हम्दानी अरबी ज़बान में है जिसका शरअ ख़्वाजा बंदानवाज़ गोसूदराज़ ने फ़ारसी में की थी। मीरांजी ने उसी 'शरअ' को उर्दू में तर्जुमा किया है। यह किताब सुलूक-व-मआफ़त-व-हदीस-व-कुरआन की शरअ-तफ़सीर में है। डॉ. जमील जालबी लिखते हैं :

'अब तक की मारी नस्री तहरीरों को देखकर (सिवाय 'सबरस' के) जब हम 'शरअ तम्हीदात हम्दानी' को देखते हैं तो यहां गोलकुंडा की शाइरी की तरह फ़ारसी उस्तूब का रंग-व-आहंग ग़ालिब नज़र आता है। जानम वाला का नस्र में जो हिंदुअत थी वो यहां नज़र नहीं आती। फ़ारसी ज़बान के असरात में तर्जुमे में सादगी पैदा कर दी है और उस तर्जुम की नस्र की मज़हबी नस्र की रिवायत से मिला दिया है।'

(तारीख़ अदब उर्दू, डॉ. जमील जालबी, पृ. 499)

मीरां जी खुदानुमा तम्हीदात हम्दानी की इबारत देखिए :

'ऐ दोस्त इश्क़ फ़र्ज़ है खुदा के अनपड़ने कों (कूँ), सब आलम पर। आह अफ़सोस! मगर खुदा का इश्क़ नहीं रख सकता है तो बारे अपनी पिछात का इश्क़ यति रख के क्या हों। या माटी हों या पानी हों या आग हों या बारों हो या खाली हों या नफ़्स हों या दिल हों या रूह हों या सर हों या नासूर हों। बारे ऐ कुदरत यति अपनी आशनाई की मालूम होवे तो ख़ूब है। आह अफ़सोस इश्क़ कों कोई क्या कह सकेगा। होर इश्क़ की निशानी कौन दे सकेगा। होर कोई सिफ़त क्या कर सकेगा। इश्क़ में 'पांव ओ रख सकेगा जे कोई अपस थी बेगाना है। सिवा व इश्क़ आगाह है। जिस जागा जाता है उसे जालता है। अपस बाज दूसरे कों रखता नहीं। अपना रंग करता है ...'

(तारीख़ अदब उर्दू, डॉ. जमील जालबी, पृ. 499-500)

डॉ. तबस्सुम काश्मीरी लिखते हैं :

'मीरां जी के उस्तूब में पेचीदगी कम से कम है। यह साफ़ सलीस और पुर इब्लाग़ है। जुमलों के रब्त में इज़हार-व इब्लाग़ की मुन्तक़ी रौ का सिलसिला उम्दगी से काइम रहता है। ख़्याल या नुक्ता-ए-नज़र बड़ी ख़ूबसरती से मुन्तकी अनजाम की तरफ़ रवां नज़र आता है। चूँकि वो तसव्वूफ़ के मज़ामीन बयान कर रहे थे इसलिए उस्तूब में कहीं-कहीं जज़्ब की कैफ़ियत भी महसूस होती है। जिससे नस्र में तख़लीकी सतह का रंग भी झलकता है। मीरां जी की तर्ज़ निगारिश में अक़ली तख़लीकी और फ़िकरी इम्तिज़ाज नज़र आता है। इसीलिए यह उस्तूब अपने अहद का नुमाइंदा उस्तूब समझा जाता था।'

(उर्दू अदब की तारीख़, डॉ. तबस्सुम काश्मीरी, पृ. 214-215)

डॉ. तबस्सुम काश्मीरी ने अपने दावे की दलील में मीरांजी की इबारत का दर्ज ज़ैल नमूना भी पेश किया है :

'जान कि इश्क़ क़दीम है दिल में जो कलेजा सब लहू सों भरया है यूँ जान होर इश्क़ तीं हैं। इश्क़ सगीर होर, इश्क़ कबीर होर, इश्क़ औसत इश्क़ सगीर। सो बंदियां का खुदा सों

मुहब्बत रखनी का होर इश्क़ कबीर भी खुदा का बंदया पर मुहब्बत रखया होर मंगया इश्क़ औसत म्याना दो के म्याने का राज़ है। दो में का लताफ़त इसका अंत नहीं इसका ब्यान नाखिया जासी कौला, तलाआ अल रहमान-अल-अलल अर्थ अस्तवी, इसका मआना खुदाए-तआला अर्श लग सीधा बाट खोलिया है। ऐ तन जियो के बराबर आया है। इस आलम में जियो यकीला नहीं है, जियो होर खुदा मिलकर आया है। मुहब्बत दिल में है इश्क़ जियो में है।

(वही, पृ. 215)

इसी अहद¹ में मौलाना अब्दुल्लाह भी गुज़रे हैं। उनकी नज़्मी किताब 'अहकाम-उल-सलात' की नज़्म देखिए :

'बात करने सूं नमाज़ जाता है नमाज़ में आदमियां की मिसाल दुआ मांगने नमाज़ जाता है ही वाह केने सूं नमाज़ जाता है नमाज़ में किसी की मौत की खबर सुनकर 'कालू इन्ना लिल्लाहे-व-इन्ना अलैहे राजअून' बोली सूं नमाज़ जाता है। खबर सुनकर नमाज़ जाता है। नमाज़ में सुब्हान-अल्लाह बोलती सूं नमाज़ जाता है। मुसअफ़ देख कर पर नेसों नमाज़ जाता है। नमाज़ में क़हक़हा हंसने सूं नमाज़ जाता है।'

रूह कब्ज़ हो इसी वक़्त इसकियां, इनकियां मोचना होर पांव दराज़ करना होर बात दराज़ करना होर दोनों पहलू की तरफ़ लेकिन सीने पर नार रखना होर इसी की थोड़ी होर और सरकू मिलकर बंदना इसे तबर नख्दां बोलते हैं। यू सब सुन्नत है। होर मरनी ते अब्बल इसकी सरकू कुतब के करना तरफ़ सताना होर मोए बाद अज़ इसी गुसल देना इसी तरीक़ सूं।

(दकन में उर्दू, पृ. 164)

सूफ़ियाना नज़्म की रिवायत² में मिरां याकूब का ज़िक्र भी नागुरेज़ है। मौसूफ़ मीरां जी हुसैन खुदानुमा के तर्बियत याफ़ता थे। इसका इज़हार उन्होंने अपनी किताब 'शुमाएल अल तक़या' में किया है:

'हमेशा अनों की इनायत की नज़र सूं परवरिश पाता था, होर दिन-दिन इस शऊर होर होश में आता था। जब बलूग़ियत में आकर दस्ते-बैत का नेमत पाया तब इर्शाद हुआ तलक़ीन की लज़ज़त सूं अघाया। शरिअत, तरीक़त के वज़ा-वज़ा (वज़आ-वज़आ) के मेवे चखाए, होर हक़ीक़त व मआरफ़त के ज़िंस-ज़िंस तमाशे दिखाए। मेरे जाहिर कू पाक किए, ज़िक्र होर मराक़बां सूं होर बातिन कू साफ़ किए फ़िक्र होर मशाहदियां सूं।'

(तारीख़ अदब उर्दू, पृ. 501)

'शुमाएल अल तक़या' तर्जुमा है, जो उन्होंने खुदानुमा के इन्तिक़ाल के बाद उनके फ़रजंद अली अमीन की हिदायत पर किया था। लिखते हैं :

'अपनी हयात के वक़्त में मंजे इशारत किए थे जो किताब 'शुमाएल अल तक़या' कू हिंदी ज़बान में लियावे ताहर किस कू समझिया जावे। इस वक़्त मंजे मनिया नहीं ता कि उनों यक हज़ार सत्तर पर आठवीं साल कू रिहलत किए बाज़ा अनू कि मांजे आरिफ़ हक़ रशीदे आरफ़ां के नूरे-दीदे मुस्तफ़ा के कलेजे मुर्तज़ा के नैन शाह मीरां इतने सैयद हुसैन सल्लामहा ही अब्दुल्लाह तआला के ख़िलाफ़त के ज़माने में लिखने का शुरू किया और 1084 हि.से 1673

1. दौर, युग, 2. परंपरा ।

ई. में मुकम्मल किया।’

(तारीख अदब उर्दू, डॉ. जमील जालबी, पृ. 501)

तबस्सुम काश्मीरी इस तर्जुमे पर दर्ज जैल तबिसरा करते हैं :

“शुमाएल अल तक़या’ के मुतर्जिम की बड़ी ख़ूबी यह है कि अपने इब्लाग़ के मसले पर खुसूसी नज़र रखी है। अदक़ मसाइल को भी इसने आसानी के साथ समझाने की कोशिश की है। तर्जुमा में बिला वज्हा की बनावट या मुतालिब की तरसील में रुकावट का एहसास भी नहीं होता इस तर्जुमे को एक अहम कामयाबी से ताबीर किया जा सकता है।”

(उर्दू अदब की तारीख़, डॉ. तबस्सुम काश्मीरी, पृ. 214)

तबस्सुम काश्मीरी ने मिसाल के तौर एक नमूना भी पेश किया है जो दर्ज जैल है :

‘जिस पत्थर पर साल में एक बार खुदा की नज़र होती है। उसका ज़ियारत करना फ़र्ज़ है तो दिल कर तवाफ़ (पहले ‘ते’ से तवाफ़ लिखा जाता था—अनुवादक) हो ज़ियारत करना इससे बेहतर है कि दिल पर हर रोज़ तीन सौ साट (साठ) बार खुदा के लुत्फ़ की नज़र है कौल ख़्वाज़ा बयज़ीद : दिल के लोकां का ज़ियारत करना बेहतर करना है सत्तर बार काबे की ज़ियारत करने थे। जाहिर का का’बा पत्थरां का है होर बातिन का का’बा इसरां का। वहां ख़ल्क़ तवाफ़ करते हैं। यहां ख़ालिक़ के करम हूर मद जो फेरा फिरते हैं वहां मुक़ाम है इब्राहिम ख़लील का यहां अब मकान है रब्बे जलिल का। वहां एक चश्मा है ज़मज़म, यहां के प्याले हैं मुहब्बत के दम-ब-दम।

(वही, पृ. 214)

इस अहद के एक नस्त्रनिगार नवाबउद्दीन आबिद शाह गुज़रे हैं। शेर-गोई से भी दिलचस्पी रखते थे। नस्त्र में इनकी किताब ‘कनजुल मोमनीन’ 1094 हि./ 1679 ई. के बाद की तस्नीफ़ है। इसमें फ़िका-हनफ़ी के मसाइल पेश किए गए हैं इबारत का नमूना देखिए:

‘सर अना और तारीफ़ करना सज़ावार है अल्लाह तआला कूँ औ पैदा किया है। तमाम खलक़त कूँ, बआदा ऐ अज़ीज़ इस किताब का नाम ‘कनजुल मोमनीन’ रखा हूँ, इसका मआना मोमिन का गंज ख़ज़ाना है। इस किताब के बनाने वाले का नाम फ़कीर हकीर अहक़र उलअबाद नवाब उद्दीन आबिद शाह और मेरे पीर का नाम अबुयुसुक़ रूहानी शाह राजू हुसैनी अलहसनी कुदसुल्लाह सरा बाद ऐ अज़ीजान इस किताब को दकनी में करके हल्का नहीं समझो। इसे बड़े-बड़े फ़िका....मसला जमा करके लिखा हूँ।’

(दकन में उर्दू, पृ. 169)

आबिद शाह के एक हमअस्र शाह सुल्तान शाइर भी थे और नस्त्रनिगार भी। उनकी एक नस्त्री तस्नीफ़ ‘दारुलइसरार’ दस्तयाब है। ये तसव्वुफ़ में है। जिसका एक मख़्तूता कुतुब ख़ाना इदारा अदबियात उर्दू, हैदराबाद में मौजूद है। नमूनाए इबारत मुलाहिज़ा किजिए :

‘यानी ओ सुल्तान अपनी जात की दरया में छुपा राज गंज रखिया था, बक़ा के मोतियां का

1. हनफ़ी संप्रदाय के धार्मिक मामलों ।

उजाला, देक कर आशिक़ हुआ, होर मसलिहत तज्वीज़ में आया, जो राज़क मोती छुपाकर रखिया ख़ूब नहीं।’

(दकन में उर्दू, पृ. 170)

दकनी नस्र की सबसे अहम तस्नीफ़ मुल्ला वजही की ‘सबरस’ है। इसका सन् तस्नीफ़ 1045 हि/1665 ई. है। सबरस दास्तान हैं। लेकिन ये तबाज़ाद तख़लीक़ नहीं, बल्कि महय्या इब्न सैबक फ़ताही निशापुरी की फ़ारसी तख़लीक़ ‘हुस्न-व-दिल’ से माख़ूज है। ‘हुस्न-व-दिल’ फ़ताही की तवील मस्नवी ही। ‘दस्तूरे अशशाक़’ का खुलासा है। सबरस का मौजू भी, गर्च तसव्वुफ़ और इख़लाक़ ही है लेकिन इसे दास्तानी रंग में पेश किया गया हैं चुनांचे इसकी अदबी अहमियत मुसल्लम है। ये तर्जुमा ज़रूर है लेकिन मुल्ला वजही ने इसमें तख़लीकी जोदत का सबूत दिया है जिसने इसे एक अदबी और तख़लीकी कारनामे की हैसियत बख़्श दी है ‘सबरस’ का उस्तूब मुक़फ़ा नस्र की एक ख़ूबसूरत मिसाल है। जिसमें खुद बकौल ‘वजही’ नज़्म-व-नस्र का इम्तिज़ाज है। लिसानी इत्बार से ये बेहद तरक्कीयाफ़ता नस्र का नमूना है जिसमें नस्र की तक़रीबन तमाम बुनियादी ख़ूबियां मौजूद हैं। डॉ. तबस्सुम काश्मीरी लिखते हैं :

‘दरहकीक़त वह एक मुरस्सा साज़ था। शाइरी से फ़ितरी और तहज़ीबी मुनास्बत का शऊर उसे मुरस्सासाज़ी पर माइल किए रहा। उसके सामने फ़ारसी नस्र के जितने भी नमूने मौजूद थे उनमें मुरस्सासाज़ी ही का शऊर झांकता था और वजही इस शऊर और रिवायत से ही वास्ता रहकर इंशा-ए-परवाज़ी के जौहर दिखाता है।’

(उर्दू अदब की तारीख़, डॉ. तबस्सुम काश्मीरी, पृ. 192)

सबरस का नमूना-ए-इबारत जैल में मुलाहिज़ा किजिए :

(1) सबा'ह के वक़्त बैठे तख़्त यकायक ग़ैब ते रम्ज़ पाकर दिल में अपने कुछ किया कर, वजही नादिर (८) मख़तूता, कुतुब ख़ाना सालार जंग फ़ेहरिस्त मख़तूता सफ़ा-6 (८) तज़किरा मख़तूतबत जिल्द अव्वल सफ़ा 368।

फ़न कूं, दरयादिल, गौहर सुख़न कूं, हुज़ूर बलाये, पान दिये, बहोत मान दिए होर फ़रमाये कि इंसान के वजूद दीचा में कुछ इश्क़ का बयान करना, अपना नाऊं अयां करना, कुछ निशान धरना, वजही बहूगनी, मनभरया, तस्लीम कर कर सर पर हात धरया बहोत बड़ा काम अंदेशा, बहोत बड़ी फ़िक्र करया। बुलंद हिम्मती के बादल ते दानिश के मैदान में गिरफ़तारां बरसाया। बादशाह के फ़रमाने पर चिंतित नवी तक़ती बतिया कि अंगे कि आन हारे, हमें भी कुछ थे कर समजें बारे। हमारे गुन कूं देखे सो हमना देखे, गंगा देख सू जमना देखे।’

(तारीख़ अदब उर्दू, डॉ. जमील जालबी, पृ. 443-444)

(2) ‘रिज़क कहा कि यहां तू क्यों आया? कौन तुजे यहां ले आया? कौन तुजे यू बाट दिखलाया? यहां क्या है तेरा काम? हैरान हूं मैं नहीं होता फ़ाम। नज़र अपने दिल की गांट खो लिया। इस ताज़े आब-हयात का किस्सा बोलिया। रिज़क बोलिया आबहयात का चश्मा किन्ते सो। किस बाग में न किस क़त में है। वो चश्मा किन्ते सो बहिश्त में है। तू इस चश्मा कूं ढूँढता दुनया मयाने। लेकिन इसका निशा कोयी क्या कौन क्या जाने।’

(उर्दू अदब की तारीख़, डॉ. तबस्सुम काश्मीरी, पृ. 194)

उर्दू नस्र के आगज़-व-ईर्तिका में बिला शुब्हा दकन ने बुनियादी किरदार अदा किया है। लेकिन इस से यह नतीजा अख़ज़' करना ग़लत होगा कि हिन्दुस्तान के दूसरे इलाकों में उर्दू नस्र बेतवज्जही का शिकार रही। ये अलग बात है कि सियासी हंगामों, मआशरती आशोब और इमतिदाद ज़माना की वजह से शुमाली हिंद में उर्दू नस्र के नमूने दस्तयाब नहीं हो सके। लेकिन सरहद की उर्दू रिवायत में 928 हि/1521 ई. की एक ऐसी उर्दू नस्र की तस्नीफ़ का सुराग़ मिलता है जो 'ख़ैरुलब्यान' से मौसूम है। जमील जालबी लिखते हैं :

'उर्दू नस्र का क़दीम तरीन नमूना 'ख़ैरुलब्यान' मुसन्निफ़ा बयज़ीद अंसारी (मीम 980 हि/1512 ई.) में मिलता है। 'ख़ैरुलब्यान' में पीर रोशन बयज़ीद अंसारी ने अपने मख़सूस नुक्ता-ए-नज़र से अपने इस्लामी अक़ायद को पेश किया है और अपनी इस तस्नीफ़ में एक ही बात को चार ज़बानों में लिखा है। पहले अरबी में, फिर फ़ारसी में, फिर पश्तो में और उसके बाद उर्दू में बैक वक़्त चार ज़बानें इसलिए इस्तेमाल की गई हैं ताकि पीरोशान के अक़ायद व ख़्यालात सारी दुनिया-ए-इस्लाम, सूबा सरहद और बररा-अज़ीम में फैल सकें... ये नस्र अपनी क़दायत की वजह से आज भी लिसानी नुक्ता-ए-नज़र से ग़ैर-मामूली अहमियत की हामिल है। साढ़े चार सौ साल से ज़्यादा का अर्सा किसी ज़बान की तारीख़ में एक बहुत तवील अर्सा होता है।'

(तारीख़ अदब उर्दू, डॉ. जमील जालबी, पृ. 703)

बायज़ीद की नस्र का नमूना मुलाहिज़ा कीजिए :

(1) 'लिख किताब के आगज़ बयान जिनके सारे आखर सहन बिस्मिल्लाह तमाम। मैं न गिनवानूनगा मज़दूरी अन्हन की जे लिखें परन बिगारन अकहर कि तमकनी परन लिखें इसी कारन जे सही होये ब्यान... कुरआन में है (गाअयान)।'

(तारीख़ अदब उर्दू, डॉ. जमील जालबी, पृ. 703)

(2) लिख वो आखर जे सब जेब सहन जटर थबीं, इस कारन जे नफ़ा पाऊं ओ म्यान तूं सुब्हान है कुच का मैं नोंप जानता बन कुरआन के अखरे सुब्हान'

(3) 'लिखना आखर तुज़्ज़ सी है, दिखलावना और सिखलावना मुज़्ज़ सी है। लिख मेरे फ़रमान। सहन ज्यूं आखर कुरआन की पहन की पहन, लिख कोई आखर और परतमकना कि जज़्म कि और निशान जे वह आखर पहचानन, ओ मियां! लिख कोई आखर चार-चार अयान दर हां सिखने जे पढ़ें तो सांस निकालहन कोई दोर्यीं बचा आखर सहन ओ मियान।'

(तारीख़ अदब उर्दू, डॉ. जमील जालबी, पृ. 703-704)

जुनूबी हिंद के तीसरे दौर के नस्र के दो नमूनों का ज़िक्र नसीरउद्दीन हाशमी ने किया है। लेकिन इस सराहत के साथ कि अब इस दौर में नस्र की कोई अदबी किताब दस्तयाब नहीं हो सकी है। लेकिन तसव्वुफ़ फ़िक्का और तफ़सीर के बाज़ नमूने हमदस्त हैं ऐसा ही एक नमूना शाह वली उल्लाह क़ादरी की तस्नीफ़ का तर्जुमा 'मआरफ़त-उल-सुलूक' मौजूद है जो 1225 हि/1723 ई. में किया गया था। शाह वली उल्लाह का इन्तिक़ाल 1157 हि/1744 में हुआ। उनकी इबारत का नमूना देखिए :

1. संकलित ।

‘सिफ़त होर सराना बे गाइयत होर शुक्र करना बेनिहायत साबित है। ओस- वाजिब-उल-वजूद कूं। जो मुमकिन-उल-वजूद कूं ममतन-आ-उल-वजूद के दायरे में पैदा किया हो अपने वाजिब-उल-वजूद कूं उस दोनों वजूद सूं मौजूद होर जाहिर किया।’

‘होर हक़ की बात के तमाम मदई इसके ब्यान करने में कहलाना मतलूब हुआ। मरगूब सब सालकान होर तालबान का आवे। होर सालिक जो जलतिहात हक़ के बात का है सो इस शरअ तै फ़ायदा लेनहारा होले, होर नानों इस रिसाला का मआरफ़त-उल-सुमुलूक रखा, अनां आयद हज़रत जुलजलाल के दरगाह तै दो हस्त जो बो रिसाला मक़बूल होर मंज़ूर साहब दलां के नज़र में हुए।’

(दकन में उर्दू, पृ. 356)

डॉ. मुहीउद्दीन कादरी जोर ने तफ़सीर सूरा ‘इज़ाजआ’ के हवाले से लिखा है कि ये तफ़सीर 1150 हि/1737 ई. के क़ब्ल की तस्नीफ़ है। लिखते हैं :

‘रिसाले के मुतआले¹ से पता चलता है कि ये बजाय खुद एक किताब है और इसका मुसन्निफ़ कोई दकनी आलिम² है। जिसने कुरआन और हदीस का गहरा मुताअला किया है और जिसको लिखने का भी अच्छी महारत हासिल है। मुसन्निफ़ का नाम मालूम न हो सका। लेकिन ये रिसाला दकनी किताबों में खास अहमियत रखता है और इससे पता चलता है कि दकनी मुफ़स्सिरों ने कुरआन शरीफ़ की तफ़सीरें किस शरअ-व-बस्त के साथ लिखी थीं।’

(दकन में उर्दू, पृ. 356)

जोर ने मज़कूरा तफ़सीर का एक नमूना भी पेश किया है :

‘पैगंबर सल्लल लाहो अलैहे व आला व असहाबा वसल्लम के भेजने में खुदाए तआला की ये हिकमत थी कि मकारम इख़लाक़ को तमाम करना और बिना कलमा तौहीद के मज़बूत करना और दीन इस्लाम को जाहिर करना और ख़लायक़ की हिदायत करना। जिस वक़्त यह उमूर बावजह अहसन तमाम हुए तो खुदा-ए-तआला ने अपने रसूल सल्लल लाहो अलैहे वसल्लस पर ये आयत नाज़िल की :

.....

जिस वक़्त कि ये सूरा नाज़िल हुई तो हज़रत अब्बास रज़ि अल्लाह अनहा सुनकर रोये, हज़रत सल्लल लाहो अलैहे असहाबा वसल्लम ने पूछा कि ऐ अब्बास! तुम किस वास्ते रोये हो। हज़रत अब्बास (रज़ि.) ने अर्ज़ की या रसूल अल्लाह इसके नाज़िल होने से मालूम होता है कि आपके तयीं दुनया से सफ़र करने का हुक्म हुआ है।

.....

(दकन में उर्दू, पृ. 357)

शुमाली हिंद में उर्दू नस्त्र के बाज़ाब्ता तजरीदी इर्तिका की तारीख़ दस्तयाब नहीं। पीर रौशान के मज़कूरा-बाला³ नमूनों से वाज़े है कि शुमाली हिंद में भी उर्दू नस्त्र निगारी का सिलसिला रहा होगा। लेकिन जिसकी तफ़सील-व-तारीख़ दस्तयाब नहीं है। मगर अठारवीं सदी में शुमाली हिंद की तीन

1. अध्ययन, 2. विद्वान, 3. उपर्युक्त ।

ऐसी तस्नीफें इस तसव्वुर को तकवियत देती हैं कि इस इलाके में भी नस्निगारी का तजरीदी इर्तिक़ा हुआ होगा। शुमाली हिंद की मज़कूरा तस्नीफों में पहली तस्नीफ़ ईसा ख़ां की 'किस्सा महर अफ़रोज़-व-दिलबर' है दूसरी शाह आलम सानी का अजायब-उल-क़सस और तीसरी महर चंद खतरी लाहौरी का नौ आईन हिंदी यानी किस्सा यूसुफ़ मलिक और गेती अफ़रोज़ है।

किस्सा 'महर अफ़रोज़-व-दिलबर', 'अजायब उल क़सस' और 'नौ आइन हिंदी' यानी 'किस्सा यूसुफ़ गेती अफ़रोज़' ऐसी किताबें हैं जो बिलतर्तीब 1752 ई. (लगभग) 1790-91 ई. और 1794-95 ई. में तस्नीफ़ हो चुकी थीं। आख़िरी दो किताबें अठारवीं सदी की आख़िरी दहाई में लिखी गई थीं। इन किताबों का साफ़, सलीस और हमवार उस्तूब इस बात की शहादत देता है कि फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के क़रीबी अहद में वो नस्न अपनी शक़ल बना चुकी थी। जिसके लिए शोबाए हिंदुस्तानी का प्रोफ़ेसर गिलग्रिस्ट बेहद मताजस्सुस¹ था।"

(उर्दू अदब का तारीख़, डॉ. तबस्सुम काश्मीरी, पृ. 513)

'किस्सा 'महर अफ़रोज़-व-दिलबर' के मुरत्तिब डॉ. मसूद हुसैन ख़ां के मुताबिक़ ये किस्सा किसी वक़्त 1732 से 1759 ई. के दरम्यान लिखा होगा (किस्सा महर अफ़रोज़-व-दिलबर इशते-आम, दोयम, पृ. 18)।'

ये किस्सा अदबी अहमियत का हामिल है और शुमाली हिंद में उर्दू नस्न की इर्तिक़ाई सूरत है। मुरत्तिब ने इसका अदबी और लिसानी तजज़िया भी किया है। इसकी इब्तिदाई सतरें नमूना-ए-इबारत के तौर पर पेश की जाती हैं :

'अक़लीम हिंदुस्तान की में एक शहर था कि तसकाना नौ इश्क आबाद था। तस मैं हुकुम रवा उस जगह का आदिल शाह बादशाह था। हफ़्त अक़लीम के जौहर एक बादशाह थे सो पेशकश और नौकरी उसकी के में सब हाज़िर रहते थे। अताअब उसकी मानते थे। जहां तक कि मुल्क उसका था सो अदालत व इंसाफ़ और बख़्शिश-व-इनामात से कोई ऐसा न था कि किसी बात से मुहताज हुए और उस शहर के बीच में कद है। ईद और शादी न मालूम होती थी। क्योंकि ईद और शादी रात-दिन रहती थी और पोप बड़ा जो उस शहर में रहता था सो बसिवाय राग और नाच ऐश-व-इशरत के और दूसरी बात न जानता था।'

(किस्सा 'महर अफ़रोज़-व-दिलबर', पृ. 39)

शाहआलम सानी की तस्नीफ़ 'अजायब-उल-क़सस' का उस्तूब मीर अमन का बाग़-व-बहार' के उस्तूब से क़रीब है। इस दास्तान पर मौलवी ज़का उल्लाह का ये तबसिरा क़ाबिले तवज्जा है।

'इस किताब की ज़बान फ़साहत-व-सलासल में मीर अमन का किस्सा 'चहार दरवेश' से कम नहीं।

(उर्दू अदब की तारीख़, डॉ. तबस्सुम काश्मीरी, पृ. 512)

अजायब-उल-क़सस की नस्न का नमूना देखिए :

'दूसरे दिन अलस्सबाह बादशाहज़ादा और अख़्तर सईद व आसमान परी पोशाक नफ़ीस मयज़ेवर, जवाहिर पहन कर अलहदा-अलहदा तख़्त पर, घोड़ों पर सवार होकर आजम शाह

1. जिज़ासू ।

परी वास्ते इस्तक़बाल आसमान परी के और बादशाह के कई सौ परीज़ाद हमराह लेकर रास्ते में आकर खड़ी हुई कि एक मर्तबा सवारी शुजाउल शम्स की और आसमान परी को दूर से नजर आयी। देखते ही खुश होकर आगे बढ़ी और हमराह अपने लादाख़िल क़स्ब के हुई। और एक शहनशीन आलीशान में ले जाकर बादशाहज़ादे को और आसमान परी को शेर अख़्तर सईद को, वो जो मसनदें जरबाब बेश क़ीमत बिछी थीं बिठाया। बाद में उसके अरबाब निशात को बुलाकर हुक्म रक्स का फ़रमाया। हर एक अरबाब निशात ने घुंघरू पंख में बांधकर तंबूरा बौनो-बरबत, सारंगी, दायरा, दफ़, ढमढमी, हाथों में लेकर नाचना और गाना शुरू किया। सदा उनके गाने की जो परिज़ाद, देन-ज़ाद-व-फ़रिश्ता, वहश-व-तय्यूर जो सुनते थे, हैरत से वज्द में आकर नक़्श दीवार होते थे। गर्ज़ कि ऐसा आस्मां राग-व-रंग और उन्हीं के नाचने से हुआ कि दर-व-दीवार वज्द में आए।’

(उर्दू अदब की तारीख़, पृ. 513-514)

शाह आलम की इस रिवायत की इस्तहक़ाम और तनओ-महर, चंद खतरी लाहौरी ने बख़्शा जिनकी तस्नीफ़ नौ-आइन हिंदी’ यानी क़िस्सा ‘यूसुफ़ मलिक’ और ‘गेती अफ़रोज’ उर्दू नम्र की इर्तिक़ा में खुसूसी अहमियत रखती है। लिसानी मवानिसत, सादगी, सफ़ाई और सलालत में ये नम्र अजायब-उल-क़सस की तरक्कीयाफ़ता सूत है। दर्जज़ैल मिसाल से उसकी तस्दीक़ होती है।

‘अल क़िस्सा कोस चार एक पर एक बाग़ मिला। सो नाज़नीन हाथी पर से उतर के बाग़ के अंदर मुतवज्जा हुई। और मेरा हाथ पकड़के खड़ी दो एक तक सैर करती रही। बाग़ के महल में संगमरमर का एक हशत पहलू बंगला था। उसमें फ़र्श मख़मल बिछवाके दस्तरख़ान बिछाने का हुक्म दिया। सो ख़िदमतगारों ने दस्तरख़ान बिछाकर खाना हाज़िर किया। साअत एक के बाद नाज़नीन चमन की सैर से फ़राग़त करके बंगले की तरफ़ मुतवज्जा हुई और मेरे तय़ी साथ बैठाके हाज़री खायी। जब हाज़री से फ़राग़त कर चुके दस्तरख़ान उठा ले गए। फिर मैं राह की मानदगी से इसी जगह लेट रहा, कि आंखें झपक गयीं जागा तो दिल में शुब्हा हुआ कि गुसल की इहतियाज है। इस बाग़ में पानी से भरा एक पक्का हौज़ था मैंने वहां जाके वो काग़ज़ का तख़्ता के पीर बुजुगवार ने दिया था। बाजू से खोल के हौज़ के किनारे पर रख दिया और चाहा कि नहाने के वास्ते हौज़ में धसूं। देखा कि वो मुझे मारने की फ़िक्म में थे। उन्होंने फ़ुरसत पाके वो काग़ज़ का तख़्ता उठा लिया और ख़ूब तरह जकड़ के मेरी मुशक़ी बांधी और लशकर को बर्बाद किया। इन में से जिसकी हयात बाकी थी सो भाग के बच गए और चाहा कि इस नाज़नीन की भी ख़राब करें सो एक देव को इसका हुस्न-व-जमाल देख के रहम आया। उसने कहा ‘ऐ यारी ! ऐसी नाज़नीन को जाया करना ख़ूब नहीं। इसके तय़ी अपना साक़ी किया चाहिए।’

(उर्दू अदब की तारीख़, डॉ. तबस्सुम काश्मीरी पृ. 513-414)

मजक़ूरा-बाला जायजे से वाजे है कि खड़ी बोली में नम्र और शाइरी तहरीरी तौर पर फ़ारसी रस्म-उल-ख़त में सदियों की तारीख़ पर मुशतमिल है। देवनागरी स्क्रिप्ट में इसका चलन बहुत बाद की बात है। प्रकाश मोनिस ने हिंदी मुहक़िक² डॉक्टर धीरेंद्र वर्मा के हवाले से मुंदरजा ज़ैल बातें नक़ल की हैं :

1. आधारित, 2. आलोचक ।

—तारीखी नुक्ता-ए-नज़र से अदबी खड़ी बोली (हिंदी) की निस्बत खड़ी बोली उर्दू का चलन पहले होने लगा था।

— क़दीम और वुस्ता अहद (इब्तिदा से 1800 ई. तक) में खड़ी बोली का वजूद इब्तिदा से था अगर्चे इस बोली का इस्तेमाल हिंदू कवि और लेखक अदब में कोई ख़ास न करते थे । ये मुसलमानों की बोली समझी जाती थी।

— ‘खड़ी बोली हिंदी का रिवाज नस्बी अदब में उन्नीसवीं के निस्फ़! आख़िर में हुआ और नज़्म में बीसवीं सदी में।’

(तारीख़ अदब उर्दू, जिल्द अव्वल-वहाब अशरफ़ी, पृ. 27-28)

इन सारे मुबाहसात² का महासिल³ ये है कि उर्दू मुश्तरका हिंद इस्लामी कल्चर की वो नुमाइंदा ज़बान है जो सदियों के लिसानी-तग़य्युर⁴ और हिंदुओं और मुसलमानों के तहज़ीबी इख़िलात-व-इम्तिजाज़ का नतीजा है। जो फ़ारसी रस्मख़त में लिखी गई लेकिन अंग्रेजों ने हिंदुस्तान पर अपने इक़तदार को मुसतहकम करने के लिए ज़बान को भी हरबे के तौर इस्तेमाल किया और उर्दू और हिंदी का फ़साद पैदा किया, जिसके तहत बहुत से तारीख़ी शवाहिद मौजूद हैं।

लिप्यंतरण—शहरोज़

1. आख़िरी, 2. विमर्श, 3. उपसंहार, 4. भाषायी विकास ।

हिंदी-उर्दू के बारे में मेहर अफ़शां फ़ारुकी

मुझे यह लेख लिखने के लिए इस वजह से बाध्य होना पड़ा, क्योंकि ऐसी छपी हुई सामग्री जिसे मैं 'सैनिक कैंप का कथा साहित्य' कहता हूँ, उर्दू में बहुत दफ़ा देख चुका हूँ ।

समानार्थक शब्द भ्रामक हो सकते हैं और यहां तक कि बेहूदे अर्थ तक दे सकते हैं, खासतौर से तब जब नाम किसी दूसरी ज़बान से लिया गया हो । यही मसला 'उर्दू' के नाम को ले कर है । देखने में तो 'आम मालूमात' से यह लगता है कि तुर्की ज़बान में 'सैनिक कैंप' को उर्दू कहते हैं, मगर यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं है कि यह भ्रामक ख़याल कि उर्दू ज़बान अपने नाम की वजह से, सैनिक कैंपों में पैदा हुई थी, कहां से आया । मान भी लें कि तुर्कों ने 11वीं सदी से बाद तक जब उत्तर भारत में शासन किया तो उन्हें स्थानीय अवाम से बातचीत करने के लिए एक-दूसरे की बात समझने-समझाने लायक ज़बान की दरकार रही होगी, मगर ऐसी ज़बान की जगह तो बाज़ार रही होगी न कि सैनिक कैंप । और यह भी कि उन दिनों बहुत बड़ी सेनाओं को छावनियों में ठहराये रखने का रिवाज़ भी नहीं था, जैसा कि उपनिवेशवादी निज़ाम के दौरान हुआ था । सेनाएं तो ज़रूरत के मुताबिक तुरत-फुरत गठित कर ली जाती थीं, जिनमें अमूमन ज्यादा तादाद में किसान और भाड़े के सिपाही होते थे ।

हाब्सन जाब्सन (आंग्ल-भारतीय जनप्रचलित शब्दों की किताब, 1986) के लेखक, यूल और बनैल ने 'उर्दू बाज़ार' या कैंप मार्केट के बारे में 1560 का एक हवाला दिया है । उनका भी मानना है कि उर्दू भारत में मुग़लों के साथ आयी। (बाबर ने 1526 में पानीपत की जानी-मानी लड़ाई जीत कर मुग़ल शासन की शुरुआत की थी) उक्त लेखकों का हवाला सही भले ही हो, मगर यह ग़लत है कि उर्दू तुर्की का शब्द बाबर के साथ आया, क्योंकि बाबर के आने से बहुत पहले उत्तर भारत में इल्बारी तुर्क अपनी जड़ें जमा चुके थे ।

उस ज़माने के इतिहास और सूफ़ियों के कलाम से यह ज़ाहिर होता है कि हिंदी/हिंदवी/देहलवी ज़बान दिल्ली के इलाके में मौजूद थी । मुग़लों ने सेंट्रल एशिया की उस रवायत को कायम रखा, जिसके मुताबिक बहुत बड़े-बड़े तंबुओं से एक शहर जैसा बसा लिया जाता था, जिसे 'शिकारगाह' कहते थे, या राजधानी से दूर एक दरबार जैसा स्थापित कर लिया जाता था । यह निश्चित है कि मुग़ल कैंपों से उत्तर भारत में कोई नयी जुबान ईजाद नहीं हुई । किसी भी नयी ज़बान की पैदाइश और फ़रोग एक पेचीदा सिलसिला होता है, जिसमें काफ़ी वक्त लगता है । इसके अलावा बोलचाल की ज़बान और अदबी ज़बान में भी ख़ासा फ़र्क होता है ।

यही वह संदर्भ है, जिसकी वजह से 'सैनिक कैंप' के सिद्धांत पर यकीन करना मुश्किल

जान पड़ता है। उस ज़बान का 'उर्दू' नामकरण जो बोलचाल की भाषा के रूप में पहले हिंदी/हिंदवी/ नाम से जानी जाती थी, उस वक्त प्रचलित हो गया होगा जब वह विकसित हो कर अदबी ताक़त हासिल करते हुए एक परिमार्जित भाषा बन गयी।

हिंदवी का कायाकल्प

उर्दू का व्याकरण और वाक्य-संरचना उस वक्त दिल्ली और उसके आसपास के इलाके में बोली जाने वाली ज़बान पर आधारित है (जिसे बाद में 'खड़ी बोली' नाम दिया गया)। मगर अदबी तख़्तीक़ात के लिए यह ज़बान अपनी मर्ज़ी से अपनाया गया माध्यम नहीं थी। शुरू के दिनों में शायरी और दूसरे अदबी कामों के लिए अवधी और ब्रजभाषा ही एक हद तक अपनायी जाती थी। मिसाल के तौर पर, अवधी में लिखी शुरू की रचना 1379 की मिलती है (मौलाना दाऊद की 'चंदायन')। बिखरे हुए सबूतों की बिना पर जो कि हमें उस वक्त के अदबी स्रोतों से हासिल होते हैं, ऐसा मालूम होता है कि इस ज़बान को हिंदवी/हिंदी/देहलवी कहा जाता था। इस ज़बान में लिखा सबसे पहला 'दीवान' (तुकों को अकारादि क्रम से संयोजित करके तैयार किया गया काव्यसंकलन) ग्यारहवीं सदी के कवि मसूद साद सलमान (1046-1121) का मिलता है, जिनका कहना था कि उनके तीन दीवान अरबी, फ़ारसी और हिंदवी में थे। हालांकि हिंदवी वाला दीवान नष्ट हो गया। इस तथ्य का पता हमें मुहम्मद औफ़ी की रचना (जो 1220-27 के बीच लिखी गयी थी) 'लबाब-उल-अल्बाब' यानी शुद्ध बौद्धिक सारतत्व के इतिहास से मिलता है। अमीर खुसरो (1253-1325) जैसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि और बुद्धिजीवी ने भी अपने दोस्तों को आनंद देने के लिए हिंदवी में काव्यरचना की थी, मगर न तो उस शायर ने और उन दोस्तों ने ही उन रचनाओं को गंभीरता से लिया और उन्हें साहित्यिक रचनाएं न मानकर न तो सुरक्षित रखा और न औपचारिक रूप से उनके दीवान में शामिल किया। ज़ाहिर है कि हिंदवी तब तक साहित्य-रचना की भाषा के रूप में ज़्यादा विकसित नहीं हो पायी थी। हालांकि उसे फ़ारसी ने हाशिये पर डाल रखा था, जो कि राज दरबार की ज़बान थी। दूसरी तरफ़ ब्रज और अवधी क्षेत्रीय रजवाड़ों में प्रचलित थीं और संतों और सूफ़ियों के कलाम में इस्तेमाल होती थीं, इसलिए हिंदवी आम बोलचाल की ज़बान बन कर रह गयी थी और उत्तर भारत से सफ़र करके पश्चिमी, केंद्रीय और दक्खिनी भारत तक उन हालात में पहुंच रही थी, जब निज़ाम के हुक्मरानों के साथ आबादी का तबादला एक जगह से दूसरी जगह हो जाता था, जैसा कि मुहम्मद बिन तुग़लक़ (1325-1351) के शासन में हुआ था, मगर इससे भी ज़्यादा आमतौर से सौदागरों और उन घुमंतू सूफ़ियों के ज़रिये वह सब जगह फैल रही थी, जिन्हें उनके पीर प्रोत्साहित करते थे कि वे दूर-दूर तक जायें और अपने मरकज़ कायम करें।

राजधानी और दूर के इलाकों के बीच आवाजाही की गतिशीलता ने और उत्तर भारत के शक्ति का केंद्र होने की सुविधा ने हिंदवी को ताक़तवर बनने में और उन इलाकों में विकसित होने में मदद मुहैया की जो इसके उद्गम क्षेत्र से दूर थे। उसने उन इलाकों के प्रभाव अपने में समाहित कर लिये और इस तरह गुजरात में गूजरी और दक्षिण में दक्खिनी बन गयी। गूजरी और दक्खिनी खूब फलने-फूलने लगीं। उनमें साहित्यिक रचनाशीलता की ताक़त इस क़दर बढ़ गयी कि उनकी परिधि में विभिन्न विधाएं, विषय और रुझानात आ गये। शुरू के लेखन में दार्शनिक-रहस्यवादी कविताएं होती

थीं, जिनमें स्थानीय या फ़ारसी की छंदरचना होती थी। काव्यभाषा में फ़ारसी और स्थानीय शब्दों का मिलानुला रूप होता था। सत्रहवीं सदी तक आते-आते 'उर्दू' अपनी गंभीर रहस्यवादी कविताओं पर नाज़ कर सकती थी, मसलन, ख़ूब मुहम्मद चिश्ती (मृ.1638) की रचना 'ख़ूब तरंग' और 'बारहमासा' की लंबी कविताएं देखी जा सकती हैं। इसी तरह मुहम्मद अफ़ज़ल (मृ.1625) की 'विकट कहानी' को भी देखा जा सकता है। उसी दौर में, यह गौरतलब है कि उर्दू अदब दक्खिन में ख़ूब तरक्की कर रहा था जिसमें ढेर सारे विषय आ रहे थे, रूपकों से लेकर पारंपरिक ग़ज़लों में रूमानी शैली की रचनाएं लिखी जा रही थीं, जिनमें 'चक्कीनामा' (लोकगीत की परंपरा में) जैसी नज़्म लिखी गयी थी जो औरतों के बीच काफ़ी प्रचलित थी और घर के काम-धंधे करते वक़्त गायी जाती थी, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट होता है। इस तरह 'उर्दू' साहित्य उन जगहों पर पहले विकसित हुआ जो राजधानी से बहुत दूर थीं। जब वली औरंगाबादी (1665-1708) ने राजधानी में (जब 1700 में वे राजधानी आये) अपनी शायरी की ऐतिहासिक प्रस्तुति की, तब सभी को बिला शक यह साफ़-साफ़ दिखायी दिया कि फ़ारसी से अलग एक ऐसी ज़बान में भी जटिल भावबोध की, परिमार्जित, सूक्ष्म और रूपकों से सजी शायरी मुमकिन है जिसे इंडोपर्शियन ज़बान या शुरुआती दौर की उर्दू कहा जा सकता है और जिसे उन दिनों हिंदी/हिंदवी/रेख़्ता/दक्खनी के नाम से जाना जाता था। उस ज़बान का काव्यशास्त्र उतना ही भारतीय था, जितना उसमें फ़ारसी का पुट था, बल्कि भारतीय ही ज़्यादा था :

ऐ वली ! साहिब-ए-सुख़न की ज़बान
बज़्म-ए-मा'नी में शाम-ए-रौशन है

राह-ए-मज़मून-ए-ताज़ा बंद नहीं
ता क़ियामत खुला है बाब-ए-सुख़न

उर्दू-हिंदी का बंटवारा

जो ज़बान पहले अलग-अलग कालों और जगहों में हिंदी / हिंदवी/ गूजरी / रेख़्ता / दक्खनी कहलाती थी, वह 'उर्दू' नाम से कब पुकारी जाने लगी?

यह मसला इतना पेचीदा नहीं बनता अगर हिंदी-उर्दू बंटवारे में सियासत ने अपनी रोटियां नहीं सेंकी होतीं। उर्दू और हिंदी के उद्गम को ले कर जो ऐतिहासिक शोध के नाम पर भावनाओं और जज़्बात से लबालब विमर्श सामने आया, उसने इस मसले पर तर्कसंगत बातचीत के रास्ते में रोड़ा अटकाया। 'उर्दू' शब्द का आमतौर पर 'मिलिटरी कैंप' के रूप में समझा जाने वाला अर्थ भी इसके इतिहासलेखन के चश्मे को धुंधला कर देता है, जिससे इसमें तुक्का लगाने की गुंजाइश बढ़ जाती है, जो इस नाम के न होने पर मुमकिन न होती। इस विषय पर अपेक्षाकृत दो मशहूर किताबें आयी हैं : एक, अमृत राय की 'ए हाउस डिवाइडिड...' और दूसरी, क्रिस्टोफर किंग की, 'वन लैंग्वेज टू स्क्रिप्ट्स...'। एक महत्वपूर्ण और हाल ही उर्दू के उद्गम और विकास के विवाद में हस्तक्षेप करती हुई किताब शम्सुर्रहमान फ़ारुकी की 'उर्दू का इब्तिदायी ज़माना' (कराची : 1999) आयी, जिसका संवर्द्धित अंग्रेज़ी संस्करण, 'अरली उर्दू लिटरेरी कल्चर एंड हिस्ट्री' (2001) छपी। यह

किताब जहां बहुत से उलझे हुए और अहम मसलों पर रोशनी डालती है, वहीं उर्दू के शुरुआती दौर के नामों के इस्तेमाल पर और इस शब्द के अर्थ व भ्रांतियों पर भी सर्वाधिक प्रामाणिक तर्क और शोध पेश करती है ।

फ़ारुकी के मुताबिक़ इस ज़बान का 'उर्दू' नाम सबसे पहले 1780 में शायर मुसहफ़ी के पहले दीवान में मिलता है :

अलबत्ता रेख़ता में है मुसहफ़ी को दावा
यानी कि है ज़बांदान उर्दू की वह ज़बान का

(मुसहफ़ी, कुल्लियात, खंड 1, पृ.38)

'उर्दू' नाम की शुरुआत 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुल्ला-ए-शाहजहांनाबाद' यानी शाहजहांनाबाद (दिल्ली) के शानदार दरबार की ज़बान के तौर पर हुई । ऐसा लगता है कि इस ज़बान से मुराद फ़ारसी ज़बान से थी, इस उर्दू से नहीं । दरबार की ज़बान के तौर पर फ़ारसी से उर्दू में तब्दीली शायद शाह आलम द्वितीय (1750-1800) के शासन काल में हुई होगी जो कि खुद 'हिंदी' बोलने के लिए मशहूर तो था ही, उसने अपनी लंबी गद्य रचना 'अजायब-उल-किस्सास' को 'हिंदी' की रचना कहा । उसने उस दास्तान की रचना 1792 के आसपास शुरू की थी, यह अधूरी रह गयी, जिसमें 600 पृष्ठ ही लिखे जा सके । हालांकि उस वक्त तक 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुल्ला' जिसका जिक्र ऊपर किया है, धीरे-धीरे मक़बूलियत हासिल कर रही थी, फिर भी उस जुबान को 'हिंदी' नाम से ही जाना जाता था और 'उर्दू' शब्द का अर्थ तब भी 'राजशाही दरबार या शहर' होता था।

शाह आलम द्वितीय द्वारा फ़ारसी की जगह 'हिंदी' को दिये गये संरक्षण और उस पर अमल के बाद इस ज़बान को 'उर्दू-ए-मुल्ला' की ज़बान कहा जाने लगा, जो ख़िताब पहले फ़ारसी को मिला हुआ था । एक उलझन भरा सवाल जो आज भी परेशान करता है, वह इस भाषा की प्रकृति के बारे में या दूसरे तरीके से कहें तो इस ज़बान की उत्पत्ति के बारे में है, जिसे 'हिंदी' या हिंदवी या देहलवी कहा गया जो कि हिंद की ज़बान या खासतौर से दिल्ली के इलाके की ज़बान के तौर पर जानी जाती है । इस इलाके में तुर्कों के आने से पहले भी कोई ज़बान रही ही होगी । उत्तरी भारत में फ़ारसी बोलने वाले तुर्कों के आने और बसने के बाद और उनके साथ आबादी के मिलने-जुलने से इस ज़बान का विकास हुआ होगा । यह स्वाभाविक ही है कि नयी बसावट होने पर तुर्कों ने इस ज़बान को 'हिंदी' कहा होगा जो कि अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में 'उर्दू (दरबार) की ज़बान' बन गयी, जिसे बाद में आज की 'हिंदी' कहा गया, जिसमें से अरबी-फ़ारसी के शब्दों को यथासंभव निकाल दिया गया और संस्कृत के 'तद्भव' ध्वन्यार्थी शब्द जो नज़दीकी मायने को व्यंजित करते हों, शामिल कर लिये गये । इस तरह आधुनिक हिंदी और उर्दू की उत्पत्ति हुई । इस सवाल पर मैं अपना नुक्त-ए-नज़र पेश कर सकती हूँ, मगर इस मसले को अपने पाठकों के लिए छोड़ देती हूँ कि वे इस पर गौर करें । मेरा मक़सद तो इस लेख में यह स्पष्ट करने का था कि (अ) 'उर्दू' शब्द की उत्पत्ति और उसका अर्थ क्या था ? (ब) मोटे तौर पर बोलचाल की ज़बान से अदबी ज़बान तक का उसका विकास कैसे हुआ ?

हिंदी-उर्दू संबंधों की पड़ताल

असगर वजाहत

हिंदी-उर्दू के रिश्तों को समझने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि इन दोनों भाषाओं के विकास के इतिहास पर टिप्पणी करते हुए उन सामाजिक और आर्थिक शक्तियों की भूमिका की चर्चा की जाये, जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में हिंदी-उर्दू को दो अलग भाषाओं के रूप में स्थापित कर दिया। यह इसलिए और भी आवश्यक है कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से हिंदी और उर्दू दो भाषाएं नहीं मानी जाती हैं, क्योंकि भाषाओं के साम्य अथवा भेद का आधार उनका व्याकरणिक गठन होता है, न कि शब्द-भंडार। हिंदी और उर्दू के क्रियापदों की समता से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि ये दोनों एक ही भाषा हैं। फिर भी, इनमें पर्याप्त अंतर है। एक ही मूल स्रोत अर्थात् खड़ी बोली से जनमी इन दो भाषाओं में इतना अंतर कैसे आया और वह अंतर क्या है, यह जानना आवश्यक है।

फ़ारसी लिपि में लिखी जानेवाली खड़ी बोली के लिए उर्दू शब्द का प्रयोग पुराना नहीं है। ग़ालिब ने अपनी कविता को हिंदी कविता कहा है। खुसरो को हिंदी और उर्दू विद्वान अपना आदि कवि स्वीकार करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिंदी-उर्दू साहित्य के बीच जो काव्यशास्त्रीय और सांस्कृतिक अंतर दिखायी पड़ता है, वह मुख्यतः उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के दौरान विकसित हुआ है। यह कहना समस्या का सरलीकरण करना होगा कि हिंदी और उर्दू में अंतर यही है कि हिंदी संस्कृत की ओर उन्मुख है, जबकि उर्दू फ़ारसी की तरफ़ झुकी हुई है।

ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास दिल्ली आकर बसनेवाले मध्य एशिया और ईरान से आये मुसलमानों और क्षेत्रीय खड़ी बोली के संपर्क ने एक ऐसी भाषा को विकसित किया, जिसके साहित्य ने उन्नीसवीं शताब्दी तक एक महान 'काव्य-परंपरा' स्थापित कर ली थी। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस क्षेत्रीय बोली को इससे पूर्व नाथ और सिद्ध धार्मिक अभिव्यक्ति की भाषा बनाने का प्रयास कर चुके थे। मध्य एशिया और खड़ी बोली के मेल से विकसित कविता फ़ारसी कविता की नक़ल नहीं थी और जीवन-जगत के प्रति इसका दृष्टिकोण भारतीय और मध्य एशियाई था। खड़ी बोली के प्रति उनका लगाव और इसे साहित्यिक भाषा बना देने का उनका प्रयास ही यह सिद्ध करता है कि वे भारतीय जीवनदृष्टि से प्रभावित थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण अमीर खुसरो की कविता के वे प्रतीक हैं, जो उन्होंने सिद्धों और नाथों से लिये थे।

फ़ारसी लिपि में खड़ी बोली को साहित्यिक भाषा बनाने वाले कवियों के संपूर्ण कार्य-व्यापार

1. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ. 295 ।

का केंद्र यही देश था। यह कैसे संभव था कि वे अपनी उन अनुभूतियों को कविता में स्थान न देते जो उन्हें यहां हो रही थीं। लेकिन इसके साथ ही साथ उनके पास फ़ारसी कविता की सशक्त और समृद्ध परंपरा थी, जिसे वे एक झटके में न तो तोड़ सकते थे और न ही उसका अंधानुकरण करते हुए अभिव्यक्ति की ईमानदारी को बनाये रख सकते थे, इसलिए, उन्होंने फ़ारसी के 'फ़्रेम' में एक नयी कलाकृति बनाने का प्रयास किया, जिसमें वे सफल हुए।

फ़ारसी लिपि में खड़ी बोली कविता के इतिहास में कई मोड़ आये हैं। प्रारंभिक युग (13वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी) की कविता पर 'जनपदीय खड़ी बोली तथा जनपदीय ब्रजभाषा के संज्ञा और सर्वनाम पदों का पर्याप्त प्रभाव' मिलता है।¹ इसके अतिरिक्त इस कविता में संस्कृत के स्वाभाविक तत्सम शब्द भी देखे जा सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी के बढ़ते हुए संगठित राजनीतिक प्रभुत्व तथा मुगल शासन के पतन ने यह सिद्ध कर दिया था कि फ़ारसीपरस्त सामंती संस्कृति का अस्तित्व ख़तरों में है। राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के क्षीण होने के कारण जो असुरक्षा की भावना मुसलमान सामंतों में पनप रही थी, उसने उन्हें फ़ारसी से चिपके रहने पर विवश किया। वे अपने सांस्कृतिक दुर्ग की सुरक्षा में जुट गये। इसी युग में इस कविता को मुगल दरबार का पूरा संरक्षण प्राप्त हुआ और सामंतों की अभिरुचियों के कारण इसमें फ़ारसी का अनुपात बढ़ता गया। जामा मस्जिद की सीढ़ियों से उठकर इस कविता का दरबार लालकिले के दीवाने-आम में लगने लगा। लेकिन शहर में रहने वाला मध्यमवर्ग इस समय तक इस कविता का महत्त्वपूर्ण श्रोता और पाठक बन चुका था। इसलिए पूरे युग में वही कविता और कवि प्रसिद्ध हुए जो साधारण बोलचाल की भाषा में कविता करते थे। इस प्रकार, फ़ारसीप्रधान और सीधी-सादी बोलचाल की भाषा का संघर्ष उन्नीसवीं शताब्दी की फ़ारसी लिपि की खड़ी बोली कविता में देखा जा सकता है। 'ग़ालिब' की प्रसिद्धि भी उनकी उस कविता के कारण नहीं हुई जो फ़ारसी शब्दों और प्रतीकों के जाल में खोयी हुई थी, बल्कि आसान उर्दू में रचित उनका काव्य ही उनकी ख्याति का आधार है।

पांच सौ वर्षों तक फ़ारसी लिपि में लिखे जानेवाले खड़ी बोली साहित्य की उपलब्धियों पर विचार करना आवश्यक है। जनपदीय खड़ी बोली को एक ऐसी साहित्यिक भाषा का स्वरूप दे देना, जिसकी कविता को विश्व कविता के समकक्ष रखा जा सके, साधारण बात नहीं है। पांच सौ वर्षों तक भाषा, प्रतीक, बिंब अर्थात् पूरे काव्यशास्त्र को लेकर जो बहसें चलती रही हैं, उन्होंने इस कविता को बहुत निखारा। किसी साहित्य के इतिहास में पांच सौ वर्षों का समय कम नहीं होता और न पांच सौ वर्षों में बनी परंपरा को नकारकर कुछ महत्त्वपूर्ण किया जा सकता है।

'उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब हिंदी-उर्दू विवाद शुरू हुआ तो हिंदी के समर्थकों ने यह सिद्ध किया कि देवनागरी में लिखी जाने वाली खड़ी बोली फ़ारसी लिपि में लिखी जाने वाली खड़ी बोली से अधिक प्राचीन है। इसके पर्याप्त उदाहरण भी मिलते हैं। नाथों का समय ग्यारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक स्वीकार किया जाता है। इनकी कविता में खड़ी बोली के उदाहरण मिलते हैं।² महाराष्ट्र में बारहवीं शताब्दी में महानुभाव पंथ चला, तेरहवीं शताब्दी में

1. अंबाप्रसाद सुमन, हिंदी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप, पृ. 264, 2. डॉ. शितिकंठ मिश्र : खड़ी बोली का आंदोलन, पृ. 30

वारकरी आंदोलन चला जिसके संत कवियों ने अपने मत के प्रचार के लिए हिंदी (देवनागरी लिपि में खड़ी बोली) को अपनाया।¹ परंतु, देवनागरी लिपि में खड़ी बोली का वह साहित्यिक स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी तक विकसित नहीं हो पाया था, जो फ़ारसी लिपि में हो गया था। देवनागरी लिपि में लिखी खड़ी बोली प्रायः साधु-संतों या जनता द्वारा प्रयोग में लायी जाती रही थी, परंतु काव्य की प्रतिष्ठित भाषा ब्रज या अवधी ही थी। यदि फ़ारसी लिपि की खड़ी बोली के समान देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली खड़ी बोली की भी परंपरा होती तो उसमें पद्य लिखने का आंदोलन चलाये जाने की कोई आवश्यकता न होती। इसलिए यह मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि उन्नीसवीं शताब्दी तक फ़ारसी लिपि में लिखी जानेवाली खड़ी बोली पद्य का बहुत विकास हो चुका था और उसकी तुलना में देवनागरी लिपि की खड़ी बोली कविता बहुत पीछे थे।

अंग्रेज़ सरकार में यह एक प्रबल समझ थी कि उसने हिंदुस्तान का राज्य मुसलमानों से प्राप्त किया है, जिसे वापस लेने के लिए वे प्रयत्नशील हैं। ऐसी स्थिति में अंग्रेज़ सरकार नया शक्ति-संतुलन बनाना चाहती थी। लार्ड एटेनबरो ने ड्यूक ऑफ वेलिंगटन के नाम अपने पत्र (18 जून, 1843) में लिखा था, 'मैं इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता कि मुसलमान जाति हमसे दुश्मनी रखती है, इसीलिए हमें हिंदुओं को अपनी ओर मिलाने की नीति पर चलना चाहिए।'²

1772 से लेकर 1850 तक अंग्रेज़ सरकार ने ऐसी शासन-पद्धति लागू की, जिसके कारण मुसलमानों का प्रभाव और उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति कमजोर होती चली गयी। यह सोची-समझी नीतियों के तहत किया जा रहा था। बंगाल रेगुलेशनों के बाद इस्लामी न्याय-व्यवस्था केवल दीवानी और मुसलमानों के मामलों तक सीमित हो गयी। 'फतवा-ए-आलमगीरी' की दंड-व्यवस्था को हटाकर धर्मनिरपेक्ष फ़ौजदारी क़ानून लागू किया गया। मुस्लिम धार्मिक क़ानून के अंतर्गत इस्लाम धर्म छोड़ने वाले को मौत की सज़ा दी जाती थी या उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाता था। हिंदू विधि में भी धर्म-परिवर्तन करने वाला संपत्ति के अधिकार से वंचित हो जाता था। 1832 में इन क़ानूनों को रद्द कर दिया गया। 1850 में अंग्रेज़ सरकार ने 'कास्ट डिसेंबिलिटी रिमूवल एक्ट' बनाया, जिसके अनुसार धर्म-परिवर्तन के कारण किसी व्यक्ति को उसके अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता था। इस क़ानून के बनने से ईसाई धर्म स्वीकार करने वालों की संख्या बढ़ गयी।³

1857 के स्वतंत्रता संग्राम के दमन के बाद अंग्रेज़ों की शिक्षा-संबंधी नीति में बड़ा परिवर्तन यह आया कि अब स्कूल-कॉलेजों के पाठ्यक्रम से अरबी, फ़ारसी और संस्कृत को हटाकर अंग्रेज़ी शिक्षा को अनिवार्य बनाया गया। इस परिवर्तन का प्रभाव उर्दू-फ़ारसी जानने वाले हिंदू मध्यमवर्ग पर उतना नहीं पड़ा, जितना सरकारी नौकरियों में लगे मुसलमानों पर पड़ा; क्योंकि हिंदुओं ने अंग्रेज़ी को उसी तरह स्वीकार किया जैसे फ़ारसी और अरबी को स्वीकार किया था। परंतु मुसलमान, जो अंग्रेज़ी पढ़ने को 'कुफ़्र' माना करते थे, इससे प्रभावित हुए। अब ऐसे लोगों के लिए सरकारी नौकरी में कोई जगह नहीं थी जो अंग्रेज़ी न पढ़ा हुआ हो। सन् 1900 तक 40 प्रतिशत मुसलमान विद्यार्थी परंपरावादी

1. वही, पृ. 35-36, 2. माहेश्वर अनंत करंदीकर, आधुनिक भारत और इस्लाम, पृ. 95, 3. वही, पृ. 97 ।

मदरसों में जाकर फ़ारसी, अरबी और इस्लाम की मज़हबी तालीम ग्रहण करते थे।

प्रशासनिक सुधारों के कारण भी मुस्लिम मध्यवर्ग की काफी हानि हुई। अंग्रेज़ों ने भी अपनी नीति 'विभाजित करो और राज्य करो' के अंतर्गत तय किया कि किसी भी सरकारी विभाग में एक जाति या धर्म के लोग न रहें। 1860 में पुलिस विभाग पर यह फ़ार्मूला लागू कर दिया गया। इसके साथ ही सरकारी नौकरियों के लिए परीक्षाएं पास करना अनिवार्य कर दिया गया। 1890 में लेफ्टीनेंट गवर्नर सर एंटनी मैकडालन ने सरकारी नौकरियों में मुसलमानों और हिंदुओं का अनुपात तीन और पांच कर दिया।

जैसाकि कहा जा चुका है, अंग्रेज़ सरकार की एक मुख्य नीति थी मुसलमानों का प्रभुत्व कम करना। नये सुधारों के कारण वे इस लक्ष्य में सफल हुए। सरकारी नौकरी में मुसलमानों की संख्या लगातार कम होती चली गयी। 1857 में सरकारी नौकरियों में मुसलमान 63.9 प्रतिशत थे और हिंदू 24.1 प्रतिशत। पर 1913 में मुसलमान 34.7 और हिंदू 60 प्रतिशत थे।

नयी परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको बदल लेनेवाले हिंदू पश्चिमी संस्कृति और शिक्षा के संपर्क को अधिक ग्रहण कर रहे थे। हिंदू पुनर्जागरण अपनी अलग 'सांस्कृतिक पहचान' बनाने का कार्य कर रहा था। मध्ययुगीन भारत को आदर्श मानकर उससे 'सांस्कृतिक पहचान' बनाने की बात कट्टर हिंदू पुनर्जागरण के नेताओं को स्वीकार्य नहीं थी, क्योंकि मध्ययुगीन भारत की संस्कृति पर फ़ारसी प्रभाव था। इसलिए, पुनर्जागरण के नेताओं ने आदिकालीन भारत के इतिहास और संस्कृति के आधार पर अपनी 'अलग पहचान' बनाने का प्रयास शुरू कर दिया। हिंदू पुनर्जागरण का एक मुख्य मुद्दा हिंदुओं के विभिन्न मतों में एकता स्थापित करना था। उन्होंने 'वेदों' के आधार पर इस एकता को बनाया और वेदों के ही आधार पर एक शुद्ध हिंदू समाज की कल्पना की। शुद्ध हिंदू समाज की संस्कृति भी शुद्ध संस्कृति होनी चाहिए, इसीलिए इन लोगों ने कट्टर मुस्लिम नेताओं, जैसे शाह वलीउल्ला आदि की भांति दूसरे धर्म या संस्कृति के प्रभाव को त्यागने की बात उठायी।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पहली बार यह हो रहा था कि देश का शासन हिंदू या मुसलमानों के अतिरिक्त किसी तीसरी शक्ति के पास था। अपने हित के लिए अंग्रेज़ फूट डालने की नीति को आधार बनाकर अपने संरक्षण द्वारा कभी मुसलमानों को हिंदुओं के विरुद्ध और कभी हिंदुओं को मुसलमानों के विरुद्ध भड़काते थे। हिंदू अपनी 'अलग पहचान' बनाने का प्रयत्न कर रहे थे और मुसलमान अपनी 'पुरानी पहचान' बचाने की कोशिश में लगे हुए थे। यही उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का वह ऐतिहासिक बिंदु है, जहां से उर्दू-हिंदी की समस्या शुरू होती है।

अपनी अलग पहचान बनाने के लिए हिंदू और मुसलमान उच्च-मध्यवर्ग के लिए यह आवश्यक था कि उनकी अलग-अलग पहचान हो, अलग संस्कृति हो और अलग भाषा हो। मुसलमान अपनी भाषा के रूप में फ़ारसी को स्वीकार करते थे, पर अब न उसकी आवश्यकता थी और न महत्त्व कि उसे पुनः स्थापित किया जाता। हिंदू संस्कृत को श्रेष्ठ मानते थे, लेकिन उर्दू जैसी जीवंत भाषा का मुकाबला करने की ताकत एक मृत भाषा में कहां से आती? अतः मुसलमानों ने उर्दू को

1. फ्रांसिस राबिंसन, सैपरेटिज़्म एमंग इंडियन मुस्लिम, पृ. 68, 2. वही पृ. 46 ।

अपनी भाषा कहना शुरू कर दिया। हिंदू उर्दू को अपनी भाषा कैसे मान सकते थे? उस समय पद्य की प्रचलित भाषा ब्रज में आधुनिक विचारों को व्यक्त करने की क्षमता नहीं थी, अतः उन्होंने हिंदी को अपनाया। मुसलमानों ने हिंदी का उपहास करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हिंदी का अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं है। उर्दू में संस्कृत के तत्सम शब्द मिलाकर इसे बनाया गया है। इसका उत्तर हिंदी समर्थकों की ओर से यह दिया गया कि हिंदी उर्दू की एक शैली है, कोई अलग भाषा नहीं है।

हिंदी-उर्दू के इस पूरे विवाद के दौरान समस्या को गंभीरता समझने का कोई प्रयास नहीं किया गया बल्कि एक-दूसरे पर दोषारोपण ही होता रहा। हिंदी के समर्थक यह मानने को तैयार नहीं थे कि पांच सौ वर्षों में विकसित उर्दू कविता की परंपरा उनकी अपनी परंपरा है; क्योंकि लिपि से भाषा नहीं बदलती। उर्दू-समर्थक हिंदी शब्दों को गंवारू बता रहे थे, जबकि हिंदी शब्दों का प्रयोग मीर तक 'मीर' जैसे कवियों की कविता में भी देखा जा सकता है।

1837 में फ़ारसी के स्थान पर सरकारी कामकाज की भाषा उर्दू को बनाया गया। देवनागरी लिपि की उपेक्षा की गयी, क्योंकि सरकारी कर्मचारी फ़ारसी जानने के कारण उस लिपि में सरलता से काम कर सकते थे। 'फ़ारसी के हट जाने पर मुसलमानों में अपने सांस्कृतिक हास पर बड़ा असंतोष फैल रहा था।' फ़ारसी के समान उर्दू पर अपना एकाधिकार बनाये रखने के लिए उन्होंने इस उर्दू को फ़ारसी और अरबी शब्दों से लाद दिया।

दूसरी तरफ़, सामाजिक सुधारों तथा धार्मिक प्रचार के क्षेत्र में देवनागरी लिपि का प्रयोग बढ़ रहा था। विभिन्न स्कूल-कालेज तथा अन्य संस्थाएं भूगोल, इतिहास, धर्मशास्त्र, राजनीति, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, विज्ञान, साहित्य, ज्योतिष और व्याकरण आदि विषयों पर देवनागरी में पुस्तकें प्रकाशित कर रहे थे। इन पुस्तकों के लिए संस्कृत से शब्दावली लेना सरल था, क्योंकि उसकी लिपि देवनागरी थी।

भाषा और लिपि की समस्या को लेकर अंग्रेज़ विद्वानों के दो गुट थे। हिंदी-समर्थक ग्राउस साहब और उर्दू-समर्थक बीम्स साहब का वाद-विवाद 1865 से 1868 तक 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी जर्नल' में प्रकाशित होता रहा। इन दोनों विद्वानों के वाद-विवाद में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इन लोगों ने लिपि और भाषा के प्रश्न को हिंदू और मुस्लिम पुनरुत्थानवाद के साथ जोड़कर देखा और उसे सांप्रदायिक रंग दिया। हिंदी-समर्थक ग्राउस साहब ने एक अंक में इस विवाद के निर्णय के लिए राजा शिवप्रसाद का कथन उद्धृत किया कि कचहरी की भाषा देश की भाषा नहीं है। उनका अंतिम निष्कर्ष कि इस बनावटी शैली (उर्दू) को प्रोत्साहन देने से हिंदू अपने गौरवशाली साहित्य से वंचित हो जायेंगे और चूँकि पढ़े-लिखे लोग तक इस भाषा (उर्दू) से पूर्णतया परिचित नहीं हैं, अतः व्यावहारिक रूप में भी बड़ी असुविधा होगी। अज्ञान का पोषण होगा और पूर्व सभ्यता मिट जायेगी तथा राष्ट्रीय साहित्य कभी भी विकसित नहीं हो सकेगा।² उर्दू-समर्थक बीम्स ने इस लेख का पुनः विरोध किया और कट्टरतापूर्वक उर्दू का समर्थन किया। उन्होंने लिखा-हिंदी निम्न वर्ग के लोगों की भाषा है और उसमें भी तमाम अरबी के शब्द घुस

1. शितिकंठ मिश्र : खड़ी बोली का आंदोलन, पृ. 74, 2. वही, पृ. 51 ।

गये हैं, यद्यपि राष्ट्रीय भावना ने अरबी को विजातीय दासता का चिह्न मान लिया...फ़ारसी मुसलमानों को दिल से प्यारी है। वे अपने सभी भावों की अभिव्यक्ति के लिए इसी से सहायता लेना पसंद करते हैं।¹ इन वक्तव्यों में राष्ट्रीय शब्द दोनों में लिखा है, पर वह अलग-अलग हिंदू-मुस्लिम राष्ट्रीयता के रूप में ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त उर्दू को बनावटी शैली मानना तथा हिंदी को निम्न वर्ग की भाषा कहना और इस पर बल देना कि मुसलमान अपने सभी भावों की अभिव्यक्ति के लिए फ़ारसी की सहायता लेना पसंद करते हैं आदि-आदि, भ्रम और सांप्रदायिकता फैलाने वाले वक्तव्य हैं।

इस बिंदु पर उर्दू और हिंदी के अलग-अलग स्वरूप तथा उनकी अलग-अलग विशेषताओं को बनाये रखने का प्रयास किया जाने लगा। उर्दू-समर्थक हिंदी से अपने आपको अलग रखने तथा फ़ारसी और अरबी प्रभाव को बनाये रखने के लिए फ़ारसी-अरबी शब्दों का और अधिक प्रयोग करने लगे। भाषा में 'शुद्धि' का आंदोलन दिखायी पड़ता है।

इस समय हिंदी के साहित्यकार स्वयं नहीं जानते थे कि जिस हिंदी को स्वीकार करना चाहते हैं, उसका क्या स्वरूप होना चाहिए। तीन तरह की प्रवृत्तियाँ अवश्य दिखायी देती हैं। राजा शिवप्रसाद फ़ारसी-अरबी शब्दों को हिंदी में स्थान देने के पक्ष में थे। दूसरी ओर राजा लक्ष्मण सिंह फ़ारसी-अरबी के अत्यंत प्रचलित शब्दों का भी बहिष्कार कर रहे थे। वह उर्दू-फ़ारसी संयुक्त शैली को हिंदी नहीं मानते थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने शिवप्रसाद सिंह की शैली को स्वीकार नहीं किया; बल्कि राजा लक्ष्मण सिंह की शैली को 'परिष्कृत' करके 'साधु शैली' बनाया और उसी का प्रचलन किया। भारतेंदु ने 'हिंदी भाषा' नामक पुस्तक में तत्कालीन गद्य के हर प्रकार के नमूने प्रस्तुत किये हैं और उनमें शुद्ध तथा शिष्ट शैली का संकेत भी किया है। इस पुस्तक में उन्होंने भाषा के तीन विभाग किये : (क) घर में बोलने की भाषा (ख) कविता की भाषा (ग) लिखने की भाषा। वह ब्रजभाषा को कविता की भाषा और खड़ी बोली को लिखने (गद्य) की भाषा मानते थे। उन्होंने लिखा है कि इस समय गद्य की भाषा के अनेक रूप पाये जाते हैं जैसे, संस्कृतबहुल हिंदी, फ़ारसीबहुल हिंदी, काशी की देशी हिंदी, बंगाली हिंदी, अंग्रेज़ी हिंदी आदि। अर्थात्, भाषा का कोई निश्चित रूप नहीं है। लोग अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में हिंदी गद्य को ढाल रहे हैं।² भारतेंदु ने शुद्ध हिंदी का नमूना दिया :

सब विदेशी लोग घर फिर आये और व्यापारियों ने नौका लादन छोड़ दिया पुल टूट गये बांध खुल गये पुलक से पृथ्वी भर गयी पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाये बहुत वृक्ष समेत फूल तोड़ गिराये सर्प बिलों से बाहर निकले महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्र स्त्रियों की भाँति उमड़ चलीं।³

भारतेंदु ने शुद्ध हिंदी के स्वरूप को स्थापित किया। परंतु यदि हिंदी की उन समस्त अलग-अलग शैलियों की स्वस्थ परंपरा को आगे बढ़ने दिया जाता तो आज हिंदी का क्या स्वरूप होता, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। आज हिंदी के जिस अखिल भारतीय स्वरूप की बात की जाती है, वह भारतेंदु के समय में ही बनना शुरू हो गया था। उसका पर्याप्त विकास नहीं हो

1. वही, पृ. 82, 2. वही, पृ. 101, 102, 3. वही, पृ. 106 ।

पाया और बहुत से कारणों से हिंदी सीमित हो गयी। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि हिंदी के स्वरूप को निर्धारित करने के प्रयास में पूर्व परंपरा अर्थात् फ़ारसी लिपि में लिखी खड़ी बोली के गद्य को नकारा जा रहा था तो दूसरी ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों को स्वीकार किया जा रहा था। यह प्रक्रिया, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, जनसाधारण से विकसित नहीं हो रही है, पर बुद्धिजीवियों से विकसित होकर जनसाधारण तक जा भी नहीं रही है।

भारतेन्दु काल में उर्दू के गद्यकारों के सामने गद्य के स्वरूप को निश्चित करने की समस्या उतनी जटिल नहीं है, जितनी हिंदी के साहित्यकारों के सामने थी। कारण यह है कि उर्दू साहित्य का विकास उन प्रारंभिक चरणों से गुज़र चुका है, जिनसे हिंदी साहित्य अब गुज़र रहा था। ग़ालिब, सैयद अहमद, शिबली और हाली ने उर्दू गद्य को निश्चित आधुनिक स्वरूप दे दिया था, जबकि हिंदी का स्वरूप निर्धारित हो रहा था और संस्कृत के अध्ययन और अनुवाद, बंगला के ग्रंथों के अनुवाद तथा आर्यसमाज द्वारा प्रेरित वैदिक पुनरुत्थान की भावना के फलस्वरूप भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्द्धतत्सम प्रयोगों की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती जा रही है।¹

हिंदी आंदोलन के पीछे धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक कारण थे। उर्दूभाषी इनसे परिचित थे और वे अपने सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए देवनागरी आंदोलन का कड़ा विरोध कर रहे थे। हिंदी और देवनागरी लिपि के आंदोलन का नेतृत्व करनेवाले और उर्दू के समर्थक एक ही वर्ग के लोग थे। सर सैयद अहमद खां या राजा शिवप्रसाद सिंह या राजा लक्ष्मण सिंह उच्च-मध्यवर्ग की भावनाओं और हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उर्दू और हिंदी को वह जितनी सरलता से मुसलमानों और हिंदुओं की भाषा में विभाजित करके अंग्रेज़ सरकार से सुविधाएं प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे, उस पर प्रश्नचिह्न अवश्य लग सकता है। उर्दू सब मुसलमानों की भाषा कैसे हो सकती थी, जबकि आज तक गांव के या छोटे शहरों के मुसलमानों की मातृभाषा क्षेत्रविशेष की बोली होती है। यही प्रश्न हिंदी के संबंध में उठाया जा सकता है। ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी भाषाओं के क्षेत्र में रहने वाले निम्न-मध्यवर्ग के लिए हिंदी-उर्दू दोनों ही अपरिचित भाषाएं होंगी। फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक शहरों में एक वर्ग तैयार हो गया था, जिसकी मातृभाषा खड़ी बोली उर्दू थी, परंतु खड़ी बोली हिंदी में यह स्थिति बहुत देर में आयी।

हिंदी-उर्दू का विवाद उच्च-मध्यवर्ग के दो गुटों के टकराव का परिणाम था, जिसको शक्तिशाली बनाने के लिए हिंदुओं और मुसलमानों को घसीट लिया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिंदी को स्थापित करने तथा सरकारी कामकाज में उसे लागू करने का जो आंदोलन चला, वह हिंदू पुनरुत्थानवाद पर आधारित था।² हिंदू और मुसलमान लिपि का धर्म और संस्कृति से अटूट संबंध मानते थे। हिंदू धर्म को स्थापित करने के लिए हिंदी को स्थापित करना आवश्यक था, क्योंकि :

फ़ारसी के अध्ययन से हमारी भावनाएं दूषित हो जाती हैं, राष्ट्रीयता नष्ट हो जाती है। उस दिन का बुरा हो जिस दिन मुसलमानों ने सिंध पार किया। हमारे अंदर

1. वही, पृ. 113, 2. फ्रांसिस राबिंसन, सैपरेटिज़्म एमंग इंडियन मुस्लिम, पृ. 70 ।

इन्हीं लोगों के कारण सारी बुराइयां आयी हैं। मर्दानगी पहली चीज़ है जो इनके कारण इस देश से ग़ायब हो गयी।... मुगलों का अंत होने पर फ़ारसी से उर्दू शैली का विकास हुआ और अंग्रेज़ी सरकार ने इस विदेशी भाषा और लिपि को हिंदुओं के ऊपर लाद दिया। थोड़े से अमलों की सुविधा के लिए जो यह अन्यायपूर्ण कार्य हो रहा है, उसमें अनेक दोष हैं। इसके स्थान पर नागरी प्रचार से जो अनेक लाभ होंगे, उनमें सर्वश्रेष्ठ यह है कि हिंदू राष्ट्रीयता पुनः जागृत हो सकेगी। सबकी भाषा एक हो जाने पर परस्पर संगठन होगा।'

सर सैयद ने इन विचारों पर अपना मत प्रगट करते हुए लिखा :

...हिंदू लोगों के दिल में जोश आया है कि ज़बान उर्दू व ख़त (लिपि) फ़ारसी को जो मुसलमानों की निशानी है मिटा दिया जाये...यह एक ऐसी तदबीर है कि हिंदू-मुसलमान में किसी तरह इत्तिफ़ाक़ नहीं रह सकता। मुसलमान हरगिज़ हिंदी पर मुत्तफ़िक़ (सहमत) न होंगे और अगर हिंदू मुस्तैद हुए और हिंदी पर इसरा (आग्रह) हुआ तो वे उर्दू पर मुत्तफ़िक़ न होंगे और नतीजा इसका ये होगा कि हिंदू अलहदा (अलग) और मुसलमान अलहदा हो जावेंगे।

1880 में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने लिखा यदि उर्दू सरकारी कामकाज की भाषा बनी रही तो मुसलमान सरलता से सरकारी नौकरियां प्राप्त करते रहेंगे और पेशकारी, सरिश्तादारी, मुनसरिमि वगैरा में आज भी उनका एकाधिकार है।¹ इस स्थिति को बदलने के लिए 1880 से लेकर 1910 तक कठिन परिश्रम किया गया और हिंदी भाषा तथा साहित्य ने अपना अलग स्थान बनाने का प्रयास किया। हिंदी में छपने वाली पुस्तकों की संख्या उर्दू पुस्तकों से लगभग दुगुनी हो गयी। 1881-1890 में उर्दू की 4380 और हिंदी की 2793 पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। परंतु दस वर्ष के बाद 1901-1910 में ये आंकड़े बिल्कुल पलट गये। हिंदी में छपी पुस्तकों की संख्या 5063 हो गयी और उर्दू में केवल 3547 पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इसी के साथ-साथ हिंदी के समाचारपत्रों की स्थिति भी दृढ़ हुई। 1891 में हिंदी के 24 और उर्दू के 68 समाचार पत्र प्रकाशित होते थे, लेकिन 1911 में हिंदी समाचारपत्रों की संख्या 86 हो गयी और सरकुलेशन उर्दू के समाचारपत्रों से बढ़ गया।²

इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी की स्थिति को दृढ़ बनाने तथा उसे लोकप्रिय बनाने के जो प्रयास किये गये, उनमें उर्दू विरोध एक मुख्य मुद्दा था। बलिया की सभा में भारतेंदु ने हिंदी भाषा पर अपना प्रसिद्ध भाषण दिया। वहीं पर 'देवाक्षर चरित्र' प्रहसन अभिनीत किया गया, जिसमें उर्दू लिपि की गड़बड़ी के दृश्य दिखाये गये। बलिया के कलक्टर साहब से वहां की जनता ने नागरी लिपि के लिए प्रार्थना की :

हमनी के देस के कुदसा दुख देखि देखि

हमनी का देसे देवनागरी चलावता।

'उर्दू बदलि देवनागरी अछर चले, इहे एगो साहेब से ए अरज बा'³ 1885 में रामगरीब चौबे ने 'नागरी बिलाप' एक रूपक लिखा, जिसने लोगों का ध्यान नागरी लिपि की ओर आकर्षित

1. खुतूते सर सैयद में उद्धृत; निज़ामी प्रेस, 1924, पृ. 88-89, 2. फ्रंसिस राबिंसन, सैपरेटिज़्म एमंग इंडियन मुस्लिम, पृ. 78, 3. वही, पृ. 77, 4. शितिकंठ मिश्र, खड़ी बोली का आंदोलन, पृ. 19 ।

किया। मेरठ के गौरीदत्त ने नागरी लिपि के लिए मेरठ में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की। 'उनका रचना हुआ नागरी और उर्दू का स्वांग' बहुत पसंद किया गया। इसमें महारानी नागरी ने उर्दू बीबी के विरुद्ध दावा दाखिल कर अपना न्यायोचित हक मांगा है।¹ भारतेंदु ने 15 मार्च 1874 के मैगज़ीन में एक संक्षिप्त लेख 'गवर्नमेंट गिविंग अनड्यू इम्पारटेंस टु मोहमडेंस' में लिखा कि सर सैयद के प्रयत्न से सरकार ने अरबी पाठशालाओं को 10,000 रु. का अनुदान दिया है, यह तो खैर ठीक है; पर उनके लिए नौकरी सुरक्षित रखना, उन्हें सर्वत्र प्राथमिकता देना और संस्कृत पाठशालाओं को अरबी मक़तबों के समान सुविधा न देना सिद्ध करता है कि सरकार मुसलमानों के प्रति अनुचित पक्षपात करती है।

सारांश यह कि उस समय मुसलमानी विरोध की प्रवृत्ति बढ़ रही थी, क्योंकि मुसलमानों की ओर से सांप्रदायिक भावना का परिचय सैयद अहमद खां पहले ही दे चुके थे और हिंदी का न्यायोचित स्थान अन्यायपूर्वक उर्दू ने दखल कर रखा था। जून सन् 1874 में भारतेंदु ने 'स्यापा' निकाला जो उर्दू और उसके समर्थकों पर तीखा व्यंग्य है। उस समय की राष्ट्रीय भावना एक प्रकार की जातीय भावना थी। हिंदुत्व के साथ हिंदी के सम्मान की भावना बढ़ रही थी। प्रतापनारायण मिश्र ने तो 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तानी' का नारा ही अपना लिया था।²

नागरी प्रचार तथा हिंदी के समर्थन में चलाया गया यह आंदोलन निरंतर व्यापक स्वरूप ग्रहण करता गया। इसका 'शुभ फल हुआ कि लेफ्टीनेंट गवर्नर सर मैकडानल ने अपने आदेश (न. 585/III 343-868, 18 अप्रैल 1900) द्वारा नागरी को भी उर्दू के साथ कचहरी और दफ्तरों में समानाधिकार प्रदान कर दिया।'³ नागरी लिपि और हिंदी भाषा के विरोध में इलाहाबाद में 1898 में उर्दू सुरक्षा समिति स्थापित हो चुकी थी। उसने नागरी लिपि संबंधी सरकारी आदेश का विरोध किया। हिंदी राष्ट्रीयता, पुरस्त्थानवाद तथा अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान बनाने के प्रयत्न तथा दूसरी ओर मुसलमानों के सांस्कृतिक प्रभुत्व, और पैन इस्लामवाद ने सांप्रदायिकता फैलायी। अलग धर्म, अलग संस्कृति के आग्रह ने कुछ और सवाल भी उठाये, जिनसे यह दूरी बढ़ती चली गयी।

संक्षेप में हिंदी-उर्दू के संबंधों की पड़ताल के तहत हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय राजनीति में एक विशेष प्रकार का समय था। (अंग्रेजों के अधीन एक) नया शक्ति-संतुलन बन रहा था। हिंदू और मुसलमान उच्चवर्ग अंग्रेजी शासन के अंतर्गत अधिक से अधिक सुविधाएं पाने के लिए अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयास कर रहे थे। इसके अंतर्गत 'अलग पहचान' एक बड़ा मुद्दा बन गया था और पिछले सैकड़ों वर्षों में स्वतः धर्मों और संस्कृतियों के बीच जो निकटता थी, उसे त्याज्य माना जा रहा था। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है, यह सब उच्चवर्गीय संभ्रांत तबकों के लोग कर रहे थे। साधारण जन की पूरी आस्था परंपरागत मान्यताओं के मानदंडों पर आधारित थी।

अंग्रेज भी अपनी सत्ता बनाने के लिए 'फूट डालो और राज करो' के अंतर्गत दोनों भाषाओं के बीच कटुता और द्वेष की भावना फैला रहे थे।

आज हिंदी-उर्दू संबंधों की स्थिति भिन्न है। आज दोनों भाषाओं के बीच कटुता नहीं है।

1. वही, पृ. 91, 2. वही, पृ. 97-98, 3. वही, पृ. 92 ।

आज प्रायः हिंदी के विद्वान और साहित्यकार मानते हैं कि उर्दू का ज्ञान तथा उसकी साहित्यिक परंपरा हिंदी भाषा और साहित्य को समृद्ध करने में बड़ी भूमिका निभा सकती है। देवनागरी में उर्दू का साहित्य विपुल मात्रा में छपता है। उर्दू के विद्वान और साहित्यकार भी यह मानते हैं कि उर्दू को उसकी जड़ों से जोड़ने के लिए हिंदी के निकट जाने की आवश्यकता है। आज दोनों भाषाओं के मिले-जुले शोध-विषयों पर काम करने, दोनों परंपराओं को निकट लाने के लिए नयी शुरुआत का समय है।

हिंदी और उर्दू : साझा अतीत, खंडित वर्तमान सलिल मिश्र

हिंदी और उर्दू की छवि पिछली दो शताब्दियों से प्रतिद्वंद्वी भाषाओं की रही है। दोनों के परस्पर संबंध टकराव के रहे हैं। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि दुनिया की शायद ही कोई दो भाषाएं हों, जो इतनी गहराई से एक-दूसरे से जुड़ी हों, और जिनमें इतनी अधिक समानता हो जितनी हिंदी और उर्दू के बीच है। टकराव और अंतरंगता हिंदी और उर्दू के संबंधों में एक ही सिक्के के दो पहलू रहे हैं। इन दोनों को साथ-साथ समझे बगैर हिंदी और उर्दू के संबंधों को समझ पाना मुमकिन नहीं।

हिंदी और उर्दू : एक भाषा या दो

अपनी पुस्तक 'हिंदी नेशनलिज़्म' में आलोक राय ने हिंदी-उर्दू के संबंधों पर एक रोचक टिप्पणी की है, "जो एक के लिए हिंदी है वही दूसरे के लिए उर्दू है (One man's Hindi is another man's Urdu)।" उन्होंने प्रसिद्ध भाषाविद् अशोक केलकर द्वारा इस्तेमाल किये गये शब्द 'हर्दू' का भी जिक्र किया। ये सभी प्रयास दोनों भाषाओं की परस्पर नज़दीकी और समानता को रेखांकित करते हैं। अक्सर इन दोनों भाषाओं पर चर्चा में लिपि को कुछ ज्यादा महत्व दे दिया जाता है और अलग-अलग लिपियों में लिखे जाने के कारण इन्हें सहज रूप से अलग भाषाओं का दर्जा दे दिया जाता है।

भाषा और लिपि का संबंध काफी चर्चा का विषय रहा है। क्या भाषा और लिपि को एक-दूसरे का पूरक माना जा सकता है और किसी भी भाषा को उसकी लिपि के आधार पर ही परिभाषित किया जा सकता है? मलेशिया की मलय भाषा रोमन तथा अरबी दोनों ही लिपियों में लिखी जाती है, लेकिन इससे भाषा में कोई बदलाव नहीं आता। इसी तरह से टर्की में मुस्तफा कमाल पाशा ने तुर्की भाषा की लिपि को अरबी से बदलकर रोमन कर दिया, लेकिन उससे भाषा के अपने स्वरूप तथा संरचना में कोई बदलाव नहीं आया। भारत में भी पंजाबी भाषा गुरुमुखी और अरबी-फ़ारसी दोनों ही लिपियों में लिखी जाती रही है। लगभग यही हाल सिंधी भाषा का भी है। निश्चित रूप से एक भाषा को कई लिपियों में लिखा जा सकता है और अलग-अलग भाषाओं को एक लिपि में। लिपि किसी भी भाषा को लिखने का माध्यम मात्र है। हिंदी और उर्दू का व्याकरण तथा वाक्य विन्यास एक जैसे हैं और बोलचाल के स्तर पर इनमें फर्क कर पाना आसान नहीं। यदि व्याकरण और बोलचाल को आधार बनाया जाय तो हिंदी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएं मानने वाला तर्क ध्वस्त हो जाता है।

लेकिन इस तस्वीर का दूसरा पहलू भी है। आधुनिक हिंदी और उर्दू दोनों का विकास साहित्यिक भाषाओं के रूप में हुआ है और साहित्य के स्तर पर दोनों भाषाओं के अंतर काफी स्पष्ट रहे हैं। उर्दू साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान राल रसेल ने इस विषय पर अपने विचार काफी बेबाक ढंग से रखे हैं : “हर व्यावहारिक दृष्टिकोण से उर्दू और हिंदी अलग भाषाएं हैं और उन्हें अलग ही समझा जाना चाहिए।” (राल रसेल, How not to write the History of Urdu Literature पृ. 132)

हिंदी और उर्दू दो अलग भाषाएं हैं या एक ही भाषा के दो अलग नाम, यह विवाद काफी पुराना है और आसानी से हल होता नहीं दिखता। अकादमिक सुविधा के लिए हम हिंदी और उर्दू को ऐसे भाषाई क्षेत्रों के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जिनका काफी विशाल साझा क्षेत्र है, लेकिन अपना अलग स्वतंत्र इलाका भी। व्याकरण साझे क्षेत्र में आता है और लिपि तथा साहित्य दोनों भाषाओं के स्वतंत्र क्षेत्र में। बोलचाल के स्तर पर दोनों एक हैं, लेकिन साहित्य में दोनों का अंतर काफी स्पष्ट है। एक भाषा या दो-इस प्रश्न का कोई एक या निश्चित उत्तर संभव नहीं। लेकिन यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि लोकप्रिय साहित्य तथा बाज़ार के स्तर पर हिंदी और उर्दू में फर्क कर पाना संभव नहीं। इस बोलचाल की भाषा को हिंदुस्तानी के नाम से जाना गया है और इसमें हिंदी और उर्दू दोनों ही शामिल हैं। पारसी थियेटर के नाटक इसी हिंदुस्तानी में होते थे और बंबई के लोकप्रिय सिनेमा ने भी इसी हिंदुस्तानी को अपनाया। इसी भाषा में लिखी अपनी ‘शायरी’ की किताब ‘साये में धूप’ में दुष्यंत कुमार ने लिखा कि : “उर्दू और हिंदी अपने-अपने सिंहासन से उतर कर जब आम आदमी के पास आती हैं तो उनमें फर्क कर पाना बड़ा मुश्किल होता है।” हिंदी और उर्दू के किसी भी विमर्श में दोनों भाषाओं के इस पहलू पर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

हिंदी और उर्दू से जुड़ा एक और प्रश्न है जो 19वीं शताब्दी से विवाद के दायरे में रहा है। यदि हिंदी और उर्दू वास्तव में दो भाषाएं हैं, तो दोनों में अधिक पुरानी भाषा कौन-सी है? कौन-सी भाषा आधारगत है और किस भाषा का विकास उसकी शाखा के रूप में हुआ है? क्या उर्दू हिंदी की एक शैली है या हिंदी उर्दू की? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और सर सैयद अहमद खां ने अलग-अलग रूप में दिया। पिछले दो दशकों की दो महत्वपूर्ण पुस्तकों (अमृतराय : House Divided : The Origin and Development of Hindi and Urdu, नई दिल्ली, 1991 (शम्सुर्रहमान फारुकी : Early Urdu : Literary Culture and History, नई दिल्ली, 2001) ने इस बहस को फिर से उठाकर इसे एक नया आयाम दिया है। लेकिन जहां पहले प्रश्न का एक निश्चित उत्तर उपलब्ध नहीं, वहीं दूसरे प्रश्न का निश्चित उत्तर संभव भी है और आवश्यक भी। यही उत्तर हिंदी और उर्दू के परस्पर संबंधों के स्वरूप को निर्धारित करेगा।

हिंदी और उर्दू दोनों को आधुनिक साहित्यिक भाषाओं के रूप में देखा और समझा जाना चाहिए। आज जिस बुनियादी रूप में उर्दू और हिंदी हमारे सामने मौजूद हैं, उस रूप में उनका अस्तित्व क्रमशः 18वीं और 19वीं शताब्दी से पहले उपलब्ध नहीं था। उर्दू की शुरुआत 18वीं शताब्दी से होती है और हिंदी की 19वीं शताब्दी से। दोनों ही भाषाएं, एक विशाल, संयुक्त भाषायी परंपरा की उपज हैं, जो लगभग 12वीं से 18वीं शताब्दी तक भारत के विभिन्न हिस्सों (उत्तर, मध्य, पश्चिम और दक्षिण) में फली-फूली। यह परंपरा सामान्य अर्थों में भाषा न होकर एक भाषायी महासागर या भाषायी महामिलन (language amalgam) के रूप में अधिक थी। इस विशाल भाषायी

महासागर के लिए 13वीं शताब्दी से हिंदवी या हिंदुई या हिंदी शब्द का प्रयोग किया गया।

18वीं शताब्दी तक आते-आते कई कारणों से इस परंपरा का पतन शुरू हो चुका था। इसके अवशेषों से जन्म हुआ उर्दू और आधुनिक हिंदी का। इन भाषाओं का हिंदवी से वही संबंध है, जो किसी पेड़ की शाखाओं का उसकी जड़ से होता है। हिंदी और उर्दू की परस्पर निकटता और समानता का कारण भी यही है कि दोनों का भाषायी मूल एक है। हिंदवी परंपरा को समझे बगैर हिंदी और उर्दू का इतिहास समझ पाना संभव नहीं।

साझी विरासत : हिंदवी

हिंदवी या हिंदुई शब्द का पहली बार इस्तेमाल किया था दिल्ली के प्रख्यात फ़ारसी कवि अमीर खुसरो (1253-1325) ने। जिस तरह से वली दकनी को बाबा-ए-रेख़्ता और मौलवी अब्दुल हक को बाबा-ए-उर्दू की अनौपचारिक पदवियों से सम्मानित किया गया है, निश्चित रूप से बाबा-ए-हिंदवी कहलाये जाने का अधिकार सिर्फ अमीर खुसरो का है। अपने फ़ारसी साहित्य में खुसरो ने खुद को 'हिंद की तूती' (तूती-ए-हिंदम) के नाम से परिभाषित किया और अपने पाठकों/श्रोताओं से अपील की कि वे खुसरो से हिंदवी में बात करें ताकि खुसरो उन्हें कुछ मधुर बातें सुना सकें :

चुमन तूती-ए-हिंदम, अर रास्त पुर्सी,

ज़िंमन हिंदुई पुर्स, ता नज़ गोयम।

(मैं हिंद की तूती हूँ और अगर मुझसे बात करनी है तो हिंदुई में करो, ताकि मैं तुम्हें मधुर बातें सुना सकूँ।)

1318 के आसपास लिखे गये अपने प्रसिद्ध फ़ारसी महाकाव्य 'नूर सिपहर' (नौ आकाश) में खुसरो ने भारत में बोली जाने वाली भाषाओं की शिनाख़्त की और उन सबको हिंदी से जोड़कर दिखाया :

सिंदी-ओ-लाहोरी-ओ-कश्मीर-ओ गर,

धार समंदरी तिलगी ओ गुजरा।

माबरी-ओ गोरी-ओ बंगाल-ओ अवध,

दिल्ली-ओ पैरामकश अंदरहमाहद,

ई हमा हिंदवीस्त जि अयाम-ए कुहन,

आम्मा बकारस्त बहर गूना सुखन।

(सिंधी, पंजाबी, कश्मीरी, मराठी, कन्नड़, तेलुगु, गुजराती, तमिल, असमिया, बंगला, अवधी, दिल्ली और उसके आसपास जहां तक उसकी सीमा है, इन सबको प्राचीन काल से हिंदवी नाम से जाना जाता है। बहरहाल अब मैं अपनी बात शुरू करता हूँ।)

खुसरो के इस छंद को भारत के पहले अनौपचारिक भाषा-सर्वेक्षण का दर्जा दिया जा सकता है। उन्होंने ग्रियर्सन से कई सदी पहले यह काम किया था। अपने इस सर्वेक्षण में खुसरो ने संस्कृत का भी जिक्र किया, लेकिन उसे हिंदवी के दायरे से अलग रखा :

लेक ज़बानीस्त दिगर कस सुखना
आनस्त गुर्जी निज्द हमां बरहमना
संसकिरत नाम जि अहद-ए कुहनश
आम्मां नदारद खबर अज कुन मकुनश।

(इसके अलावा कुछ और भाषाएं भी हैं, जिनमें ब्राह्मणों की भाषा की एक खास ही जगह है। इसे प्राचीन काल से संस्कृत के नाम से जाना जाता रहा है और आम लोग इसकी बारीकियों से वाकिफ नहीं हैं।)

खुसरो ने हिंदवी की फ़ारसी और तुर्की से भी तुलना की :

इस्बात गुत हिंद बहुज्जत कि राजेहस्त
बर पारसी-ओ तुर्कि अज़ अल्फाज़ खुश गवार।

(फारसी और तुर्की की तुलना में हिंदवी अपने मधुर शब्दों के कारण अधिक लोकप्रिय है।)

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिंदी शब्द का इतिहास काफी पुराना है और पिछली लगभग आठ शताब्दियों से इसका इस्तेमाल हो रहा है। इस कारण से यह शब्द अपने लंबे जीवनकाल में कई अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अमीर खुसरो का हिंदी से अभिप्राय हिंद की ज़बान से था, और इस मायने में हिंदी की यह सबसे व्यापक परिभाषा थी। 'हिंदी' से एक अन्य अभिप्राय था मध्य देश की विभिन्न बोलियों के समूह से। ग्रियर्सन ने अपने भाषा-सर्वेक्षण में हिंदी को उत्तर प्रदेश की (पहाड़ी क्षेत्र और भोजपुर को छोड़कर) भाषा के रूप में परिभाषित किया और इसे पश्चिमी तथा पूर्वी, दो शाखाओं में बांटा। हिंदी का सबसे आधुनिक अर्थ हिंदुस्तानी की उस शैली से है, जिसे खड़ी बोली (दिल्ली और उसके आस-पास के इलाकों की बोली) में और नागरी लिपि में 19वीं शताब्दी से लिखा जाने लगा। इस भाषा को नागरी हिंदी, खड़ी बोली हिंदी, नयी हिंदी तथा कुछ समय बाद हिंदी के रूप में जाना गया। यहाँ पर हिंदी से अभिप्राय नागरी हिंदी से है।

मध्यकाल में हिंदवी काफी फली-फूली। इसने नयी साहित्यिक शैलियों को अपनाया और यह देश के नये हिस्सों तक पहुंची। भौगोलिक रूप से इसका प्रभाव-क्षेत्र बहुत बड़ा था और बहुत सारे भाषायी समुदाय तथा बोलियां इसके दायरे में आते थे। हिंदवी मुख्य रूप से लश्कर, बाज़ार और साहित्य की भाषा थी। हिंदवी ने अपनी प्रसार यात्रा बगैर किसी राजनीतिक या औपचारिक संरक्षण के ही तय की। हिंदवी में प्रेम तथा भक्ति साहित्य की प्रधानता रही। ये रचनाएं नागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों में लिखी जाती थीं और मौखिक स्तर पर भी इनका प्रसार होता था।

हिंदवी संस्कृत और फ़ारसी के साथ-साथ स्थानीय भाषाओं से भी नये-नये शब्द ग्रहण करती जा रही थी। परंतु इसके विकासक्रम में ऐसी आशंका कभी पैदा नहीं हुई कि संस्कृत और फ़ारसी पर निर्भरता के कारण यह भाषा किसी दिन संस्कृत या फ़ारसी साहित्यिक परंपरा में विलीन हो जायेगी। एक भाषायी सम्मिश्रण के लिहाज से हिंदवी में बहुत सारी बोलियां समायी हुई थीं, जिनमें से कुछ (खासतौर से ब्रज और अवधी) की अपनी एक समृद्ध साहित्यिक परंपरा थी। संस्कृत और फ़ारसी जैसी शास्त्रीय भाषाओं से अपनी दूरी के कारण मध्यकालीन भक्ति और सूफ़ी आंदोलनों ने भी इस भाषा का काफी बड़े पैमाने पर सहारा लिया। हिंदवी परंपरा के तहत अलग-अलग शैलियों में लिखने वाले लोकप्रिय कवियों में बंदानवाज़, गेसूदराज़, विद्यापति, कबीर, मीराबाई, सूरदास,

तुलसीदास, आदि प्रमुख थे। कबीर का काव्य खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी और राजस्थानी सभी में प्रचलित था। तुलसीदास अवधी में, सूरदास ब्रज में, बंदानवाज़ दकनी में, विद्यापति मैथिली और अपभ्रंश में और मीराबाई ब्रज मिश्रित राजस्थानी में कविताएं लिखते-पढ़ते थे। मानकीकरण के अभाव में इसे भाषा को अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाने लगा। हिंदवी के अलावा कई जगह लोग इस देहलवी (दिल्ली के नाम से), गूज़री, दक्कनी या दक्खनी (दक्कन, दक्षिण के आधार पर), भाखा या भाषा और कई अन्य नामों से भी संबोधित करते थे। अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने अपनी भाषा को संस्कृत से अलगाने के लिए अपनी भाषा का नाम 'भाखा' बताया है, जो वास्तव में अवधी है और इसी में सूफ़ी कवि जायसी ने 'पद्मावत' की रचना की थी।

विभिन्न क्षेत्रों और धार्मिक समुदायों तक पहुंच को देखते हुए यह भाषा समन्वयवादी साहित्य का एक शक्तिशाली माध्यम थी। कबीर, मलिक मोहम्मद जायसी जैसे कवि और बेलग्राम (पूर्वी उत्तर प्रदेश में स्थित) के बहुत सारे कवि धार्मिक सद्भाव जैसे विषयों पर साहित्य लेखन करते थे। हिंदवी परंपरा नज़ीर अकबराबादी (1740-1830) की शायरी के साथ एक नये मुकाम पर पहुंच गयी। 'आम आदमी का महान शायर' कहलाने वाले नज़ीर ने अपने शहर आगरा को केंद्र में रखकर दैनिक जीवन के बहुत सारे पहलुओं पर एक से एक उत्कृष्ट कविताएं लिखीं। उन्होंने मेलों और त्यौहारों (ईद, होली, कृष्णलीला और स्थानीय मेले), देवताओं और संतों (कृष्ण, गणेश, पैगंबर मुहम्मद, नानक), स्थानीय खेलों (कबड्डी) और आम लोगों (दस्तकार, करघे वाले, वेश्याएं, कुंजड़े, दुकानदार आदि)-सब पर अपनी कलम चलायी। इसके अलावा उन्होंने युवावस्था, बुढ़ापे, मौत और इंसानियत जैसे सार्वभौमिक विषयों पर भी कविताएं लिखीं। नज़ीर ने न केवल हिंदवी साहित्य को एक नया अर्थ दिया बल्कि उन्होंने इस भाषा को एक नयी प्रखरता व जीवंतता भी प्रदान कर दी। नज़ीर अकबराबादी ने हिंदवी परंपरा को एक नया आयाम दिया। 10वीं-11वीं शताब्दी के फ़ारसी के महाकवि फ़िरदौसी ने ईरान के राजवंश पर अपना प्रसिद्ध काव्य 'शाहनामा' लिखकर फ़ारसी साहित्य में एक नयी शैली की शुरुआत की। कालांतर में इसे 'नामा' शैली के रूप में जाना गया और इसके अंतर्गत राजाओं के जीवन का महिमा-मंडन किया गया। इस तरह से 'नामा' शैली का विकास क़सीदों (राजा की प्रशंसा में लिखे जाने वाले पद) के रूप में हुआ। भारत में बाबरनामा, हुमायूँनामा, अकबरनामा जैसे कई ग्रंथों की रचना इसी परंपरा के तहत हुई। नज़ीर अकबराबादी ने इस नामा-परंपरा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया। उन्होंने 'आदमीनामा' लिखा और इस तरह से फ़ारसी की प्रचलित नामा-परंपरा को उलटकर रख दिया। अपने 'आदमीनामा' में नज़ीर ने बताया कि आदमी में ऊंची और नीची, उत्कृष्ट और निकृष्ट सभी संभावनाएं मौजूद हैं और राजा से लेकर भिखारी तक हर शख्स आदमी ही तो है :

दुनिया में पादशाह है सो है वो भी आदमी

और मुफ़लिसोगदा है सो है वो भी आदमी।

नज़ीर का 'आदमीनामा' पूरी भारतीय साहित्यिक परंपरा में स्पष्ट मानवतावाद और सार्वभौमिकतावाद का एक महत्वपूर्ण अग्रगामी उदाहरण है।

हिंदवी के विकासक्रम से हमारे देश के भाषायी फलक का अनूठापन उजागर हो जाता है।

मध्यकाल के दौरान सदियों तक यह अकेली भाषा देश के ज़्यादातर हिस्सों पर छापी रही। आज बोली जाने वाली और देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी के विपरीत मध्यकालीन हिंदवी (या पुरानी हिंदी) के बोलने और चाहने वाले देश के दक्षिणी हिस्सों सहित पूरे भारत में फैले हुए थे। मध्यकालीन गुजरात के मियां मुस्तफ़ा इस भाषा की जीवंतता का एक बेहतरीन उदाहरण हैं। मियां मुस्तफ़ा, जौनपुर के सैयद मोहम्मद मेहदी (मृत्यु 1504 ई.) को अपना गुरु मानते थे। मजे की बात यह है कि सैयद मोहम्मद, मेहदी मियां मुस्तफ़ा के गांव से हजार किलोमीटर दूर के रहने वाले थे। मियां मुस्तफ़ा को इस बात पर भारी एतराज़ था कि फ़ारसी के शायर हिंदवी को नीची नज़र से देखते हैं। इसीलिए उन्होंने हिंदी की हिमायत में एक कविता लिखी :

हिंदी को ना मारो ताना
सभी बतावें हिंदी माना
यह जो है कुरआन खुदा का
हिंदी करे बखान सदा का
हिंदी मेहदी ने फरमायी
खुंदमीर के मुख पर आयी
कई दोहरे, साखी, बात
बोले खोल मुबारक जात
मियां मुस्तफ़ा ने भी कही
और किसी की तब क्या रही?

इस कविता की सबसे बड़ी ताकत इसकी भाषा है। इसे बीसवीं सदी के बाज़ारों की हिंदी की तरह अभी भी आसानी से समझा और अपनाया जा सकता है। इस तरह के अनगिनत उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। बारहवीं-तेरहवीं सदी के बाद ऐसी बहुत सारी साहित्यिक कृतियां ढूंढी जा सकती हैं, जिनकी भाषा आज की हिंदुस्तानी से गहरे तौर पर मिलती-जुलती थी। यहां इस बात को दर्ज करना ज़रूरी है कि हिंदवी ने न केवल भाषायी एकता का रास्ता साफ किया बल्कि उसने सदियों के सफर में देश को सांस्कृतिक एकता व निरंतरता के सूत्र में पिरोने का ऐतिहासिक काम भी किया।

ऐसी थी हिंदवी की ज़मीन, जिससे पनपे थे हिंदी और उर्दू के पौधे।

साज़ा विरासत का बंटवारा

हिंदवी-परंपरा भारत की साज़ा संस्कृति का बेहतरीन नमूना है। इस साहित्यिक परंपरा ने अपने विकासक्रम में संस्कृत और फ़ारसी के शब्दों को काफी सहज रूप से ग्रहण किया। शाहजहां के समकालीन एक हिंदवी कवि भिखारीदास ने 'हिंदवी' को ऐसे परिभाषित किया :

ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोय
मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति सुगम जु होय।

जैसा कि कहा जा चुका है, 18वीं शताब्दी से यह साज़ा परंपरा पतनोन्मुख होनी शुरू हुई। खास तौर पर इसकी कुछ शैलियां लगभग विलुप्त होने लगीं। 18वीं शताब्दी में गूजरी और दकनी का

ढलान शुरू हुआ और 19वीं शताब्दी में ब्रज और अवधी का। इनको अपदस्थ किया क्रमशः उर्दू और आधुनिक हिंदी ने। वली दकनी की मुख्य पहचान उर्दू के पहले महाकवि के साथ-साथ दकनी के अंतिम महाकवि की भी है।

उर्दू का शुरूआती विकास गूजरी और दकनी के अत्यधिक फ़ारसीकरण के रूप में हुआ। अनेक संस्कृतनिष्ठ तथा स्थानीय शब्दों, भारतीय प्रतीकों, मिथकों, वातावरण तथा साहित्यिक शैलियों का स्थान अरबी-फ़ारसी के शब्दों, सामी प्रतीकों, मिथकों तथा फ़ारसी की साहित्यिक शैलियों (मसलन गज़ल, कसीदा, मरसिया) ने ले लिया। जैसे-जैसे इस नये साहित्य पर फ़ारसी रंग गाढ़ा होता गया, इसकी स्थानीय जड़ें कमज़ोर होती गईं। इस मायने में उर्दू साहित्य की मुख्य धारा हिंदवी परंपरा से बिल्कुल भिन्न थी। हिंदवी साहित्य का सबसे गाढ़ा रंग स्थानीय था, हालांकि उसमें फ़ारसी और संस्कृत का भी मिश्रण था। जहां हिंदवी में सहजता थी, वहीं उर्दू में सचेतन रूप से गढ़ा हुआ तथा परिष्कृत किया हुआ साहित्य लिखा जा रहा था।

उर्दू कविता की फ़ारसी पृष्ठभूमि तथा प्रतीकों पर सबसे पहले ध्यान गया उर्दू गद्य के 19वीं शताब्दी के महत्वपूर्ण लेखक मुहम्मद हुसैन आज़ाद का। उर्दू काव्य पर 1880 में लिखी गयी पहली विवेचनात्मक पुस्तक 'आबे-हयात' में मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने अपने चुटीले अंदाज़ में लिखा :

‘सुंदरता एवं सौंदर्य के रनिवास में ‘लैला’ और ‘शीरी’ आ गयीं। जब वे आयीं तो ‘रांझे’ की जगह ‘मजनू’ और ‘फरहाद’ क्यों न आते? ‘मजनू’ और ‘फरहाद’ की आंखों से गंगा-जमुना तो बह नहीं सकीं, विवश होकर ‘जैहून’ और ‘सैहून’ भारत में आ गये। हिमाचल और विंध्याचल को छोड़कर आशिक लोग ‘कोह-बेसतून’, ‘कस्रे-शीरी’, ‘कोह-अलबंद’ से सिर फोड़ते हैं। मगर जब कोई सुरुचिपूर्ण कवि चाहता है तो यहीं के फूलों से यहां के मकान सजा देता है और वे अजब बहार देते हैं।’ (आबे-हयात, अनुवाद ज़ाफर रज़ा, नेशनल बुक ट्रस्ट, 1975, पृ. 19)

लगभग एक शताब्दी बाद आधुनिक हिंदी भी उसी परिष्कृत सांचे में ढली और ‘एक नयी चाल चलते हुए’ हिंदवी की सहजता और स्वच्छंदता को दरकिनार कर, ‘हिंदवी की फ़ारसी विरासत से मुंह मोड़कर’ और बोलियों से नाता तोड़कर संस्कृतनिष्ठ रास्ते की ओर उन्मुख हुई। इस तरह से एक ही उद्गम स्रोत से निकलने के बावजूद उर्दू और आधुनिक हिंदी अलग-अलग साहित्यिक रास्तों की ओर अग्रसर हुईं।

उर्दू और हिंदी के बीच इस तरह से पैदा हुए भाषायी तथा साहित्यिक विभाजन को और अधिक मजबूत किया धर्म और राजनीति ने। यहां पर ब्रिटिश शासकों का ज़िक्र आवश्यक है। ब्रिटिश शासकों ने भारत में आकर एक नये भाषायी विभाजनवादी विचार को जन्म दिया, उसका प्रसार किया तथा उसे अपनी भाषा-नीति का आधार बनाया। यह विचार था भाषा को धर्म से जोड़ने का, धर्म के भाषायी आधार को तथा भाषा के धार्मिक आधार को खोजने तथा स्थापित करने का। निश्चित रूप से यह विचार ब्रिटिश विद्वानों के यूरोपीय अनुभवों की देन था। भारत का पारंपरिक भाषायी फ़लक इसके बिल्कुल विपरीत था। भारत में भाषा का आधार क्षेत्रीय था न कि धार्मिक। यहां की अधिकांश भाषाओं के नाम भी क्षेत्रों पर आधारित थे न कि किसी धर्म या नृजातीय समूह पर। भाषा को धर्म से जोड़ने का विचार भारतीय परिस्थितियों के लिए बिल्कुल विजातीय और सांप्रदायिक था।

अपने इस नये विचार के साथ ब्रिटिश शासकों ने भारत में हिंदुओं तथा मुसलमानों को अपना

अस्तित्व अलग-अलग भाषाओं में ढूँढ़ने के लिए प्रेरित किया। अपने इन प्रयासों के फलस्वरूप उन्होंने उर्दू (जिसे वे शुरू में हिंदुस्तानी कहते थे) को मुसलमानों की भाषा तथा हिंदी को हिंदुओं की भाषा के रूप में स्थापित किया।

भाषा से धर्म को जोड़ने का जो काम अंग्रेजों ने शुरू किया था, उसे आगे बढ़ाया आर्य समाज तथा अलीगढ़ आंदोलन ने। आर्य समाज 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शुरू होने वाला सामाजिक आंदोलन था, जिसमें सुधारवादी तथा पुनरुत्थानवादी, दोनों ही तत्व मौजूद थे। इसके प्रवर्तक दयानंद सरस्वती ने हिंदी को एक नया नाम दिया 'आर्य भाषा' तथा इसे समस्त हिंदुओं की भाषा बताया। इस 'आर्य भाषा' के अतीत को रेखांकित करने में उन्होंने इसके हिंदवी अतीत को (जो साझा विरासत पर आधारित था) पूरी तरह से नकारते हुए इसे सीधे संस्कृत के साथ जोड़ दिया। यह अतीत को अपने हिसाब से गढ़ने तथा निर्मित करने का प्रयास था। यहां पर मजेदार बात यह है कि अपनी 'आर्य भाषा' का प्रचार-प्रसार करने के लिए आर्य समाज को सहारा लेना पड़ा उर्दू का। पंजाब में 'आर्य गज़ट' तथा उत्तर प्रदेश में 'आर्य पत्रिका' और 'आर्य समाचार' उर्दू के अखबार थे, जिनके माध्यम से 'आर्य भाषा' का प्रचार होना था। इस तार्किक असंगति का कारण स्पष्ट था : 19वीं शताब्दी में उत्तर भारत में उर्दू का वर्चस्व था और आर्य समाज के अनेक अनुयायी उर्दू भाषी थे। धर्म और भाषा का समीकरण वास्तविक न होकर महज़ किताबी था।

जो प्रयास आर्य समाज के नेता हिंदी को लेकर कर रहे थे, उसी तरह का प्रयास अलीगढ़ आंदोलन द्वारा उर्दू को लेकर हो रहा था। अलीगढ़ आंदोलन ने उर्दू भाषा का प्रचार-प्रसार सभी भारतीय मुसलमानों की, और सिर्फ मुसलमानों की, भाषा के रूप में किया। उर्दू को मुस्लिम अस्मिता का जामा पहनाना आसान काम नहीं था। उस समय तक उर्दू की मुख्य छवि स्थानीय अदालतों की भाषा, उत्तर भारत के अभिजात वर्ग की भाषा, या फिर दिल्ली के एक विशिष्ट साहित्यिक वर्ग की अपनी भाषा के रूप में थी। अलीगढ़ आंदोलन ने एक ओर तो उर्दू को दिल्ली के संकुचित दायरे से निकालकर उसे एक अखिल भारतीय मंच पर स्थापित करने का प्रयास किया, तो दूसरी ओर व्यापक साझे दायरे से निकालकर उसे एक संकुचित मुस्लिम दायरे में बंद करने का भी प्रयास किया। इस तरह से अलीगढ़ आंदोलन ने उर्दू को क्षेत्रीय पैमाने पर फैलाने तथा धार्मिक पैमाने पर छोटा करने का काम एक ही साथ किया। उर्दू को इस्लामी जामा पहनाने में इस बात से भी मदद मिली कि 19वीं शताब्दी में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में मुस्लिम शासकों के पतन से संबंधित विषयवस्तु पर साहित्य (अब्दुल हलीम शरर के पचास से भी अधिक उपन्यास, हाली पानीपती की मद्दे ज़जरो इस्लाम, मोहम्मद इक़बाल की शिकवा और जवाबे शिकवा आदि ग्रंथ उर्दू भाषा में ही लिखे जा रहे थे। तत्कालीन ब्रिटिश शासकों, आर्य समाज और अलीगढ़ आंदोलनों की हर संभव कोशिशों के बावजूद न तो उर्दू मुसलमानों की और न हिंदी हिंदुओं की भाषा बन पायी। इन दोनों धार्मिक समुदायों में भाषाओं की विविधता पहले की तरह बनी रही। लेकिन इतना ज़रूर हुआ कि दोनों भाषाओं को अलग-अलग धार्मिक पहचान अवश्य मिल गयी। इसका एक परिणाम यह हुआ कि 20वीं शताब्दी में जब सांप्रदायिक राजनीति का उदय हुआ तो उसने भाषायी अस्मिता का जमकर इस्तेमाल किया। मुस्लिम लीग ने मोहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुसलमानों को लामबंद करने

में उर्दू का सहारा लिया। इससे कुछ छोटे पैमाने पर यही काम हिंदू महासभा ने हिंदी को लेकर किया। सांप्रदायिक राजनीति ने दोनों भाषाओं के बीच खाई को और भी गहरा और चौड़ा कर दिया।

भाषा के संप्रदायीकरण से उर्दू और हिंदी दोनों को नुकसान हुआ। लेकिन उर्दू का नुकसान हिंदी के मुकाबले कहीं अधिक था। 19वीं शताब्दी तक उर्दू पंजाब और उत्तर प्रदेश में सामाजिक और साहित्यिक मुख्यधारा की भाषा थी, लेकिन 1947 तक वह हाशिए पर आ गयी। देश के विभाजन ने उर्दू के संकट को और भी गहरा कर दिया।

साझा विरासत की निरंतरता

हिंदी और उर्दू के संबंधों के बारे में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि राजनीतिक स्तर पर जितनी गहरी खाई दोनों के बीच रही है, साहित्यिक और सामाजिक स्तर पर उतने ही गहरे संबंध भी दोनों के रहे हैं। राजनीतिक और सांप्रदायिक दबावों के तहत सचेतन स्तर पर टकराव, लेकिन इसके साथ ही सहज रूप से पारस्परिक निर्भरता और संवाद, दोनों ही साथ-साथ चलते रहे हैं। राजनीतिक टकराव हिंदी और उर्दू के संबंधों का एक पहलू है, उनका परस्पर संवाद दूसरा पहलू है। यह सिलसिला आज भी जारी है। इस संवाद पर चर्चा किये बगैर हिंदी और उर्दू की कहानी अधूरी रहेगी।

जैसा कि स्पष्ट है कि 'हिंदी' शब्द का इतिहास बहुत पुराना है और हिंद की भाषा के रूप में इसका इस्तेमाल 13वीं शताब्दी से होता आया है। इसकी तुलना में 'उर्दू' शब्द नया है। उर्दू तुर्की भाषा का शब्द है और इसका अर्थ है लश्कर या छावनी। एक भाषा के लिए उर्दू शब्द का प्रयोग 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पहले नहीं हुआ। शुरूआती उर्दू शायर अपनी भाषा के लिए हिंदी शब्द का ही प्रयोग करते रहे। उर्दू की दुनिया में खुदा-ए-सुखन के नाम से मशहूर 18वीं सदी के महाकवि मीर तक़ी मीर ने अपने एक शेर में लिखा :

क्या जानूं लोग कहते हैं किसको सुरुर-ए-कल्ब ,
आया नहीं है लफ़्ज़ ये हिंदी जबां के बीच।

ग़ालिब ने अपनी चिट्ठियों के प्रकाशित संकलन को नाम दिया ऊद-ए-हिंदी। जब 1860 के आसपास तक हिंदी और उर्दू का राजनीतिक टकराव जगज़ाहिर हो गया, तब कवियों का ध्यान भी इस ओर गया। अकबर इलाहाबादी ने इसे एक छोटी-सी पारिवारिक खटपट से ज़्यादा कुछ नहीं समझा :

हम उर्दू को अरबी क्यों न करें, हिंदी को वो भाषा क्यों न करें,
अखबार चलाने की खातिर मजमून तराशा क्यों न करें।
आपस में अदावत कुछ भी नहीं, पर एक अखाड़ा जारी है
जब इससे ख़ल्क़ का दिल बहले, हम लोग तमाशा क्यों न करें।

यहां पर 'हम लोग' से अकबर का अभिप्राय सिर्फ उर्दूवालों से नहीं, बल्कि हिंदी और उर्दू दोनों ही कुनबों से था। एक और जगह हिंदी-उर्दू विवाद का मज़ाक उड़ाते हुए अकबर ने लिखा :

बज़्म की शब मैंने उस बुत से लड़ायी थी जबां
ये असर उसका हुआ, उर्दू से हिंदी लड़ गयी।

मोहम्मद इक़बाल ने हिंदी-उर्दू विवाद को साझा विरासत के लिए दुर्भाग्यपूर्ण समझते हुए और दोनों भाषाओं के साझे अतीत को याद करते हुए लिखा :

वां बाहम प्यार के चर्चे थे, दस्तूर-ए-मुहब्बत कायम था
यां बहस में उर्दू-हिंदी है, या कुर्बानी या झटका है।

अकबर इलाहाबादी के बारे में यह जानना ज़रूरी है कि वे महात्मा गांधी के बहुत बड़े प्रशंसक थे। अकबर उम्र में गांधी से 23 साल बड़े थे। उनके एक कविता संग्रह का नाम है, 'गांधीनामा' जिसमें उन्होंने गांधी की राजनीति की विशेषताओं का बखान किया और पश्चिमी साम्राज्यवादी तफ़ान के बरक्स गांधी को पूरब के प्रतीक के रूप में देखा :

बुझी जाती थी शम्मा मशरिकी मग़रिब की आंधी से
उम्मीदे रौशनी कायम है लेकिन भाई गांधी से।

वैश्विक इस्लाम (Pan Islam) का दम भरने वालों को लताड़ते हुए अकबर ने लिखा :

शेख जी तुमको मुबारक रूम ओ रय।
हम तो कहते हैं कि गांधी जी की जय।।

इसी तरह से पाकिस्तानी विचार के प्रवर्तक समझे जाने वाले इक़बाल ने भगवान राम को इमाम-ए-हिंद का दर्जा दिया :

है राम के वजूद पर हिंदोस्तां को नाज़,
अहले नज़र समझते हैं उनको इमाम-ए-हिंद।

बीसवीं शताब्दी में मुस्लिम लीग के बड़े नेता हसरत मोहानी अपनी व्यक्तिगत आस्था में भगवान कृष्ण के बड़े अनुयायी थे और अपनी हज यात्रा को तब तक पूरा नहीं मानते थे, जब तक मक्का से लौटकर मथुरा में आकर कृष्ण के दर्शन न कर लें। हसरत मोहानी ने लिखा :

हसरत की भी कबूल हो मथुरा में हाज़री,
सुनते हैं आशिकों पे तुम्हारा करम है खास।

निश्चित रूप से हसरत मोहानी के राजनीतिक जीवन तथा सामाजिक-साहित्यिक जीवन के रास्ते अलग-अलग दिशाओं में जाते थे। उर्दू कविता का इतिहास इस तरह के उदाहरणों से भरा पड़ा है।

भाषा की ओर लौटते हुए, उर्दू और हिंदी की परस्पर निर्भरता तथा अंतरंगता को दोनों ही भाषाओं के लेखकों ने स्वीकार किया। मुहम्मद हुसेन आज़ाद द्वारा लिखित 'आबे-हयात' उर्दू काव्य पर लिखा जाने वाला पहला गद्य था और इसका पहला ही वाक्य काफी चर्चा के केंद्र में रहा :

“इतनी बात प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि हमारी उर्दू भाषा ब्रज भाषा से निकली है।” (आबे हयात, अनुवाद ज़ाफ़र रज़ा, पृ.1)

एक ऐसे समय में जब उर्दू को फ़ारसी से जोड़ना कई उर्दू वाले सम्मान की दृष्टि से देखते थे, मुहम्मद हुसेन आज़ाद ने उर्दू को ब्रज भाषा से जोड़कर उसके स्थानीय चरित्र को उजागर किया।

'आबे-हयात' के कुछ ही समय के बाद हाली पानीपती (जिनका पूरा नाम मौलाना अल्लाफ हुसैन हाली था) ने भी उर्दू कविता पर एक किताब लिखी 'मुकद्दमा-ए-शेर-ओ-शायरी'। हाली ने भी उर्दू के हिंदी के साथ अभिन्न संबंधों पर प्रकाश डाला :

‘जैसा कि विदित है, उर्दू भाषा की नींव हिंदी भाषा पर रखी गयी है। उसकी समस्त क्रियाएं, समस्त वर्ण और अधिकांश संज्ञाएं हिंदी से ली गयी हैं और उर्दू कविता की नींव फ़ारसी पर रखी गयी है, जो अरबी कविता से प्रभावित है, फिर उर्दू भाषा में संज्ञाओं का बड़ा भाग अरबी और फ़ारसी से लिया गया है। अतः उर्दू का जो कवि हिंदी भाषा बिल्कुल नहीं जानता और केवल अरबी-फ़ारसी के सहारे गाड़ी चलाता है, वह मानो अपनी गाड़ी बिना पहियों के निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचाना चाहता है और जो अरबी-फ़ारसी नहीं जानता और केवल हिंदी भाषा अथवा केवल मातृ-भाषा के बल पर इस भार का वहन करता है, वह एक ऐसी गाड़ी टेलता है, जिसमें बैल नहीं जोते गये।’ (हाली पानीपती, मुकद्दमा-ए-शेर-ओ-शायरी, अनुवाद हंसराज रहबर, सुरेशचंद्र गुप्त, ख्वाजा बदीउज्जमां, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृ० 83)

हाली के अनुसार उर्दू कविता एक ऐसी बैलगाड़ी की तरह है, जिसके बैल अरबी-फ़ारसी हैं और पहिये हिंदी। निश्चित रूप से कोई भी बैलगाड़ी बैल और पहिये के बग़ैर नहीं चल सकती।

यद रहे कि वह समय था जब हिंदी-उर्दू विवाद अपने चरम पर था तथा दोनों भाषाओं के पक्षधर इन भाषाओं की तरफ से राजनीतिक संरक्षण के लिए एक-दूसरे से लड़ाई लड़ रहे थे।

हिंदी और उर्दू की इस अंतरंगता और सहयात्रा को हिंदी साहित्यकारों ने भी स्वीकारा। यह एक बहुत दिलचस्प तथ्य है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की लिटरेरी टेक्स्ट के रूप में विख्यात मैथिलीशरण गुप्त द्वारा लिखित ‘भारत-भारती’ की प्रेरणा स्रोत थी मौलाना हाली द्वारा लिखित ‘मद्दे जज़रो इस्लाम’ (इस्लाम की रवानी और उसका पतन) जो ‘मुसद्दस’ के नाम से जानी जाती है। ‘मुसद्दस’ की तर्ज पर काव्य लिखने की सलाह मैथिलीशरण गुप्त को महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दी थी। मैथिलीशरण गुप्त ने खुद भी स्वीकारा था कि ‘भारत-भारती’ की प्रेरणा उन्हें ‘मुसद्दस’ से मिली थी। ‘सरस्वती’ में ‘भारत-भारती’ के प्रकाशन के समय महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा : “भारत-भारती अपूर्व काव्य है, हाली साहब के ‘मुसद्दस’ के ढंग का है। उससे बढ़कर नहीं तो उससे कम भी किसी बात में नहीं।” (नामवर सिंह, ‘भारत-भारती और राष्ट्रीय नवजागरण’, नामवर सिंह संचयिता, पृ. 358)

वैसे भी ‘भारत-भारती’ पर ‘मुसद्दस’ की छाप काफी स्पष्ट है। ‘भारत-भारती’ की पंक्तियां :

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी

मिलकर विचारें हृदय से ये समस्याएं सभी

‘मुसद्दस’ की इस पंक्ति से काफी मिलती-जुलती हैं :

कल कौन थे आज क्या हो गये हम

अभी जागते थे अभी सो गये हम।

यह भी संयोग ही है कि जिस वर्ष ‘भारत-भारती’ प्रकाशित हुई (1914), उसी वर्ष हाली का निधन हुआ।

अगर हिंदी ने उर्दू को, हाली के मुताबिक, पहिये दिये तो उर्दू ने हिंदी को समृद्ध फ़ारसी साहित्यिक परंपरा का तोहफा दिया। हिंदी की कड़ी फ़ारसी से उर्दू के माध्यम से ही जुड़ी। जैसा कि सर्वविदित है, हिंदी में हालावाद फ़ारसी से ही आया। 1930 के दशक में उमर खय्याम की

रुबाइयों के फ़ारसी से हिंदी में दस अनुवाद हुए, जिनमें से कुछ अनुवाद काफी लोकप्रिय हुए। अनुवाद करने वालों में मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत तथा हरिवंशराय बच्चन जैसे महत्वपूर्ण हिंदी कवि थे। एक दिलचस्प बात यह है कि उमर खय्याम के जितने अनुवाद हिंदी में हुए, उतने उर्दू में भी नहीं हुए। लेकिन हिंदी को फ़ारसी के नज़दीक लाने वाली निश्चित रूप से उर्दू ही थी।

हिंदी और उर्दू : वर्तमान और भविष्य

हिंदी और उर्दू पिछली दो शताब्दियों में कई दौरों से होकर गुजरी हैं। दोनों ही भाषाओं का क्षेत्रीय आधार दिल्ली और उसके आसपास का इलाका रहा है, लेकिन दोनों के विकास की प्रक्रिया काफी भिन्न है।

उर्दू का विकास 18वीं शताब्दी में एक विशिष्ट साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ। 19वीं सदी तक आते-आते इसे सरकारी संरक्षण मिला और इसी दौरान इस पर मुस्लिम भाषा का ठप्पा भी लगा। सरकारी संरक्षण और मान्यता को लेकर उर्दू की हिंदी से प्रतिद्वंद्विता शुरू हुई, जो किसी न किसी रूप में 1947 तक जारी रही। बीसवीं सदी में उर्दू का इस्तेमाल पाकिस्तान आंदोलन के लिए मुसलमानों का समर्थन पाने के लिए किया गया। परिणामस्वरूप पाकिस्तान बनने के बाद उर्दू को वहां की राजभाषा घोषित किया गया। दिलचस्प बात यह है कि पाकिस्तान में ऐसे लोगों की संख्या केवल 3.7 थी, जिनकी मातृभाषा उर्दू थी। भाषाओं की फेहरिस्त में उर्दू का स्थान बांग्ला, पंजाबी, सिंधी और पश्तो के बाद पांचवें नंबर पर था।

पाकिस्तान में तो उर्दू को वर्चस्व हासिल हुआ, लेकिन उसके अपने ही देश में उसे धीरे-धीरे हाशिए की ओर धकेल दिया गया। संविधान सभा में हिंदी के कई दावेदारों ने उर्दू को अलग भाषा मानने से ही इंकार कर दिया। शिक्षा, प्रशासन, साहित्य और मीडिया सभी क्षेत्रों में उर्दू पिछड़ती गयी। आज के संदर्भ में उर्दू की लड़ाई भारत के विशाल भाषायी मंच पर अपने लिए एक सुरक्षित कोना तलाशने-भर की है।

हिंदी की विकास-यात्रा उर्दू से काफी भिन्न रही है। हिंदी ने राजनीति में पहला कदम उर्दू को चुनौती देने के साथ उठाया। 1860 से हिंदी आंदोलन की शुरुआत हुई, जिसमें सरकारी संरक्षण के लिए उर्दू के बरक्स हिंदी का दावा पेश किया गया। हिंदी आंदोलन उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के पुनरुत्थानवादी आंदोलन की गोद में पलकर काफी सफल साबित हुआ। बीसवीं सदी में राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान हिंदी का काफी प्रसार हुआ और एक संभावित राष्ट्रीय भाषा के रूप में कई लोगों ने हिंदी को स्वीकारा। इस दौरान हिंदी को गैर-हिंदी भाषी क्षेत्रों से काफी सहयोग मिला। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिंदी को राजभाषा का दर्जा मिला। संविधान सभा में हिंदी समर्थकों ने समूचे देश में हिंदी को स्वीकार किये जाने की जल्दी मचायी और परिणामस्वरूप गैर-हिंदी भाषी क्षेत्र ने उन पर हिंदी को थोपे जाने का विरोध किया। 1965 में हुए तीव्र द्रविड़ आंदोलन से यह साफ हो गया कि पूरे देश पर हिंदी को थोप देना संभव नहीं। 1947 से पहले हिंदी को जितना समर्थन गैर-हिंदी भाषी क्षेत्रों और वहां के नेताओं से मिला था, 1947 के बाद उतना ही विरोध भी मिला। एक अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा का सपना देखने वाली हिंदी 1965 तक महज़ उत्तर भारतीय भाषा के रूप में

सिमट कर रह गयी। इधर पिछले दो दशकों में हिंदी का काफी प्रसार हुआ है। इसका एक कारण यह है कि इस बार राजनीति का सहारा न लेते हुए हिंदी ने अपने प्रसार के लिए बाज़ार और मीडिया का सहारा लिया है।

अपनी सारी समानताओं के बावजूद हिंदी और उर्दू की राजनीतिक यात्राएं एक-दूसरे से काफी अलग रही हैं। खास तौर से 1947 के बाद हिंदी की लड़ाई वर्चस्व के लिए रही है, जबकि उर्दू की लड़ाई सिर्फ अपनी पहचान स्थापित करने-भर की है। एक समय की प्रतिद्वंद्वी भाषाओं के बीच आज प्रतिद्वंद्विता के लिए कोई स्थान नहीं है। साथ ही हिंदी और उर्दू को मिलाकर एक भाषा बनाने का प्रोजेक्ट भी अपनी ऊर्जा खोता जा रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हिंदी और उर्दू को एक करने के बजाय दोनों भाषाओं का इस्तेमाल एक-दूसरे को समृद्ध करने में किया जाय। इसी तरह से दोनों भाषाओं का बेहतर भविष्य सुनिश्चित किया जा सकता है।

उर्दू-हिंदी : एक नशतर-सा रगेजां के क़रीब आज भी है प्रमोद जोशी

कहां के मुस्लिम, कहां के हिंदू, भुलायी हैं सबने अपनी रस्में
अक़ीदे सबके हैं तीन-तेरह, न ग्यारहवीं है, न अष्टमी है

अकबर इहालाबादी आस्था से मुसलमान और दिल से हिंदुस्तानी थे। अंग्रेजों की नौकरी की, पर मन से गुलाम नहीं हुए। उन्होंने उस दौर में लिखा, जब राष्ट्रीय आंदोलन जन्म ले रहा था और उसके समांतर सांप्रदायिकता की रचना हो रही थी। उन्होंने मुसलमानों को संबोधित किया और उन्हें अंधी कट्टरता से दूर रहने की सलाह दी। शायद उन्होंने आने वाले वक़्त की हवाओं को पढ़ लिया था और अफ़सोस के साथ लिखा—

तुम्हें इस इंक़लाबे-दहर का, क्या ग़म है ऐ अकबर
बहुत नज़दीक है वो दिन, ना तुम होंगे ना हम होंगे

उर्दू शायरी के 1857 से 1947 के बीच के दौर पर नज़र डालें तो अफ़सोस, तकलीफ़ और सामाजिक टकराव के अंदेशों का आभास मिलेगा। 1857 के बाद अंग्रेजी शासन ने लंबे अर्से तक मुसलमानों को मुख्यधारा से अलग रखने और हिंदूवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने की कोशिशें कीं। राष्ट्रीय आंदोलन की विडंबना है कि इसमें एक ओर हिंदू-मुस्लिम एकतावादी शक्तियां शामिल थीं, दूसरी ओर हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक प्रवृत्तियाँ अपनी-अपनी राह पर भी चल रहीं थीं। उन्नीसवीं सदी के अंत में हिंदी और उर्दू के विवाद शुरू हो चुके थे, जो मूलतः हिंदू-मुसलमान सांप्रदायिकता के प्रतीक थे। इस सांप्रदायिकता को शकल देने में पूरी उन्नीसवीं सदी लगी और इसमें शिक्षा और भाषा की भूमिका थी। हिंदी-हिंदुस्तानी-उर्दू जो लिपि के फर्क को छोड़ आमतौर पर एक थी, क्रमशः अलग होती गयी।

उन्नीसवीं सदी में कंपनी सरकार की नयी शिक्षा-नीति शुरुआती दिनों में बेअसर थी। 1844 में कंपनी की केंद्रीय सरकार ने शिक्षा की ज़िम्मेदारी सूबों को दे दी। उस वक़्त तक पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में आगरा, बनारस, और दिल्ली में तीन कॉलेज खुले थे। साथ ही छह एंग्लो-वर्नाकुलर स्कूल थे। इनमें कुल मिलाकर 1739 छात्र थे। मुसलमानों और हिंदुओं के मन में उस वक़्त अंग्रेजी शिक्षा के प्रति इतनी अनिच्छा थी कि 1850 तक इन छात्रों की संख्या घटकर दो तिहाई रह गयी। सरकारी स्कूलों में शास्त्रों का अध्ययन करने के बजाय वे मदरसों और विद्यालयों में पढ़ना चाहते थे। उन्हें मिशनरियों के मार्फत ईसाई बनने का डर था। कारोबार, राजदरबार और रोज़मर्रा के काम में अंग्रेजी की ज़रूरत नहीं थी। उसे पढ़ने की इच्छा किसी में नहीं थी। चूँकि धीरे-धीरे शासन अंग्रेजों के अधीन आ रहा था, इसलिए गांवों में सरकारी स्कूल खोलने की योजना बनायी गयी।

सरकारी शिक्षा विभाग बनाया गया और चार-चार, छह-छह गांवों के बीच हल्काबंदी स्कूल खोले गये। स्थानीय जमींदार इन स्कूलों का प्रबंध करते। ये स्कूल सफल होने लगे और 1860 में स्कूलों में छात्रों की संख्या बढ़कर 83,000 हो गयी। यह वह दौर है जब कंपनी सरकार की जगह अंग्रेजी सरकार पूरी तरह आ गयी थी। रेलगाड़ी चलने लगी, डाकघर बनने लगे। अदालतें भी बन गयीं। पूर्वोत्तर प्रांत और अवध में 1880 में 2,24,000 बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ने लगे। सरकारी स्कूलों के प्रभावशाली होने के साथ-साथ पाठ्यक्रम, भाषा और विषयों के मसले सामने आये। ऊपरी दर्जों में पढ़ाई का माध्यम अंग्रेजी थी, पर छोटे दर्जों में मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम थी। उस वक्त यह भी साफ था कि फ़ारसी, अरबी और संस्कृत के मार्फत पढ़ाई नहीं हो सकेगी। इसके पहले शिक्षा संग्रहांत घरानों तक सीमित थी और शिक्षा का अर्थ था फ़ारसी, अरबी और संस्कृत के मार्फत धर्मग्रंथों और शास्त्रों का अध्ययन। हिंदी या उर्दू के मार्फत पढ़ाई के साथ नये विषय भी आ गये। पर उसके लिए किताबें ही नहीं थीं। तब शिक्षा विभाग ने किताबें लिखनी शुरू कीं। 1868 तक अकेले शिव प्रसाद सितारे हिंद ने उन्नीस किताबें लिख दीं। सरकारी मदद से अनुवाद करने वाली संस्थाएं बनने लगीं। सूबे के शुरुआती अखबार काफी कुछ इन्हीं स्कूलों की मदद से चलते थे। ये स्कूल उन्हें खरीदते थे। सरकार ने हिंदी-उर्दू के मौलिक साहित्य पर पुरस्कार भी देने शुरू कर दिये। इसी दौर में नयी सरकारी नौकरियां सामने आने लगीं। इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण था हिंदी-उर्दू के रूप में हिंदू-मुस्लिम भावना का विकसित होना। उन्नीसवीं सदी के अंत में स्थानीय निकाय चुनावों से एक ओर स्थानीय प्रतिनिधित्व बढ़ा, साथ ही हिंदू-मुस्लिम वोटों का जन्म भी हुआ।

सर सैयद ने आधुनिक शिक्षा और अंग्रेजी के महत्त्व पर जोर दिया। बाद में हिंदुस्तानी के समर्थक बने। उनकी हिंदुस्तानी में उर्दू और हिंदी कहां है, इस बात को लेकर भी विवाद खड़ा हुआ। हिंदुस्तानी या फ़ारसी युक्त हिंदुस्तानी मुगल दरबार में प्रचलित थी और अंग्रेजी शासन ने उसे अपनाया और बाद में रोमन लिपि में लिखना भी शुरू किया। नागरी गद्य जन्म ले रहा था। ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मागधी, मैथिली में नागरी पद्य प्रबल था। इस पृष्ठभूमि में नागरी आंदोलन ने जन्म लिया। यह आंदोलन केवल नागरी हिंदी का नहीं, संस्कृतनिष्ठ हिंदी का आंदोलन था। शुरू में हिंदू परिवार भी उर्दू पढ़ते थे। खासकर कायस्थ, कश्मीरी ब्राह्मण और खत्री परिवारों ने उर्दू को स्वीकार कर लिया था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में आधुनिक शिक्षा में हिंदी-उर्दू के इस्तेमाल का मामला जब आया तब केवल लिपि ही नहीं, शब्दों के प्रयोग को लेकर भी हठ था। एक ओर संस्कृतनिष्ठ हिंदी और दूसरी ओर फ़ारसी युक्त हिंदी थी। उत्तर भारत में सांप्रदायिकता के उभार को समझने में यह तथ्य बेहद महत्त्वपूर्ण है। महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आंदोलन में समन्वयवादी हिंदुस्तानी की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में अंग्रेजी राष्ट्रीय आंदोलन की भाषा थी। हिंदुस्तानी को देश के कोने-कोने तक गांधी ले गये। यह हिंदुस्तानी शुद्ध संस्कृत या शुद्ध फ़ारसी के बजाय आम-फहम हिंदुस्तानी थी।

हिंदी और उर्दू एक भाषा के दो रूप हैं। भारत और पाकिस्तान के लोगों की बातचीत में यह फर्क हल्का-सा झलकता है, पर बातचीत आसानी से हो सकती है। आज़ादी के इकसठ साल भी भाषा में फर्क नहीं डाल पाये। पर उन्नीसवीं सदी में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के

बाद खड़ी बोली के दो रूपों का विकास हुआ। उसके बाद पाठ्य पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में यह फर्क सामने आया। लल्लू लाल का 'प्रेम सागर' ब्रज भाषा के छंदों को खड़ी बोली में तैयार करके लिखा गया था। यह पुस्तक बेहद लोकप्रिय हुई थी। इस किताब में संस्कृत-निष्ठ हिंदी का इस्तेमाल हुआ था। पर कुछ और किताबें भी उसी दौर में आयीं, जिनमें संस्कृत-फ़ारसी और आम-फहम हिंदी-उर्दू का बेहतर मिलाप था। इनमें थीं लल्लू लाल और काज़िम अली जवान की 'सिंहासन बत्तीसी', लल्लू लाल और महर अली खान की 'बेताल पच्चीसी', और भीर अम्मान की 'बागो बहार'। उस दौर में लल्लू लाल, सदल मिश्र, मुंशी सदासुख लाल, और इंशा अल्ला खां हिंदुस्तानी को अपने-अपने ढंग से परिभाषित करने की कोशिश की थी। इन सबके लेखन की खासियत थी कि इन्होंने हिंदू या मुसलमान के संदर्भ में नहीं सोचा। इसके विपरीत खड़ी बोली के अनेक रूप उसी दौर में बनते गये। तत्कालीन लेखक अयोध्या प्रसाद खत्री की 1887 में प्रकाशित पुस्तक 'खड़ी बोली का पद्य' में पांच तरह की हिंदी गिनायी गयी है। 1. मौलवी की हिंदी, 2. पंडित की हिंदी, 3. मुंशी की हिंदी, 4. शुद्ध हिंदी, 5. यूरोशियन हिंदी। भाषा में जातीय और धार्मिक दोनों तत्व शामिल हो गये।

राजा शिवप्रसाद, जिन्होंने बच्चों के लिए पाठ्य पुस्तकें लिखने का रिकॉर्ड बनाया, हिंदी में फ़ारसी के आम-फहम शब्दों को शामिल करने के पक्षधर थे। उनके शब्दों में 'न खास उर्दू, न खास हिंदी, ज़बान गोया मिली-जुली हो।' उन्हें 'सितारे हिंद' कहा गया। 'सितारे हिंद' के जवाब में 'भारतेंदु' हरिश्चंद्र बनाये गये। यह भाषा के मार्फत सांस्कृतिक टिप्पणी थी।

आज़ादी के बाद न पाकिस्तान में उर्दू का भला हुआ, न भारत में हिंदी वालों को कुछ खास मिला। उच्च और मध्यवर्ग की भाषा अंग्रेज़ी बनी। दोनों देशों की जनता की भाषा यही हिंदी-उर्दू है। उत्तर भारत के मुसलमानों ने देवनागरी हिंदी को अपना लिया है। हिंदी में संस्कृत-फ़ारसी का झगड़ा कुछ समय तक चला, पर अब नहीं है। अब अंग्रेज़ी शब्दों के इस्तेमाल का विवाद है। बाज़ार की भाषा। यह भाषा क्या सांप्रदायिकता के सवाल को खत्म कर सकती है?

जातीय, यानी राष्ट्रीयताओं के स्वतंत्रता आंदोलनों में भाषा की भूमिका होती है। तमाम भारत में तरह-तरह की राष्ट्रीयताओं ने अंग्रेज़ी राज के खिलाफ आंदोलन चलाया। इन पहचानों को आज़ादी के बाद एक वृहद् भारत की पहचान में शामिल हो जाना चाहिए था। ऐसा नहीं हुआ। बल्कि राष्ट्रीयताएं आज़ाद भारत में तमाम आंदोलनों की बुनियाद में हैं। महाराष्ट्र ताजा उदाहरण है। तमिलनाडु, तेलंगाना, पंजाब, असम, मीजोरम, नगालैंड जैसे अनेक इलाकों में क्षेत्रीय पहचान के आंदोलन हैं। हिंदी की पहचान बढ़ रही है। एक तरफ वह 'पैन इंडिया' की भाषा बन रही है, दूसरी ओर उर्दू के साथ मिलकर वह दक्षिण एशिया और खाड़ी के देशों में स्वीकृत भाषा बन रही है। इन देशों में भारतीय और पाकिस्तानी मिलकर काम कर रहे हैं। यह भाषा जब तक समन्वयवादी है, तब तक इसका आकाश बहुत व्यापक है। इसे संकीर्ण दायरे में लाने की कोशिश अब सफल होने वाली नहीं।

रचना यात्रा

कहानी

नमक

रज़िया सज्जाद ज़हीर

उन सिख बीबी को देखकर सफ़िया हैरान हो गयी थी। वह उसकी अम्मा मरहूमा से कितनी मिलती थीं! वही भारी-भरकम जिस्म, वैसी ही छोटी-छोटी आंखें, जिनमें नेकी, मुहब्बत और रहमदिली की रौशनियां जगमगाया करती थीं; चमकीला शफ़फ़ाफ़ चेहरा, जैसे खुली किताब; और वैसा ही सफ़ेद मलमल का दुपट्टा, जैसा उसकी अम्मा ओढ़कर मुहर्रम की मजसिलों में जाया करती थीं।

जब सफ़िया ने उनकी तरफ़ प्यार से देखा तो उन्होंने भी उसके मुताल्लिक़ घर की बहू से पूछा। उन्हें बताया गया कि वह मुसलमान है, कल सुबह लाहौर जा रही है अपने भाइयों से मिलने, जिन्हें उसने कई साल से नहीं देखा। लाहौर का नाम सुनकर वह उठकर सफ़िया के पास आ गयीं और उसे बताने लगीं कि उनका लाहौर कितना प्यारा शहर है, वहां के लोग कितने ख़ूबसूरत होते हैं, उम्दा खाने के शौक़ीन, नफ़ीस कपड़ों के दिलदाः, सैर-सपाटे के रसिया, ज़िंदादिली की तस्वीर। कीर्तन होता रहा, वो आहिस्ता-आहिस्ता लाहौर की बातें करती रहीं। सफ़िया ने दो-एक बार बीच में उनसे पूछा भी—‘आपको यहां आये तो बहुत साल हो गये होंगे?’

‘हां बेटी, तब जब हिंदोस्तान बंटा था, तभी आये थे। बहुत दिन हो गये, पर हमारा वतन तो लाहौर ही है।’

पलकों से कुछ सितारे टूटकर दूधिया आंचल में गिर जाते थे, फिर बात आगे चल पड़ती थी, वही एक बात—हमारा लाहौर।

कीर्तन कोई ग्यारह बजे के बाद ख़त्म हुआ। जब वो प्रसाद हाथ में लिये उठीं और सफ़िया के सलाम के जवाब में दुआएं देती हुई रुख़्सत होने लगीं तो सफ़िया ने सबसे अलग बहुत ही धीमे से पूछा, ‘आप लाहौर से कोई सौगात मंगाना चाहें तो हुकुम कीजिए।’ वह दरवाज़े से लगी खड़ी थीं।

बहुत हिचकिचा के और उतने ही आहिस्ता लहजे में बोलीं, ‘ला सको तो थोड़ा-सा लाहौरी नमक लाना।’

पंद्रह दिन यों गुज़रे कि पता भी न चला। जिमखाना की शामें, दोस्तों की मुहब्बतें, भाइयों की खातिरदारियां, उनका बस न चलता था कि बिछड़ी बहन के लिए क्या-कुछ कर दें। दोस्तों-अज़ीजों की यह हालत कि कोई कुछ लिये चला आ रहा है, कोई कुछ। कहां रखें, कैसे बांधें, क्योंकर ले जायें—एक मसला था, और सबसे बड़ा मसला था एक बादामी कागज़ की पुड़िया, जिसमें आधा सेर लाहौरी नमक था।

उसने चुपके से अपने भाई से पूछा, ‘नमक ले जा सकते हैं?’

‘नमक कैसे ले जायेंगी, यह तो गैर-कानूनी है और नमक का आप क्या करेंगी? आप लोगों के हिस्से में तो हमसे बहुत ज़्यादा नमक आया है।’

‘हिस्से-बिखरे की बात कौन कर रहा है?...आया होगा!’ उसने झुंझलाकर कहा, ‘मगर मुझे तो लाहौरी नमक चाहिए। मेरी मां ने यही मंगवाया है।’

भाई की समझ में कुछ न आया। ज़रा नरमी से समझाने के अंदाज़ में बोला, ‘देखिए, आपको कस्टम से गुज़रना है और आपके पास अगर एक चीज़ भी ऐसी निकल आयी तो फिर आपके सामान की चिंदी-चिंदी बिखेर देंगे कस्टमवाले।’

‘निकल आना क्या माऽनी?’ वह बिगड़कर कहने लगी, ‘मैं क्या छुपाकर ले जाऊंगी? मैं तो दिखाकर ले जाऊंगी, कहकर ले जाऊंगी।’

‘भई यह तो आप बहुत ही ग़लत बात करेंगी। क़ानून फिर क़ानून है—कहे देता हूँ।’

‘क्या सब क़ानून हुकूमत ही के होते हैं? मुहब्बत के नहीं होते? आदमियत के नहीं होते? आखिर कस्टमवाले भी इंसान हैं, कोई मशीन तो नहीं हैं।’

‘हां, वो मशीन तो नहीं हैं, पर मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ कि वो शाइर और अदीब भी नहीं होते। उनको अपना फ़र्ज़ अदा करना होता है।’

‘अरे तो बाबा मैं कब कह रही हूँ कि फ़र्ज़ अदा न करें? एक तोहफ़ा है, सो देख लें। कोई सोना-चांदी नहीं है, न कोई ब्लैक मार्केट का माल है।’

‘अब आप से कौन बहस करे? आप अदीब ठहरें और सभी अदीबों का दिमाग़ ज़रा गड़बड़ होता है। वैसे मैं आपको बताये देता हूँ कि आप ले—जा नहीं पायेंगी। कस्टम पर धरवा लिया जायेगा और बदनामी अलग होगी।’

‘काश! कुछ ज़्यादा लोगों का दिमाग़ हम अदीबों की तरह गड़बड़ होता।’ वह खिसियाकर बड़बड़ाने लगी।

यह बकझक ख़त्म हुई तो रात काफी हो गयी थी।

अगले रोज़ दो बजे दिन को उसे रवाना होना था। सुबह के लिए बहुत मसरूफ़ प्रोग्राम बन चुका था, इसलिए उसे पैकिंग रात ही को करनी थी। कमरे का दरवाज़ा अंदर से बंद करके वह सामान बांधने लगी। फ़ैला हुआ अटाला रफ़्ता-रफ़्ता सब सिमटकर सूटकेस और बिस्तरबंद में चला गया। सिर्फ़ दो चीज़ें रह गयीं—एक तो वह छोटी-सी टोकरी जिसमें वह कीनू थे, एक महबूब दोस्त का तोहफ़ा—संतरे और माल्टे को मिलाकर पैदा किया हुआ फल, माल्टे की तरह रंगीन और मीठा, संतरे की तरह नाजुक और रसीला—ऐसा मजेदार जैसे ऐंगलो इंडियन लड़की—और वह नमक की पुड़िया।

सफ़िया ने सोचा—इसे तो हाथ में ले लेंगे। सबसे पहले कस्टमवालों के सामने यही रख देंगे और अगर कस्टमवालों ने न जाने दिया तो फिर मजबूरी है, छोड़ देंगे। फिर उस वादे का क्या होगा? हमने आज तक किसी से कोई वादा करके झुठलाया नहीं है। यह तो पहले ही सोचना चाहिए था कि कस्टम से भी गुज़रना है। अच्छा अगर इसे कीनुओं की टोकरी में सबसे नीचे रख लिया जाये तो बीसियों कीनुओं के ढेर में कौन इसे देखेगा? और अगर देख लिया तो? नहीं जी, टोकरियां तो किसी की नहीं देखी जाती हैं। उधर से केले, इधर से कीनू सभी ले—जा रहे थे।

यही ठीक है। फिर देखा जायेगा

उसने कीनू सब कालीन पर उलट दिये, टोकरी खाली की, नमक की पुड़िया उठायी और टोकरी की तह में रख दी। एक बार झाँककर उसने पुड़िया को देखा और उसे ऐसा महसूस हुआ कि उसने अपने किसी अजीज को क़ब्र की तारीक़ गहराई में उतार दिया है। कुछ देर वह टोकरी के पास उकड़ूँ बैठी उस पुड़िया को ताकती रही और उन कहानियों को याद करती, जो उसकी अम्मा उसे बचपन में सुनाया करती थी, जिनमें शहज़ादा अपनी रान चीरकर उसमें हीरा छुपा लेता था और सरहदों से गुज़र जाता था। इस ज़माने में ऐसी कोई तरकीब नहीं हो सकती थी, वरना वह अपना दिल चीरकर उसमें यह नमक की पुड़िया छुपा लेती।

फिर वह एक-एक करके कीनू टोकरी में रखने लगी—पुड़िया के इधर-उधर, आसपास और फिर ऊपर, यहाँ तक कि वह बिल्कुल छुप गयी। मुतमइन होकर उसने हाथ झाड़े, सूटकेस पलंग के नीचे खिसकाया। टोकरी पलंग के सिरहाने रखी और लेट गयी।

रात का तकरीबन डेढ़ बजा था। मार्च की सुहानी हवा खिड़की की जाली से आ रही थी। बाहर चांदनी साफ और ठंडी थी। खिड़की के करीब लगा हुआ एक घना फ़ैला दरख़्त। सामने की दीवार पर पत्तियों का साया लटका रहा था। कभी शागिर्द पेशे की तरफ से किसी दबी हुई खांसी की आहट, किसी कुत्ते के भौंकने या रोने की आवाज़ और फिर सन्नाटा। यह पाकिस्तान था जहाँ उसके भाई थे, दोस्त थे, उसके बाप की क़ब्र थी और इन सबके और उसके बीच में एक सरहद थी और बहुत-सी नोकदार लोहे की छड़ें थीं, जो कस्टम कहलाती थीं। कल वह लाहौर से चली जायेगी। हो सकता है साल-भर बाद फिर आये। एक साल से पहले वह आ ही नहीं सकती थी और यह भी हो सकता है कि कभी न आ सके। उसकी आंखें धीमे-धीमे बंद होने लगीं। फिर उसे एक सफ़ेद दुपट्टा लहराता दिखायी देने लगा, जिस पर यहाँ-वहाँ सितारे झिलमिला रहे थे। हमें वहाँ से आये तो बहुत दिन हो गये, पर हमारा वतन तो जी लाहौर ही है। फिर इक़बाल का सफ़ेद मक़बरा, उसके पसमंज़र में लाहौर का क़िला। उसके पीछे डूबते हुए सूरज की आख़िरी किरणें, फ़ैलता हुआ अंधेरा, उस रंगीन अंधेरे में बहती हुई नरम लतीफ़ हवा, उस हवा में रची हुई मौलसिरी की खुशबू और मक़बरे की सीढ़ियों पर बैठे हुए दो इंसान सर झुकाये चुपचाप और उदास, जैसे दो साकित बेजान परछाइयां।

‘तुम तो कल चली जाओगी?’

‘हां।’

‘फिर कब आओगी?’

‘मालूम नहीं, शायद अगले साल, शायद कभी नहीं।’ फिर तारीक़ियों पर एक सफ़ेद दुपट्टा लहराने लगा—हमारा वतन तो लाहौर ही है। एकदम आंख खुल गयी। शायद उसने मक़बरे की सीढ़ियों के नीचे लगी दूब से घास की एक पत्ती तोड़ी थी, जिस घास पर ठंडी ओस जमनी शुरू हो गयी थी। नहीं, नींद में करवट लेते हुए उसका हाथ कीनुओं से लबालब भरी हुई टोकरी पर जा पड़ा था। ठंडे रसीले मीठे कीनू जिनको देते समय उसके दोस्त ने कहा था, ‘यह हिंदोस्तान-पाकिस्तान के इत्तिहाद का मेवा है।’

लाहौर के स्टेशन पर भी वही हो रहा था जो अमृतसर के स्टेशन पर हो रहा था। थर्ड क्लास

के मुसाफिर अपनी गठड़ियां-पोटलियां संभाले, सहमे-घबराये, हैरान-परेशान अपना-अपना सामान दिखा रहे थे। उनसे तरह-तरह के सवाल किये जा रहे थे। उनकी एक-एक चिंदी बिखेरी जा रही थी। छोटे-छोटे टीन के बक्स-कनस्तर और डब्बे खंगाले जा रहे थे। फ़र्स्ट क्लास के टिकटवाले वेटिंग रूम में बैठे सेवन-अप पी रहे थे। इनका सामान वेटिंग रूम की दीवारों के साथ कायदे से लगा था-बड़े-बड़े सूटकेस, हैंडबैग, एयर बैग, होलडाल वगैरह। सफ़िया भी फ़र्स्ट क्लास में थी, क्योंकि देहली तक का किराया भाई ने दे दिया था। वह टिकट हाथ में दबाये वेटिंग रूम के सामने टहल रहा था और यह अंदर बैठी चाय की प्याली हाथ में लिये कीनुओं की टोकरी पर निगाहें जमाये सोच रही थी कि सिर्फ़ वही यह जानती है कि इसके इतने बहुत-से कीनुओं की तह में नमक की पुड़िया है।

जब उसका सामान कस्टम होने के लिए बाहर निकाला जाने लगा तो उसे एक कस्टम ऑफ़ीसर को देखकर झुरझुरी-सी आयी और उसने एकदम से फ़ैसला किया कि वह नमक कस्टम को दिखायेगी। जल्दी से उसने टोकरी की तह से पुड़िया निकाली और अपने बैग में रख ली। जब सामान कस्टम होकर रेल की तरफ़ चला तो वह एक कस्टम ऑफ़ीसर की तरफ़ बढ़ी। ज्यादातर मेजें ख़ाली हो चुकी थीं। एक-आध पर इक्का-दुक्का सामान रखा था। सबसे आख़िरवाली मेज़ पर एक साहब बैठे थे-लंबा क़द, दुबला-पतला जिस्म, खिचड़ी बाल, आंखों पर ऐनक। वह कस्टम ऑफ़ीसर की वर्दी पहने तो थे, पर उन पर बड़ी अजीब लग रही थी।

‘मैं आपसे कुछ पूछना चाहती हूँ।’ सफ़िया ने हिचकिचाते हुए कहा।

उन्होंने नज़र भरकर उसे ग़ौर से देखा; बोले, ‘फ़रमाइए?’

उनके लहजे ने सफ़िया की हिम्मत बढ़ायी-‘आप...कहाँ के रहनेवाले हैं?’

उन्होंने कुछ हैरान होकर फिर उसे ग़ौर से देखा, ‘ख़ाक़सार का वतन देहली है। आप तो हमारी तरफ़ की मालूम होती हैं। अपने अज़ीज़ों से मिलने आयी होंगी!’

‘जी हाँ, लखनऊ की हूँ, अपने भइयों से मिलने आयी थी। आपको तो पाकिस्तान आये ज़्यादा दिन हो गये होंगे।’

‘बस जब पाकिस्तान बना था तभी आये थे, मगर हमारा वतन तो देहली ही है।’

सफ़िया ने बैग खोलकर नमक की पुड़िया उनके सामने रख दी, फिर रुक-रुककर उनको सब-कुछ बता दिया। उन्होंने पुड़िया को दोनों हाथों में उठाया, अच्छी तरह लपेटा और खुद सफ़िया के बैग में रख दिया, जो अभी तक खुला हुआ मेज़ के एक किनारे रखा था। फिर बैग को उठाकर सफ़िया को देते हुए बोले, ‘मुहब्बतें तो कस्टम से इस तरह गुज़र जाती हैं कि कानून हैरान रह जाता है।’

जब वह चलने लगी तो वह भी खड़े हो गये और कहने लगे, ‘जामा मस्जिद की सीढ़ियों को मेरा सलाम कहियेगा और उन ख़ातून को नमक देते वक़्त मेरी तरफ़ से कहियेगा कि अगर लाहौर अभी तक उनका वतन है और देहली मेरा, तो बाक़ी सब रफ़ता-रफ़ता ठीक हो जायेगा।’

हसरत-भरी नज़रों, बहते हुए आंसुओं, ठंडी सांसों और भिंचे हुए होंठों को पीछे छोड़ती हुई रेल सरहद की तरफ़ बढ़ी। अटारी में पाकिस्तानी पुलिस उतरी, हिंदोस्तानी पुलिस सवार हुई। कुछ समझ में नहीं आता था कि कौन पाकिस्तानी है और कौन हिंदोस्तानी; कहां से लाहौर खत्म हुआ,

कहाँ से अमृतसर शुरू हुआ। एक ज़मीन थी, एक जुबान थी, एक-सी सूरतें थीं, एक-सा लबो-लहजा और अंदाज़ था, बस मुश्किल सिर्फ़ इतनी थी कि बंदूकें दोनों के हाथों में थीं।

अमृतसर के स्टेशन पर भी वही हो रहा था जो लाहौर में हुआ था। थर्ड क्लास के मुसाफिर अपनी-अपनी गठड़ियां-पोटलियां संभाले, सहमे-घबराये हैरान-परेशान अपना सामान दिखा रहे थे। उनसे तरह-तरह के सवाल किये जा रहे थे। बक्स, कनस्तर और डब्बे खंगाले जा रहे थे। फ़र्स्ट क्लास वालों का सामान उनके डब्बे ही के सामने उतार दिया गया था। उनका कस्टम यहीं होनेवाला था। अपने-अपने सामान के पास खड़े वह कोकाकोला पी रहे थे।

सफ़िया का सामान देखने जो साहब आये, वह बातचीत, लबो-लहजे से बंगाली मालूम होते थे।

जब उनका सारा सामान देखा जा चुका था, वह बाकी लोगों से अलग उनसे आहिस्ता से बोली, 'मेरे पास थोड़ा-सा नमक है।'

फिर उसने कांपते हाथों से बैग खोलकर पुड़िया निकाली और बोली, 'अगर आपका दिल चाहे तो मेरा सारा सामान रोक लीजिए, बस नमक मुझे ले-जाने दीजिए।' वह और आगे कुछ न कह सकी। आंसुओं से उसका गला रुंध गया था।

ऑफ़ीसर ने सर से पांव तक उसे घूरा, जैसे मुंताज़िर हो कि आगे कुछ कहे।

सफ़िया ने पूरी बात कहनी शुरू की। घबराहट में अल्फ़ाज़ टूट-टूटकर निकल रहे थे। ज़बान को लुकनत हो रही थी। मगर ख़ैर, सब-कुछ कह ही दिया।

वह सर झुकाये सुनते रहे। जब बात खत्म हो गयी तो सर उठाकर उन्होंने फिर एक बार उसे ऊपर से नीचे तक देखा और बोले—'इधर आइए ज़रा।'

सफ़िया जब उनके पीछे चल रही थी तो सोचती जा रही थी कि उसने बेवकूफी की जो इतनी ईमानदारी बरती। औरतों का हैंडबैग तो वैसे भी नहीं देखा जाता और उन्होंने उसका सामान भी कुछ ख़ास तवज्जो से नहीं देखा था—बस खुलवाया, इधर-उधर देखा, चाक फेर दी। अगर वह नमक निकालकर उनको न दिखाती तो वह क्या जानते? अब पता नहीं क्या होगा और जाने वह उसे कहाँ ले-जा रहे हैं।

प्लेटफ़ॉर्म के बिल्कुल उधरवाले कोने पर एक कमरा था। कुछ बाबुओं की कोठरी का-सा मालूम होता था। वह उसके अंदर घुसे। सफ़िया दाख़िल होते हुए हिचकिचायी। अंदर एक मेज़ थी। रौशनाई के धब्बे-लगी पुरानी मेज़, जिस पर धूल पड़ी थी। तीन-चार घटिया-सी कुर्सियाँ, जिनमें से एक का बेंत टूटा हुआ था। उसे हिचकिचाते हुए देखकर उन्होंने जेब से रूमाल निकालकर एक कुर्सी झाड़ी और बोले, 'आइए...आइए ना!' वह अंदर जाकर एक कुर्सी पर बैठ गयी। पुड़िया और बैग मेज़ पर एक तरफ़ रख ऑफ़ीसर ने बाहर की तरफ़ झांककर एक पुलिसवाले को इशारे से बुलाया। सफ़िया सन से रह गयी। अब क्या होगा?

'दो चाय मंगवाओ!' वह पुलिसवाले से बोले जो सफ़िया को ग़ौर से देखता हुआ चला गया।

फिर उन्होंने मेज़ की दराज़ खींची और उसमें दूर तक हाथ डालकर एक किताब निकाली। हाथ से उसे थपथपाकर उसकी धूल झाड़ी। फिर किताब को सफ़िया के सामने रखकर उन्होंने पहला सफ़ा खोल दिया। बायें हाथ पर नज़रुल इस्लाम की तस्वीर थी और टाइलवाले सफ़े पर

धुंधली रौशनाई में लिखा था—‘सुनील दास गुप्ता के लिए शमशुल इस्लाम की तरफ़ से, ढाका।’
19.4.1946

‘तो आप ईस्ट बंगाल के रहनेवाले हैं?’ सफ़िया ने अंग्रेज़ी में पूछा।

‘हां, मेरा वतन ढाका है।’

‘तो आप यहां बहुत दिन से हैं?’

‘बस जब पाकिस्तान बना था जभी आये थे, मगर हमारा वतन तो ढाका है। मैं तो बारह-तेरह साल का था। पर नज़रुल इस्लाम और टैगोर को तो हम बचपन में पढ़ते थे। जिस दिन हम आ रहे थे, उससे ठीक एक साल पहले यह किताब मेरे दोस्त इस्लाम ने मुझे दी थी। फिर हम कलकत्ते रहे और वतन आते-जाते रहे थे।’

‘वतन...?’ सफ़िया ने ज़रा हैरान होकर पूछा।

‘हां, मैंने आपसे कहा था न कि मेरा वतन ढाका है।’ उन्होंने ज़रा बुरा मानकर कहा।

‘हां-हां, ठीक है, ठीक है।’ सफ़िया उन्हें किसी कीमत पर नाराज़ नहीं करना चाहती थी।

‘पहले तो बस इधर ही कस्टम था, अब उधर भी कुछ गोलमाल हो गया।’ उन्होंने चाय की प्याली सफ़िया की तरफ़ खिसकायी और खुद दो बड़े-बड़े घूंट भरकर बोले—‘वैसे तो डाब कलकत्ते में भी होता है, जैसे यहाँ भी होता है, मगर हमारे यहां की डाब की क्या बात है! हमारी ज़मीन का मज़ा ही कुछ और है!’

उठते वक़्त उन्होंने पुड़िया अपने हाथ में ले ली, चलना शुरू किया। सफ़िया उनके पीछे हो ली। प्लेटफॉर्म पर आकर उन्होंने सफ़िया के हाथ से बैग ले लिया। उसमें खुद पुड़िया रखी और एक कुली को बुलाकर सामान ले-जाने का इशारा किया और उस तमाम अरसे में ज़बान से एक भी लफज़ नहीं निकाला।

जब सफ़िया बाहर जानेवाले पुल पर चढ़ गयी तो उसने मुड़कर देखा। वह अभी तक सर झुकाये चुपचाप खामोश खड़े थे। पुल से उतरते वक़्त वह सोचती जा रही थी कि किसका वतन कहां है? वह जो कस्टम के इस तरफ़ है या उस तरफ़?

शोर और सन्नाटा

रजा इमाम

ये एक फ़रमाइशी कहानी है। मुझसे जब वक्त की पाबंदी लगाकर ये कहा गया कि मैं जल्द-अज-जल्द¹ एक कहानी लिख दूँ, तो पहले तो मुझे सख़्त झुंझलाहट महसूस हुई। मेरे नज़दीक यह अदब और अदीब दोनों की तौहीन थी। भला कहानी लिखना कोई भैंस को चारा डालना है, कि कुट्टी की, टोकरे में उठाया और नांद में डाल दिया। अदब तो पैग़म्बराना फ़ैअल² है। जब मज़ामीन ग़ैब³ से आते हैं, तब किसी शेर या कहानी की तख़लीक़⁴ होती है। मगर न जाने ज़हन⁵ के किस गोशे⁶ से एक चोर ख़याल उभरा कि मेरी सोच में हकीक़त से ज़्यादा अना⁷ का दख़ल है। तख़लीक़ी सलाहयिते⁸ कितनी भी खुदकार⁹ क्यों न हों, उन्हें बरांगेख़ता¹⁰ भी किया जा सकता है। अगर ऐसा न होता तो क़सीदे कैसे लिखे जाते? तरही ग़ज़लें कैसे कही जातीं? दास्तान-गो अपने सरपरस्तों के लिए किस्सों से किस्से कैसे गढ़ते? और मुमताज़ नावेलनिगार हर महीने रिसालों में वक्त पर छपने के लिए अपने नावेलों की क़िशतें कैसे पूरी करते? इसलिए मैंने तय किया कि यह फ़रमाइशी कहानी लिखने का तजुर्बा मैं ज़रूर करूंगा।

लेकिन मेरे सामने दिक्क़त यह थी कि कोई ऐसा नुक्ता ज़हन में नहीं था, जिससे कहानी शुरू कर सकूँ। इसलिए मैंने सोचना शुरू किया, कि मेरी पहले की लिखी हुई कहानियों की इब्देदा¹¹ कैसे हुई थी? ध्यान आया कि किसी की तहरीक़, किसी शख़्सियत के तसव्वुर¹² से हुई थी। किसी की किसी इमेज से, किसी की अचानक किसी याद से और किसी की किसी नज़रिये की बुनियाद पर। लिहाज़ा मैंने अपने ख़याल की रौ को दिमाग़ के कोनों में पड़े हुए मुनासिब इमेजो¹³, शख़्सियत और वाक़यात¹⁴ की खोज में इस तरह दौड़ाना शुरू कर दिया, जैसे कंप्यूटर के 'चूहे' को इधर-उधर घुमाकर मतलूब¹⁵ मौजू¹⁶ को पर्दे पर लाने की कोशिश की जाती है। घूमते-घूमते ख़याल का तीर गर्मियों की छुट्टियों पर पहुंचा और अचानक भूली-बिसरी शक़लों का एक जमघट ज़हन में उभर आया।

उनमें से कुछ अब इस दुनिया में नहीं रहीं और बाक़ी का पता नहीं कि हैं भी या नहीं, और अगर हैं तो कहां हैं? लेकिन सूरते-हाल हमेशा ऐसी नहीं थी। कभी ये हस्तियां मेरी जिंदगी का एक अटूट हिस्सा मालूम होती थीं। उनके बग़ैर जिंदगी का कोई तसव्वुर हो ही नहीं सकता

1. जल्दी से जल्दी, 2. पैग़म्बरों का काम, 3. अनजाना, अदृश्य क्षेत्र, 4. रचना, 5. बुद्धि, 6. कोना, 7. अहंकार, 8. रचनात्मक प्रतिभा, 9. स्वतः स्फूर्त, 10. उभारना, 11. शुरुआत, 12. कल्पना, 13. समुचित छवियों, 14. घटनाएं, 15. मनचाहा, 16. विषय ।

था। कितनी बेसब्री से हम सब बहन-भाइयों और मां को गर्मियों की छुट्टियों का इंतज़ार रहता था। ये छुट्टियां हम नाना-नानी और उन सब अजीजों¹ के साथ गुज़ारा करते थे, जो अब ऐसा मालूम होता है कि हवा के झोंके थे, आये और आकर गुज़र गये। आज बरसों बाद यादों से छेड़छाड़ करने पर उनकी तस्वीरें ज़हन के पर्दे पर ऐसे उभरती चली आयीं, जैसे वो फिल्में होती हैं, जिनके अदाकार² अब इस दुनिया में नहीं रहे। हैं भी और नहीं भी हैं, वे एक अजीब-से मिले-जुले अहसास के साथ।

जब ये हमारी जिंदगी में थे तो कितने हकीकी³ लगते थे। न सिर्फ़ ये हमारे थे बल्कि हर चीज़ जिसका उनसे ताल्लुक⁴ था, हमें अपनी लगती थी। नाना का बाग़ था। नाना की कोठी हमारी कोठी थी, और जब छुट्टियों में ननिहाल जाते थे तो स्टेशन की अहमियत⁵ इस पर मुनहसिर⁶ होती थी कि वो हमारी मंज़िल से कितना दूर या पास है। जैसे-जैसे ट्रेन आगे बढ़ती जाती थी, वैसे ही वैसे हमारी खुशी भी बढ़ती जाती थी, और आख़िरी-दरमियानी स्टेशन के बाद तो सीट पर बैठना मुश्किल हो जाता था। यह नदी, यह नाला, ये बाग़ों का सिलसिला और फिर जैसे ही बाग़ों के पीछे से मलिका विक्टोरिया के मुजस्समे⁷ के सायेबान की टावर पर लगा हुआ बादेनुमा⁸ नज़र आता, हम सब भाई-बहन लपककर खिड़कियों पर पहुंच जाते थे। हमें मालूम था कि अब प्लेटफ़ार्म आयेगा और प्लेटफ़ार्म पर मामूजान हमारे इंतज़ार में खड़े होंगे। सुनहरे फ़्रेम का चश्मा लगाये हुए, मुस्कुराते हुए; कभी पैंट-शर्ट में और कभी मलमल का चुना हुआ चिकन का कुर्ता, चौड़ी मोहरी का कलफ़दार पाजामा और पम्प शू पहने हुए।

ट्रेन से उतरते ही, हम लोग सीधे स्टेशन से बाहर उस जगह का रुख़ करते थे, जहां मामूजान का अपना तांगा खड़ा होता था। मामूजान इस तांगे का बड़ा ख़याल रखते थे। नाना की पुरानी कार पर वह इसको तरजीह देते थे। उसके बमों पर ब्रासों से चमकाये हुए पीतल के कड़े और टिकलियां लगी हुई थीं। चमड़े की बेहतरीन लगाम थी, जिस पर बराबर पॉलिश की जाती थी, और जिसके बकसुए भी ब्रासों से चमकते रहते थे। आगे और पीछे दोनों सीटों पर चमड़े की स्प्रिंगदार गद्दियां थीं, और दायें, बायें और पीछे की तरफ़ हल्के बादामी रंग के पर्दे लगे हुए थे, जो उसी वक़्त खुलते थे, जब पर्दादार सवारियां बैठी होती थीं। आगे पायदान में राहगीरों को ख़बरदार करने के लिए दो फिटन वाली घंटियां लगी हुई थीं। स्टेशन से जाते हुए मामूजान साईस को, जो तांगा भी चलाता था, सामान के साथ आने के लिए कहकर खुद लगाम संभाल लेते थे। हम लोगों में मामूजान के साथ बैठने पर काफ़ी झगड़ा होता था, जिसकी अस्ल वजह यह थी कि जब तांगा सिविल लाइंस की दरख़्तों से घिरी काली चिकनी सड़क पर, घोड़े के अकड़े हुए सर पर लहराती सतरंगी कल्गी और सरसराते हुए पर्दों के साथ टिप-टाप, टिप-टाप की आवाज़ करता हुआ गुज़रता था तो हम सब उसकी टिंग-लिंग करती हुई घंटियों को बजाना चाहते थे।

घर पहुंचने पर हमें नाना कोठी के बाहरी बरामदे में टहलते हुए मिलते थे। नानी हमारी आने की खबर पाकर अपने भारी-भरकम जिस्म को संभालती हुई फ़ौरन हॉल के दरवाज़े तक आ जाती थीं। पहले मां को लिपटाकर खूब प्यार करतीं और फिर हम सबकी बलायें लेतीं। उनके पीछे

1. प्रियजनों, 2. अभिनेता, 3. सच्चे, 4. संबंध, 5. महत्व, 6. निर्भर, 7. मूर्ति, 8. दिशा-सूचक यंत्र ।

खालाएं, मुमानी और वो सब रिश्तेदार होते थे, जिन्हें नाना ने कुछ उनकी मदद के लिए, और कुछ लकोदक¹ कोठी और बाग का सूनापन दूर करने के लिए कोठी की कोठरियों और बाग के एक सिरे पर बसा रखा था। इस प्यार-दुलार से छुट्टी पाते ही हम सारे बच्चों के साथ बाहर, बाग के लिए दौड़ लगा देते थे, ताकि देख सकें कि किस-किस पेड़ पर आम पकने वाले हैं, और जामुन और फालसे का क्या हाल है।

मेरे ज़हन में जन्मत का नक्शा बहुत कुछ इस बाग और कोठी से मिलता-जुलता था। यहाँ सायेदार² दरख्त³ थे, जायकेदार फल थे। ठंडा-मीठा पानी था, पढ़ाई-लिखाई से छुट्टी थी। दिल-भरकर खेलने-कूदने और घूमने-फिरने की आज़ादी थी और जो हम खाना चाहते थे, नानी पकवा देती थीं।

लेकिन न जाने कहां से हमारी इस जन्मत में एक सांप दाखिल हो गया। एक ज़माना था जब शाम को सब बुजुर्ग और बच्चे जमा होते थे। गप-बाजियां होती थीं। इधर-उधर के नये-पुराने वाक्यात का जिक्र होता था। बैतबाजियां होती थीं, पहेलियां बुझवायी जाती थीं, किस्से-कहानियां सुनायी जाती थीं, और कैरम, लूडो, बैगाटेल और ताश खेले जाते थे। मगर अचानक बुजुर्गों ने एक नया मशगला अख़्तियार कर लिया, हिंदुस्तान और पाकिस्तान की बहस का। नाना और मामू की दिलचस्पी तो कुछ नरम-गरम सी थी, लेकिन जब पापा और बड़े ख़ालू मौजूद होते थे तो बहस बड़ी गरमा-गरम हो जाती थी। बड़े ख़ालू पाकिस्तान के हामी थे और पापा उसके मुख़ालिफ़⁴। चूँकि दोनों सरकारी मुलाज़िम⁵ थे, इसलिए दूसरों के सामने तो अपने सियासी ख़्यालात⁶ का खुलकर इज़हार नहीं कर सकते थे, लेकिन आपस में बड़े ज़ोर-शोर से बहस करते थे।

बड़े ख़ालू मज़हब और कल्चर के नाम पर हिंदू और मुसलमान को दो अलग क़ौम साबित करने की कोशिश करते थे।

पापा का कहना था कि ये तसव्वुर अंग्रेज़ों का दिया हुआ है, वरना मुग़लों के ज़वाल⁷ के बाद भी अंग्रेज़ों के मुकम्मल तसल्लुत⁸ से पहले मुख़्तलिफ़⁹ रजवाड़ों और नवाबी रियासतों में दोनों मिलकर रहते थे। ख़ास तौर से अवध में।

बड़े ख़ालू कभी अपने तसव्वुर के पाकिस्तान के ख़्वाबों की रौ में बह जाते और बड़े जोश में ऐसे पाकिस्तान का जिक्र करते, जिसके दोनों हिस्से एक ऐसे कॉरिडोर से जुड़े होंगे जो दिल्ली और आगरा से होकर गुज़रेगा।

पापा उनका मज़ाक उड़ाते हुए कहते—

‘और उस कॉरिडोर से आप हाथी पर बैठकर छत्र लगाये, टोल-ताशों के साथ, लाहौर से ढाका तशरीफ़ ले जाया करेंगे।’

ख़ालूजान चिढ़ जाते और कहते—

‘और यहाँ आप जैसे लालाओं के आफ़ताबे और चिलमचियां ढोते फिर रहे होंगे।’

इसके बाद गुफ्तगू¹⁰ तल्ख़¹¹ हो जाती, जिसे नाना और मामू बड़ी मुश्किल से रफ़ा-दफ़ा

1. लंबी-चौड़ी, 2. छायादार, 3. पेड़, 4. खिलाफ, 5. नौकर, 6. विचार, 7. पतन, 8. शासन, नियंत्रण, 9. विभिन्न, 10. बातचीत, 11. कड़वी ।

करते। उसका असर कभी-कभी हम बहन-भाइयों और बड़े ख़ालू के बच्चों पर भी पड़ता था और अक्सर अपने-अपने वालिदैन¹ की वफ़ादारी में हम आपस में लड़ पड़ते थे। बहस-मुबाहिसे² का ये सिलसिला उस वक़्त तक चलता रहा, जब तक मुल्क आज़ाद न हो गया। आज़ादी और मुल्क की तक्सीम³ पर ख़ून-ख़राबे को देखकर पापा भी डगमगा गये और सोचने लगे कि शायद उनको भी तर्क-वतन⁴ करना पड़ेगा, लेकिन जब महात्मा गांधी के ख़ून के छींटों से यह आग सर्द पड़ गयी तो उन्हें फिर यकीन हो चला कि तक्सीम के बावजूद, उनके सपनों का हिंदुस्तान बनकर रहेगा और गांधी का ख़ून ज़ायाना⁵ नहीं जायेगा। बड़े ख़ालू कुदरती तौर पर पाकिस्तान जाना चाहते थे। उनके सपनों का पाकिस्तान न सही, लेकिन जैसा भी था, पाकिस्तान था। मगर उनकी दिक्कत यह थी कि ख़ाला अपने मां-बाप और बहन-भाइयों को छोड़ने को तैयार नहीं थी। लिहाज़ा ख़ालूजान की जिंदगी का वाहिद⁶ मक़सद अपने ससुराली रिश्तेदारों को पाकिस्तान जाने के लिए तैयार करना बन गया। नाना को पाकिस्तान में कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। उनकी प्रैक्टिस जमी हुई थी और उनके मुक्किलों और दोस्तों में हिंदू-मुस्लिम सभी शामिल थे, लेकिन नानी के दोनों भाई पाकिस्तान जा चुके थे, इसलिए वो कुछ गो-म-गो⁷ के आलम में थीं। ख़ालूजान ने अपने मक़सद के लिए उन्हीं को ज़रिया बनाने की ठानी। उन्होंने उनकी दुखती रग अज़ादारी⁸ को पकड़ लिया।

नानी को अपनी मुहर्रम की मजलिसों पर बड़ा नाज़ था। कोठी के अंदरूनी बरामदे का एक हिस्सा और एक कमरा इसी के लिए मख़सूस थे। मुहर्रम आते ही कमरे में अलम सजा दिये जाते थे और उसके सामने बरामदे में दरियां और जाज़म बिछा दिये जाते थे। नौ दिन तक यहां बड़े जोर-शोर से मजलिसें होती थीं और मातम बरपा होता था। एक मशहूर मिरासन सोज़ख़वानी⁹ करती थी और एक बड़ी माडर्न-सी पढ़ी-लिखी रिश्तेदार ख़ातून जाकरी¹⁰। पाकिस्तान बनते ही ये दोनों पहले ही रेले में शहर छोड़ गयीं और मजलिस में आने-जाने वालों की तादाद भी कम होने लगी। ख़ालूजान को मौक़ा मिला गया। वो सिर्फ़ एक ही बात कहते—

‘बस अम्मा, हो चुकी अज़ादारी, अब हिंदुस्तान में यह सब नहीं चलेगा। हुसैन का नाम तक लेना बंद हो जायेगा।’

‘अरे तो क्या यज़ीद का नाम लिया जायेगा?’ नानी घबराकर कहतीं। पापा इसका मज़ाक उड़ाते—

‘यज़ीद किसी हिंदू नहीं, मुस्लिम मुल्क का फ़रमाख़्वा¹¹ था। इस मुल्क में अज़ादारी कैसे बंद होगी, जहां हिंदू भी ताज़िये पर मुरादों के लिए चिल्ला बांधते हैं।’

बड़े ख़ालू चिढ़कर कहते—

‘देखा नहीं, अजोध्या में मस्जिद में बुत रखके कैसे ताला डाल दिया गया है।’

‘और आपने नहीं देखा।’ पापा तुर्की-ब-तुर्की कहते—‘एक कलेक्टर की कोशिश के बावजूद फ़ैज़ाबाद में फ़साद नहीं हुआ।’

1. मां-बाप, 2. वाद-विवाद, 3. बंटवारा, 4. देश छोड़ना, 5. बेकार, 6. अकेला, 7. असमंजस, 8. इमाम हुसैन का सोग, 9. शोक काव्य, 10. कथावाचक, 11. शासक ।

इस तरह पाकिस्तान जाना न जाना पापा और बड़े ख़ालू के दरमियान एक मुस्तकिल¹ रस्साकशी का ज़रिया बन गया। पापा अपनी महफूज² मुलाज़मत, मिट्टी और अवध-कल्चर की बात करते और बड़े ख़ालू तरक्की के इम्काना³ मज़हब और इस्लामी कल्चर की।

इस बहस में नाना और मामूजान कभी पापा का साथ देते और कभी बड़े ख़ालू का। लेकिन धीरे-धीरे बड़े ख़ालू का पलड़ा भारी पड़ने लगा। छोटे ख़ालू जिस आरज़ी⁴ महकमे में काम करते थे, वो ख़त्म कर दिया गया। इधर मामूजान को जंगलात के ठेके में काफ़ी नुकसान उठाना पड़ा। बड़े ख़ालू नाना को ये समझाने में कामयाब हो गये कि पाकिस्तान में छोटे ख़ालू को अच्छी मुलाज़मत मिल जायेगी और मामूजान का कारोबार बेहतर चलेगा। अब सिर्फ़ पापा रह गये जो किसी भी सूरत में पाकिस्तान जाने को तैयार नहीं थे। जब ख़ालू ने यह महसूस किया कि उन्हें राज़ी करना आसान नहीं, तो उन्होंने पैतरा बदला और मुझे अपने मक्सद के लिए इस्तेमाल करने की कोशिश की।

बड़े ख़ालू अब रिटायर होने वाले थे। जब ये तक़रीबन तय हो गया कि नाना मामूजान और छोटे ख़ालू मय अपने सब घर वालों के उनके साथ ही पाकिस्तान चले जायेंगे तो उन्होंने अपने दोनों लड़कों को अपने भाई के पास पाकिस्तान भेज दिया। उन्होंने वहां कुछ इंतज़ाम कर रखा था, इसलिए वहां पहुंचते ही दोनों को नौकरियां मिल गयीं। ख़ालूजान ने इसी को अपने नये पैतरे की बुनियाद बनाया। वो पहले तो मेरी जिहानत⁵ और काबलियत⁶ की तारीफ़ करते, फिर अपने लड़कों की मिसाल देते हुए कहते कि मेरे जैसों के लिए तो पाकिस्तान में तरक्की के बहुत मौक़े हैं, और फिर पापा को मशवरा देते कि मुझे उनके साथ भेज दें और जब मैं वहां जम जाऊं तो खुद भी आ जायें।

बड़े ख़ालू ने यह बात तब कही जब वह हमारे घर आये हुए थे, इसलिए पापा उनसे उलझना नहीं चाहते थे। वह उस वक़्त हू-हां करके बात को टाल गये। लेकिन गर्मियों की छुट्टियों में जब सब जमा हुए तो बात फिर छिड़ी, और क़रीब-क़रीब सभी ने बड़े ख़ालू की ताईद⁷ की। हर शख्स जानता था कि ये कोठी में गुज़ारी जाने वाली आख़िरी छुट्टियां थीं। ख़ालूजान रिटायरमेंट के बाद अपना सारा पैसा ले चुके थे। अब सिर्फ़ कोठी और बाग़ बिकने का इंतज़ार था। पापा को मनाने का ये आख़िरी मौक़ा था, इसलिए सब उन पर दबाव डाल रहे थे। पापा पहले तो टालते रहे, लेकिन धीरे-धीरे गुफ़्तगू गर्म होने लगी। पापा को उलझन थी कि उनके ख़यालात जानने के बाद भी सब उन पर दबाव डाल रहे हैं और वे लोग परेशान थे कि पापा की वजह से मां और हम सब उनसे अलग हो जायेंगे। बात बढ़ते-बढ़ते यहां तक पहुंची कि बड़े ख़ालू एकदम फट पड़े—

‘बड़े अक्लमंद बनते हो मियां! तब पता लगेगा जब तुम्हें यहां कोई नहीं पूछेगा और तुम्हारे बच्चे ठोकरें खाते फिरेंगे।’

यह बात न सिर्फ़ पापा को बुरी लगी बल्कि मां को भी, जो कुछ-कुछ बड़े ख़ालू की हमनवा⁸ होती जा रही थीं। पापा इतने नाराज़ हुए कि दूसरे ही दिन हम लोगों को लेकर वहां

1. लगातार, 2. सुरक्षित, 3. संभावनाएं, 4. अस्थायी, 5. अक्लमंदी, 6. योग्यता, 7. समर्थन, 8. सहयोगी ।

से रवाना हो गये। इस तनातनी का नतीजा यह निकला कि पापा ने नाना की गाड़ी तक को तोहफे में लेने से इन्कार कर दिया, और उन लोगों के जाने का पता हमें मां के नाम नाना के खत से लगा। मां की आंखों से टपकने वाले चंद आंसू उनसे हमारे ताल्लुक की आखिरी निशानी थे। इसके बाद मां कुछ चुप-चुप सी रहने लगीं। वो अब उन लोगों का जब जिक्र करती थीं, तो हाल¹ का नहीं सिर्फ माजी² का सीगा³ इस्तेमाल करती थीं। अपने आखिरी वक्त में एक बार ज़रूर बिस्तर पर लेटे हुए उन्होंने अचानक आंखें खोलीं और दुखभरी आवाज़ में बोलीं—‘न जाने बाबा और अम्मा किस हाल में होंगे?’

हम ननिहाली शहर से इतने बेताल्लुक हो गये कि फिर कभी पलटकर उधर नहीं गये। हां, कभी उस स्टेशन से गुज़रे तो ऐसा लगा जैसे ज़ख़म का खुरंड उतरने के बाद कभी-कभी उसके निशान को देखकर लगता है।

लेकिन अब कहानी का मौजू⁴ तलाश करते हुए अहसास हुआ कि यादें दबायी जा सकती हैं, मरती कभी नहीं। मुझे एक अहसास और हुआ, वो ये कि कहानी और वाक्याती⁵ दुनिया की हकीकतें अलग-अलग होते हुए भी एक दूसरे के गिर्द घूमती रहती हैं और एक दूसरे पर सायाफ़ग़न⁶ होती रहती हैं। वाक्यात कहानी की रौशनी में एक नयी अहमियत हासिल कर लेते हैं और कहानी वाक्यात से अपनी हकीकत के लिए मवाद⁷ हासिल करती है। लेकिन, कहानी का तरतीबी ख़ाका⁸ वाक्यात की तरतीब⁹ से अलग होता है। जैसे मैंने कई जुज़यात¹⁰ को इधर-उधर से जोड़कर कहानी को एक सिम्त¹¹ दी है और माहौल और किरदारों¹² की तशक़ील¹³ की है। साथ ही साथ इस अर्से में असल जिंदगी में होने वाले कई वाक्यात को छुआ तक भी नहीं है। फिर भी कुछ बुनियादी बातें वाक्याती हकीकत से बहुत करीब हैं, जैसे ये वाक्या जो अब मैं सुनाने जा रहा हूँ और जिसके बग़ैर ये कहानी नामुकम्मल रहेगी।

चंद साल पहले की बात है। जब अभी बाबरी मस्जिद गिरायी नहीं गयी थी। एक दिन मैं डिपार्टमेंट से घर वापस पहुंचा तो बीबी ने दरवाज़ा खोलते ही मुस्कुराकर कहा—‘अगर बता दो कि आज हमारे घर कौन आया है तो मुंह मांगा इनाम मिलेगा।’

मैंने अपने और बीबी के तमाम ऐसे रिश्तेदारों और दोस्तों के नाम गिनवा दिये, जिनके आने पर हम खुश हो सकते थे। मगर वो हर नाम पर ‘ना’ कहती रही। आखिर मैंने आजिज़¹⁴ होकर पूछा—‘कौन है भई! जिसके आने पर तुम्हारी बांछें खिली जा रही हैं।’

‘ऊपर वाले बैडरूम में जाकर खुद ही देख लो। तुम्हारी बांछें इससे भी ज्यादा खिल उठेंगी।’ बीबी ने जवाब दिया। मैं हैरानी के आलम में ऊपर पहुंचा तो देखा, कोई नमाज़ पढ़ रहा था। अंदाज़ देखकर मैं ठिठक गया। एक लम्हे के लिए ऐसा लगा जैसे मां इस दुनिया में वापस आ गयी हों। इतने में उन्होंने सलाम फेरकर मेरी तरफ़ देखा तो मैं चौंक पड़ा—

‘छोटी ख़ाला!’ और लपककर मैंने उनके वो नन्हें-मुन्हें से पांव पकड़ लिये, जिन्हें देखकर मां का ख़याल आया था। बड़ी देर तक वो मुझे सीने से लगाये रोती रहीं। जब ज़रा संभलीं तो

1. वर्तमान, 2. भूत, 3. काल, 4. विषय, 5. घटनाएँ, 6. प्रभाव डालना, 7. विषयवस्तु, 8. प्रारूप, 9. क्रम, 10. अंश, अंग, 11. दिशा, 12. चरित्र, 13. निर्माण, 14. परेशान ।

बोलीं—‘खुदा का लाख-लाख शुक्र है कि तुम सबको एक बार फिर देख लिया। मैं सबसे मिलती हुई आ रही हूँ। सबसे बड़ी बात यह है कि दूल्हा भाई भी आराम से हैं और तुम सब अच्छी जगहों पर हो और इज़्ज़त से जिंदगी गुज़ार रहे हो।’

मैंने नाना-नानी के इंतक़ाल⁶⁹ की ख़बर तो सुन ली थी, लेकिन बाकी रिश्तेदारों के बारे में कुछ ज़्यादा मालूम नहीं था। झिझकते हुए मैंने उनके बारे में पूछना शुरू किया। वो बताती गयीं। कौन क्या कर रहा है, कौन नहीं रहा, किसकी शादी हो गयी, किसके कितने बच्चे हैं, वगैरह-वगैरह। जब मैंने बड़े ख़ालू के बारे में पूछा, तो पल-भर के लिए खामोश हो गयी। फिर बोलीं—

‘बड़े दूल्हा भाई बेचारे को तो औलाद का ग़म खा गया। बड़ा लड़का तो अमरीका जा बसा और वहां खुशहाल है। छोटा मुहाजिर और ग़ैर-मुहाजिर के झगड़े में अपाहिज हो गया। बेटी की शादी बड़ी अच्छी जगह की थी, लेकिन एक दिन दामाद नमाज़ पढ़ने मस्जिद गया, वहीं किसी ने गोलियों से भून डाला।’

इसके बाद मैंने उनसे कोई सवाल नहीं किया। वो दो दिन हमारे साथ रहीं और उनके साथ ज़्यादा से ज़्यादा वक़्त गुज़ारने के लिए मैंने उन दो दिनों की छुट्टी ले ली। जब बीज़ा की मुद्दत ख़त्म हो जाने पर वो जाने लगीं तो मेरा जी चाहा कि उन्हें रोक लूं, मगर सरहदों के ज़ब्र के आगे कोई चारा न था, और उस पार उनके अपने बच्चे भी उनका इंतज़ार कर रहे थे।

जब मैं उन्हें छोड़कर एयरपोर्ट से वापिस हो रहा था तो मेरे दिल पर सन्नाटा-सा छाया हुआ था और ज़हन में शेक्सपीयर के अल्फ़ाज़ गूँज रहे थे—

—जिंदगी एक चलती-फिरती परछाई है, एक बेचारा अदाकार जो अपनी स्टेज की मुख़्तसर मुद्दत में बड़ा अकड़ता और चिल्लाता है और फिर कभी सुनायी भी नहीं देता, ये एक ऐसी कहानी है, जैसी कोई दीवाना सुनाता है, तुंद⁷⁰ और पुरशोर⁷¹, लेकिन मानी से आरी⁷²।

बाद-अज़-तहरीर⁷³; कहानी तो पूरी हो गयी लेकिन मेरी बात पूरी नहीं हुई, क्योंकि शेक्सपीयर के ये अल्फ़ाज़ मुझे एक बार फिर याद आये, जब मैं वालिद⁷⁴ की तदफ़ीन⁷⁵ के बाद क़ब्रिस्तान से लौट रहा था।

उन्होंने अजोध्या में शिलान्यास का ज़िक्र तो सुना, लेकिन इसके बाद उनकी समाअत⁷⁶ कमज़ोर होती गयी। भागलपुर के फ़सादात और रथयात्रा के बारे में पढ़ा, लेकिन इस वक़्त तक वो याद्दाशत खोने लगे थे और जब बाबरी मस्जिद गिरायी गयी और उन्हें बताया गया तो उन्होंने कुछ ज़हन पर ज़ोर डालते हुए कहा—‘हां, एक कलैक्टर कुछ फ़साद कराना चाहता था, लेकिन फ़साद हुआ नहीं।’

आज ये कहानी लिखते वक़्त मैं खुश हूँ कि उन्होंने नहीं देखा कि उनके गांधी के गुजरात में क्या हुआ या शायद देखा हो, उन्होंने भी और गांधी ने भी।

—लिप्यंतरण—हैदर अली

1. देहांत, 2. प्रचंड, 3. शोर से भरी, 4. अर्थ से रहित, 5. पुनश्च, 6. पिता, 7. दफ़न करने, 8. सुनने की शक्ति ।

इब्ने आदम (आदम का बेटा)

ख़ालिदा हुसैन

हैलीकॉप्टर का विशालकाय पंखा अभी बंद नहीं हुआ था और चारों ओर रेत उड़ रही थी। शायद उस पंखे के बंद होने का कोई इरादा भी नहीं था। मगर नहीं, हो सकता है कि यह रुक चुका हो और वह उसे चलता हुआ देख रहा हो, क्योंकि अब घटनाक्रम लगातार चलता रहता था, जैसे आंख पर किसी वस्तु की नकारात्मक छवि बहुत देर तक जमी रह जाये। तब उसने अपनी आंखें मलीं। उनमें चिंगारियां भरी हुई थीं। उसकी हथेलियों पर, उंगलियों के बीच और नाखूनों में, और नाक और कानों में हर कहीं रेत की चिंगारियां सुलग रही थीं। अत्यंत शुष्कता हर ओर तनी थी और सब कुछ चटखने के निकट था। उसने भारी-भारी जूतों में अपने पांव की उंगलियों को सिकोड़ा। वहां चिपचिपी नमी थी। सड़ांध पांव से उठी और उसके गले में आ ठहरी।

उसने देखा कि वे सब के सब, एक दो तीन, पांचों के पांचों, हैलीकॉप्टर के समीप अर्धाकार में खड़े थे। उसने गर्मी की तीव्रता से काली पड़ती धूप में आंखें सिकोड़कर आने वाले को देखना चाहा। आशा के विपरीत वह छरहरे बदनवाला वर्दीपोश अपना लाल भभूका चेहरा उठाये हुए था। सलामी लेने-देने के बाद वे एक समूह के रूप में गाड़ियों की ओर चलने लगे। अब वे इतनी दूरी पर थे कि आने वाले की कंचे जैसी नीली आंखों को वह देख सका। वे आंखें ही नहीं बल्कि कंचे ही थे, जैसे कि अक्सर उन लोगों की थीं। बाह्य तौर पर उसमें कोई ऐसी विशेषता नज़र नहीं आ रही थी कि उसे समुद्र पार से बुलाया जाता। जब समूह उसके निकट पहुंचा तो विशेषज्ञ ने एक पल के लिए उस पर निगाह डाली। तब इंस्पेक्टर ने कहा, 'अपना आदमी है।' फिर वह अपने स्वभाव के अनुसार मुंह टेढ़ा करके हंसा, 'बल्कि अपना बन गया है। ऐसे लोग बहुत लाभकारी होते हैं। इनके बिना काम नहीं चलता। अगर कुछ इस जैसे न मिल जाते तो यकीनन हमारा काम बेहद मुश्किल, बल्कि असंभव हो जाता।'

इंस्पेक्टर का विचार अभी तक यही था कि वह उसकी भाषा ठीक से नहीं समझता। इन लोगों ने उसकी भाषा के कुछ शब्द सीख लिये थे। रोज़मर्रा की ज़रूरत और अपने मतलब के कामों के लिए ये शब्द उन पर ज़ाहिर करना नहीं चाहता था। कैसी भाषा थी, जिसके शब्द सांप की फुंकार और सिस्कार जैसे डंक बनकर होठों पर सरसराया करते और हरदम उसके मुंह में एक विषभरा स्वाद जमा रहता।

अब वे सब गाड़ी में बैठ चुके थे। वह ड्राइवर के साथ बैठा था। 'आखिर यहां पर ऐसी कौन-सी समस्या खड़ी हो गयी?' विशेषज्ञ ने सिग्रेट मुंह में दबाये-दबाये कहा, 'हम इस कमबख्त नहूसत के मारे रेगिस्तान में इसलिए तो ख़्वाब नहीं हो रहे हैं कि ये कीड़े-मकौड़े हमें पागल कर

दें। कुछ है, कोई बड़ी रहस्यमय शैतानी ताक़त है जो इनके अंदर मरती ही नहीं। हम जो ख़्वाब देखते हैं ना कि आदमी मरके भी नहीं मरता, कुछ क्षण मरने के बाद फिर अच्छा-भला उठ बैठता है और गला दबाने को हमारा पीछा करता है, तो यह इसी रेगिस्तान का 'नाइटमेयर' है।

वह अगली सीट पर ही पहचान रहा था कि यह उस कैप्टन की आवाज़ है जो तबेले में लंबे-लंबे लेटे, कराहने वाले ढांचों को फ़ौजी बूटों से ठोकरें मारने का आदी था। एक बार सिग्रेट के लिए जब उसने अपनी जेब में हाथ डाला था तो लाल रंग का एक वालेट धप्प से नीचे गिरा। गिरा और खुल गया था। उसमें भूरे बालों और रक्त रंग होठों वाली एक लड़की का चित्र था, जो उत्तेजनाजनक ढंग से मुंह खोले हुए थी।

'ओह' कैप्टन ने तुरंत वालेट उठाया था और तबेले की तपती दीवार के साथ टेक लगाये मुश्किल से सांस लेते हम्ज़ा के सीने में ज़ोरदार ठोकर मारके बे-तहाशा हंसने लगा था। हम्ज़ा कैसा सेहतमंद था। हम उसे हरकुलीस कहते थे। मगर घायल होने के बाद उसके पूरे जिस्म में ज़हर फैल गया और वह चंद ही दिनों में हड्डियों का ढांचा रह गया था। अब जबकि जीप जेलख़ाने के बिल्कुल करीब पहुंच चुकी थी, उसने बिल्कुल सीधे, अविचल बैठे-बैठे सोचा।

'आदमीयत ख़त्म करना भी एक हुनर है और जब तक तुम आदमीयत ख़त्म न करोगे, कमज़ोर से कमज़ोर भी तुम्हें तंग करता रहेगा। तुम्हारा जीना हराम कर देगा। दीवाना कर देगा।' विशेषज्ञ ने सिग्रेट अभी तक मुंह में दबा रखा था।

पहरे पर खड़े हुए दो गाड़ों ने जेल का बड़ा-सा लोहे का फाटक खोला और एड़ियां जोड़ कर सैल्यूट मारा। जीप बैरकों के पास जा रुकी। अबके इंस्पेक्टर ने इशारे से उसे अपनी तरफ़ बुलाया और फिर वह उन पांचों के बीचोंबीच खड़ा था।

इंस्पेक्टर बता रहा था (जबकि उसके विचार में वह उसकी भाषा कुछ अधिक न समझता था) कि 'यह विद्रोहियों का बहुत करीबी साथी है। सौभाग्य से हाथ आ गया है। इसे मालूम है कि रोटी के बिना जीवित नहीं रहा जा सकता है और सांस लेने की जितनी भी बड़ी क़ीमत चुकायी जाये कम है, और मौत, बल्कि मुसल्लसल गौत एक असहनीय स्थिति है, और अन्य सब ख़ाली धारणाएं और कल्पनाएं हैं जो भक् से उड़ जाती हैं। यह हमें सहयोग दे रहा है। हमने इसे वर्दी भी इसीलिए पहना दी है। विद्रोहियों के सबसे बड़े गिरोह की मुख़बरी भी इसी ने की है।' इसके बाद उसने एक गंदी-सी गाली बकी।

'ऐ अमीन इब्ने सर्ईद! तुम्हारे मां-बाप तुम्हारे सोग में बैठें। बस यही तेरी पहचान है।' आवाज़ें अपने आप उसके सिर के प्याले में से उबल रही थीं।

'फिर तो यह बड़े काम का आदमी है, क्यों?' विशेषज्ञ ने अपने लोहे जैसी उंगली उसके सीने में गाड़ते हुए कहा। इस अकस्मात् हल्ले पर वह अपनी जगह से हिल गया। चारों ओर खड़े सब लोग दांत निकोसने लगे।

'क्या नाम है इसका?' विशेषज्ञ की आंखें पत्थर की बनी थीं, बल्कि उसका मुंह भी किसी नीले पत्थर के बीच एक छोटे-से छेद की तरह था। बोलने में होंठ बिल्कुल नहीं खुलते थे। शायद वह अपने दांत हरदम भींचे रहता था।

'इसका नाम अमीन है। यूनिवर्सिटी का छात्र रहा है और किसी क्रांतिकारी गिरोह का कर्ता-धर्ता

भी। ऐसे ही अन्य सब सैल नंबर जीरो जीरा जीरो में पड़े हैं। आप उन्हें देखकर खुश होंगे और हमारे काम की दाद भी देंगे। कैप्टन ने उसे ज़ोर से धक्का देकर दीवार से दे मारा।

‘ठीक है, मेरे पास समय भी कम है। मैं फौरन ही काम शुरू करना चाहता हूँ।’ विशेषज्ञ ने तेज़ी से आगे बढ़ते हुए कहा। फिर वे पांचों क़दम से क़दम मिलाकर चलने लगे। चलते-चलते कैप्टन ने उसे भी हांका। उस समय उसके पांव के अंगूठे का घाव रिस-रिस कर पूरे मोज़े को भिगो रहा था। दर्द की तेज़ लहरें बिजली की तरह पूरी टांग में फैलती हुई गर्दन की ओर बढ़ रही थीं। इस पर भी उसके पेट में विचित्र हलचल मची थी। काली मरोड़-सी उठ रही थी। उस समय कुछ खाये-पिये बिना उसे पूरे दो दिन हो गये थे और यह सब कुछ हम्ज़ा के कारण हुआ था।

अबू हम्ज़ा जो उस दिन स्वयं को आत्मघाती हमले के लिए तैयार कर रहा था, लैला और कुद्दूस भी वहीं थे। वे उस ध्वस्त इमारत की छोटी-सी कोठरी में थे जो मल्बे में घिरी नज़रों से ओझल थी। उस दिन वह बड़ी कोठरी से रोटी के फफूंदी लगे कुछ टुकड़े कूड़े के ढेर पर चुनकर लाया था। वहां सब अपने-अपने टुकड़े टूंगने की कोशिश कर रहे थे।

लैला के गाल पर एक लंबा गहरा घाव था। एक बम के धमाके में शीशे का टुकड़ा उसमें पैबस्त हो गया था। अबू हम्ज़ा ने अपनी डाइसेक्शन की चिम्टी से उसे निकाला था। लैला के हाथ पीड़ा की तीव्रता से बिल्कुल बर्फ हो रहे थे और पूरा शरीर कांप रहा था। उस दिन उसके बाप और छोटी बहन को हंकाकर ले जाया गया था। हालांकि वे सब वास्तव में अबू हम्ज़ा और लैला की तलाश में थे। आतंकवाद के नाम पर मुहल्ले के मुहल्ले जेलों में ठूस दिये गये थे। इससे पहले उन्हें कब ख़बर थी कि जेलख़ाने बस्तियों से अधिक बड़े हैं। यूं भी उनके निकट जाने की किसी को इजाज़त न थी।

अबू हम्ज़ा ने फफूंदी लगी रोटी की एक चुटकी मुंह में डाली और उसे उबकाई आ गयी।

‘इसमें तमाम बेक्टीरिया भरा है। इससे मरने से बेहतर है कि आदमी बेहतर मौत चुने।’

उस समय लैला अपनी कमर के गिर्द वह बेल्ट बांध रही थी। ‘मगर इससे क्या मिलेगा? तुम खुद और कुछ वे...और यह भी पता नहीं कि वे कैसे और कितने? हो सकता है कि वे कोई दूसरे बे-फ़ायदा किस्म के लोग हों जो इस धमाके की लपेट में आ जायें और सबसे बढ़कर यह कि तुम्हारी बहन और बाबा को इसका कोई फ़ायदा न होगा।’ उसने लैला से कहा था।

‘उनको तो अब किसी बात से कोई फ़ायदा नहीं पहुंच सकता।’ लैला ने जवाब दिया था, ‘मुझे मालूम है अब सकीना अगर ज़िंदा है तो किस हाल में होगी और मेरा बाप...।’ वह चुप हो गयी।

‘क्या तुम चाहोगे कि मेरा भी वही हाल हो जो सकीना का हुआ?’

‘नहीं नहीं!’ उसने तुरंत कहा था और फिर स्वयं उठकर उसकी डिवाइस सेट करने लगा था। लैला बिल्कुल शांत थी। उसने उसका हाथ अपने दोनों हाथों में ले लिया। उस समय उसमें एक नर्म गरमाहट थी। उसकी भूरी आंखें और भी गहरी लग रही थीं। वह शांत भाव से सिगरेट सुलगाने लगी। उसे सिगरेट की आदत यूनिवर्सिटी के आरंभिक दिनों से ही पड़ गयी थी। इस समय वह दीवार से टेक लगाकर बैठ गयी और आंखें बंद करके बड़े सुकून के साथ सिगरेट

के कश लेने लगी। धुआं उसके भरे-भरे होठों से निकलता रहा। अबू हम्ज़ा ने रोटी का बचा टुकड़ा उठाकर दीवार पर दे मारा।

‘यह सब कुछ अविश्वसनीय है। छः फुट के भूमिगत छेद में से आलमपनाह चूहे की तरह से बाहर आते हैं, इसके बावजूद मेरे-तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं बदलता। अमीन! तुम आसमानी ताकतों पर यकीन नहीं रखते? क्या अब भी यकीन न करोगे? सदियों से क़ुदरत यह मंसूबा बना रही थी। सदियां तो उसकी जंतरी में कुछ क्षणों से ज़्यादा नहीं। यह धरती को गुनाहों के खून से सींचती चली आयी है। इसको दी गयी बद्-दुआ सच साबित हो रही है।’ अबू हम्ज़ा उठकर टहलने लगा। टहलना भी क्या, वह दो क़दम की तो कोठरी थी।

‘अबू हम्ज़ा! मुझे तुम पर हैरत होती है। इस क़दर अंधविश्वासी हो? डॉक्टर होकर भी तुम ऐसी बातों पर यकीन रखते हो। यह कुछ भी नहीं। सारी दुनिया मासूम खून से भरी हुई है। मानव इतिहास है ही यही कुछ। किस-किसने बद्-दुआ न दी होगी? और यह बद्-दुआ आख़िर होती क्या है?’ उसने झुंझलाकर कहा था।

‘मैं भी नहीं मानता था, मगर इस ज़मीन की हवाएं विलाप करती हैं और करती चली आयी हैं। यहां की ज़मीन पिघला सोना उगलती रहे, इससे कुछ नहीं होता। भुखमरी और उत्पीड़न यहां की नस्लों पर लिबास की तरह मंड दिये गये हैं। इस समय मेरी समस्या सिर्फ़ अपने हिस्से का प्रतिरोध दिखाना है, एक बेहतर मौत का चयन करके।’

‘मगर ज़रूरी नहीं, मौत ज़रूरी नहीं, हरगिज़ नहीं। जिंदा रहना ज़्यादा संभावी, ज़्यादा प्राकृतिक प्रक्रिया है।’ उसके अंदर किसी ने कहा था और वह अत्यंत लज्जित हो गया था। उसने फिर सोचा कि उसमें यह कायरता कब और किस तरह पैदा हुई। शायद यह भी पैतृक होती है।

अबू हम्ज़ा का बाप तो किसान था और लैला का बाप भूमि से तेल निकालने पर नियुक्त। ये सब श्रमिक लोग थे जो जिस्सानी बे-आरामी सहना जानते हैं, जिन्हें श्रम और उसकी पीड़ा में खुशी मिलती है। और वह स्वयं? वह स्वयं तो एक प्रोफ़ेसर का बेटा है, जिसने किताबों और शब्दों में जीवन बसर किया। वह दूसरों को जीवन का फ़लसफ़ा और यथार्थवाद सिखाता रहा, लेकिन स्वयं उनको आजमाने का मौक़ा कभी न आया और यह सब कुछ उसके खून में मिल गया। किताबें व्यक्ति को कायर बना देती हैं। फिर उसे अपने इस तर्क पर और अधिक शर्मिंदगी हुई। मेरा बाप बहुत परिष्कृत स्वभाव का था। घर में ज़रा-सी भी धूल-मिट्टी बर्दाश्त न करता था। अपने कमरे के मरमरीं फ़र्श पर नंगे पांव चलता था और उसके तलवे संगे-मरमर की तरह साफ़-शाफ़ाफ़ रहते थे। उसके कमरे की हर वस्तु शीशे की तरह साफ़-सुथरी, जगमगाती नज़र आती थी और अपने इस पावन वातावरण में भी वह शारीरिक यातना से कितना डरा हुआ रहता था। शारीरिक यातना और मौत का विचार उसे हर समय आतंकित रखता था। इसीलिए अपने बुढ़ापे में वह खुदा के ज़िक्र, फ़िक्र और इबादत में काफी समय लगाता था। मगर वह स्वयं? स्वयं उसके हिस्से में केवल शारीरिक यातना का डर और मौत का भय आया था। इसके अतिरिक्त सामने की बातों और यथार्थ के सिवा किसी धारणा, किसी धर्म-विश्वास से उसका कोई संबंध न था और यह है भी सच्चाई। उसने सोचा कि अस्तित्व केवल अपने शरीर को हर हाल में ठीक रखने का नाम है और व्यक्ति के सारे प्रयास दुख-दर्द और पीड़ा से मुक्ति के लिए हैं, और यह दुख-

दर्द शारीरिक है, केवल शारीरिक...।

मगर इस समय लैला उसके सामने थी। काले लबादे में लिपटा उसका सुंदर शरीर। वह शरीर जिसको देखने और छूने की इच्छा को नियंत्रित करने में वह बुरी तरह विफल रहा था। उसे मालूम था कि लैला का अबू हम्ज़ा से रिश्ता लगा है। यह एक और कारण था उसकी शर्मिंदगी का। उसे लगता कि उसके शरीर में लहू के बजाय शर्मिंदगियां और निदामतें दौड़ती फिरती हैं। उसी पल अबू हम्ज़ा ने कहा, 'लैला, तुम बैंक के चौराहे पर दस बजकर पांच मिनट पर पहुंचोगी। मैं और कुद्दूस मार्किट की सड़क पर ठीक उसी समय।' फिर अबू हम्ज़ा ने अपनी कमीज़ की जेब से एक छोटा-सा कैमरा निकाला।

'अमीन! जिब्रील-उल-अमीन!' उसने पुराने वक्तों की तरह बड़े दुलार से कहा, 'लो हमारी एक तस्वीर बनाओ और हमारे बाद इसे मीडिया तक पहुंचाना कि हम इस वक्त कितने खुश थे?'

फिर अबू हम्ज़ा ने लैला की कमर में अपना बाजू डाल दिया। लैला ने अपना सिर उसके कंधे पर इस तरह टिका दिया कि उन दोनों के गाल आपस में छूने लगे। उसने कैमरे के लेंस में से यह दृश्य देखा और 'क्लिक' कर दिया। फिर तीनों बहुत धीरे से उस कोठरी से बाहर निकल गये। बाहर जहां वीरानी थी। दूर सड़ांध पर कुत्ते मुंह मार रहे थे और आकाश पर विमान घड़घड़ाते थे।

अब वह ख़ाली कोठरी में दस बजकर पांच मिनट तक बैठा रहा। वह दीवार के साथ लगकर उस जगह पर बैठा, जहां लैला ने अपनी पीठ टिकायी थी। उसके सामने बुझी सिगरेटों के टुकड़े पड़े थे। थोड़ी-सी सिल्वर-ग्रे राखा। वह दस बजकर छः मिनट पर उठ खड़ा हुआ। उसने हवा में उड़ते लैला के सुंदर शरीर के टुकड़े देखे और अबू हम्ज़ा की शक्तिशाली बाहें और चौड़ा सीना झुलसे हुए लोथड़ों की सूरत में दीवारों पर जा चिपके थे। वह यातना, वह दर्द और भय जो जीवन-लीला की समाप्ति पर हर व्यक्ति को सहना है। उसे प्रोफ़ेसर अब्दुल हमीद का वह लेक्चर याद आया। पहले तो मौत की परिभाषा का झगड़ा है? मौत क्या है? वह बता रहे थे कि यह यथार्थ है, नितांत यथार्थ और इसमें कोई कहानी का शब्दजाल नहीं कि मौत ऐसे आती है, जैसे बबूल के तेज़ कांटों में बड़ा मृदुल और बारीक कपड़ा उलझ जाता है और जब उसको छुड़ाने की कोशिश की जाती है तो वह तार-तार हो जाता है। कपड़ा बाक़ी नहीं रहता, मगर बबूल बाक़ी रहेगा। उसी समय उसने वातावरण में कोई धमाका सुनने की कोशिश की। हवा में कोई बारूदी गंध सूंघने को नाक उठायी, मगर उस आवाज़ और गंध के बजाय भारी बूटों की धमक थी और वह पूरे हथियारों से लैस उसके सामने खड़ा था।

फिर उसने उसके कोमल अंग पर घुटने से 'क्लिक' मारी। वह दोहरा हो गया। आने वाले ने उसके बाजू पीठ पर जकड़ दिये। फिर अपनी भाषा में वे गालियां बर्क़ी जो उसकी कल्पना से भी परे थीं और उनके बाद कोई गाली बकना संभव ही नहीं था।

'क्या है? बाक़ी के सब कहां हैं?'

वह पल अजीबो-ग़रीब था। निश्चय ही खाल का उधड़ना, नाखूनों का उखड़ना और कोमल अंगों का कुचला जाना नितांत अनावश्यक है। निश्चय ही ताज़ा रोटी और शरीर का सुख बहुत आवश्यक है, सबसे आवश्यक है। उसने इस कैबिन में प्रवेश करते ही उन्हें बताया कि दस बजकर

पांच मिनट पर मेन मार्केट और बैंक के चौराहे पर वे दोनों गये थे। कैमरे की रील कितनी आसानी से निकल आयी थी। लैला की सुंदर आंखें और उसके नर्म-गर्म हाथों का स्पर्श उसके हाथ में जीवित हो उठा। आंसुओं की लंबी कतार बेखबरी में उसके गालों पर बह निकली जो उस बदबूदार थूक में मिल गयी, जो उसके मुंह पर थूका गया था।

उस दिन लैला नाम की सुंदर लड़की तो तत्त्वों में यूँ घुल गयी मानो थी ही नहीं, मगर अबू हम्ज़ा नीमजानी की हालत में उठा लिया गया। ऐसे अधमरे लोग तो भेद उगलवाने और तफ़्तीश के लिए सोना होते हैं सोना। और उस जैसे बेयक़ीन और अधर्मी भी।

‘जिब्रील-उल-अमीन! कितना ग़लत नाम था उसका।’ यह भी उसने सोचा, मगर यह अमानत में ख़यानत-विश्वासघात। ये भी केवल धारणाएँ हैं, जबकि शरीर और ज्ञानेंद्रियाँ और उनका आराम वास्तविकता। अब वह उनके पीछे-पीछे उस सैल में जा रहा था, जहाँ कुद्दुस के हाथ उसकी पीठ पर कुंडों से ज़ंजीर में बांधे गये थे। वह फ़र्श पर गिरा पड़ा था और शिकारी, आदमख़ोर काला कुत्ता अपनी लंबी लाल जीभ लटकाये और नुकीले दांत निकोसे, बार-बार उस पर गुर्राता और झपटता था और बार-बार उसका पट्टा खींच लिया जाता था। बराबर के सेल में अबू हम्ज़ा था। अधमरी अवस्था में उठा लाया गया था, खाल उधड़ने, अंगों के खिंचने और लगातार तीव्र शोर और आंखों में हज़ारों सूरज उतरने पर भी उसके मुंह से एक शब्द न निकला था।

‘विश्वास नहीं होता।’ भारी बूटों और हथियारों में दबे कंचों जैसी नीली आंखों और संगीन होंठों वाले ने अपनी गालियों का पूरा ज़ख़ीरा उगल दिया अबू हम्ज़ा की पसलियाँ दिखाते हुए। सीने पर नील थे और कच्चे लाल घाव, और उसकी टांगों पर घावों से पीप रिसती थी, कहीं-कहीं सफ़ेद धागे जैसे कीड़े सरसराते थे, और उसके सुंदर चेहरे पर जगह-जगल नीले गूमड़ उभरे थे, और उसके बाल उलझी हुई पटसन की सूत में उसकी आंखों पर पड़े थे, और घनी दाढ़ी और नाखून जो बढ़ना न भूले थे, जबकि उसकी उंगलियाँ शकरकंद की तरह फूली हुई थीं और उनसे पानी रिसता था।

‘तो यह है वह सरगना!’ विशेषज्ञ ने अबू हम्ज़ा को ग़ौर से देखा और फिर वह उसकी ओर मुड़ा, ‘तुम इसको जानते हो?’

‘इसी ने तो हमें बताया था कि यह कहाँ होगा।’

अबू हम्ज़ा ने अपने शकरकंदी हाथों से आंखों पर पड़े बालों की पटसन हटायी और उसकी ओर देखा। उसकी आंखों में, चेहरे पर कोई शिकायत, कोई हैरत न थी, न ही नफ़रत।

सब कुछ जानने के बाद विशेषज्ञ कोने में पड़ी कुर्सी पर विराजमान हुआ, अन्य चारों भी उसके पास बैठ गये और वह कोने में खड़ा रहा, जबकि अबू हम्ज़ा बराबर उसको देख रहा था।

विशेषज्ञ की बात टुकड़े-टुकड़े उस तक पहुंच रही थी। वह अन्यों को बता रहा था कि तफ़्तीश और राज़ उगलवाने से पहले इन लोगों को कंडीशन करना आवश्यक है, और इसमें उनकी आदमीयत ही सबसे बड़ी रुकावट है। वास्तव में आदमी में स्वयं आदमीयत ही सबसे बड़ा फ़साद है और इस नस्ल में तो विशेषतः। जब तक तुम इनको यक़ीन न दिलाओगे कि वे आदमी ही नहीं हैं, वे तुम्हारे किसी काम के नहीं। कल सुबह साढ़े नौ बजे बैरकों के बाहर अहाते में पंडाल लगाओ। अभी तुम्हें बहुत कुछ सीखना होगा। विशेषज्ञ सीटी बजाता हुआ बाहर निकल गया।

तो फिर वह पंडाल पूरे साढ़े-नौ बजे ही लगा। बैरकों की सारी भीड़ वहां जमा की गयी। इतने सारे लोग! वह हैरान रह गया। वे जो महीनों से लापता थे, वे जो मरे हुआं में गिने जाते थे। उसने गौर से सबको देखना चाहा। शायद ये सब मुर्दा लोगों का जमावड़ा था। तभी तो इतने सारे सांस लेने वालों की उपस्थिति के बावजूद वहां खामोशी थी—सन्नाटा। उसके सिवा कुछ नहीं। फिर एक नक्क़ारा बजा...डम डम डम। फिर उसके पीछे एक बिगुल, जिसके साथ ही बड़ा लोहे का दरवाज़ा खुला और उसमें से वह दृश्य, पूरा का पूरा चलता हुआ सामने पंडाल में आ गया। वह स्त्री...सिपाहिनी, फ़ौजी वर्दी पहने हुए, पेट की ऊपर उसका सीना बाहर को उबला पड़ता था और फ़ौजी टोपी के गिर्द भूरे बाल झांक रहे थे। उसके हाथ में एक मोटा पट्टा था और पट्टा एक हिलते हुए अस्तित्व के गले में था। अस्तित्व पता नहीं कौन था—आदमी या पत्थर, मालूम नहीं। मगर वह चार हाथ-पांव पर चलता था। कुत्ते से बड़ा शरीर, बिल्कुल नंगा। उसकी नग्नता चौपाये की तरह जग-जाहिर थी और उसका हड्डियों-भरा ढांचा चौपायों की तरह चारों हाथ-पांव पर चल रहा था, जबकि उसका मुंह थूथनी की तरह सामने उठा था और झाड़ू दाढ़ी लटकती थी (क्या कुत्तों के दाढ़ी होती है, उसने याद करना चाहा)। फ़ौजन ज़ोर-ज़ोर से पट्टे के झटका मारती थी और चौपाये की गर्दन घूम-घूम जाती थी। फिर वह एक ज़ोरदार टुड्डा अपने एड़ीदार फ़ौजी बूटों का उसके पिछले धड़ पर मारती और विजय-उल्लास की दृष्टि मजमे की ओर डालकर दूसरा हाथ लहराती।

अब विशेषज्ञ अफ़सरों की पंक्ति से निकलकर बाहर आया। उसने फ़ौजन की ओर हाथ की दो उंगलियों से 'वी' का निशान बनाया और नारा लगाया—'बरावो! जारी रखो।'

फ़ौजन अपनी प्रशंसा पर और भी मुस्तैद हो गयी। फिर विशेषज्ञ ने सबकी ओर गर्व से देखा और पुकारा, और वह जिसके गले में पट्टा था, उसकी ओर इशारा किया। फिर अपना भारी बूट उसकी थूथनी पर रसीद किया—'सग, सग-कल्ब, कल्ब-भौं भौं।' और आधा हंसा—जबकि आधा शांत रहा। फिर विशेषज्ञ ने इशारा किया और बहुत से फोटोग्राफ़र दौड़े-दौड़े आये। हर तरह से कैमरों से लदे-फदे। फिर दो फ़ौजी बीच मैदान में आये और उन्होंने अपनी पैंटों की जिपें खोलीं और उस चौपाये पर अपना मूत्राशय खाली करने लगे और वह चौपाया उस बदबूदार द्रव्य के नीचे चारों हाथ-पांव पर खड़ा तिलमिलाने लगा, अपना सिर, मुंह, आंखें बचाने के लिए।

'हे, हे।' फ़ौजन ने उसका पट्टा खींचा। और कमाल है, उस स्त्री जाति में इतना ज़ोर, इतनी शक्ति थी। अब अबू हम्ज़ा चारों हाथ-पांव पर ढेर हो गया। उसके गले से एक अमानवीय चीख निकली और कैमरे तेज़ी से चलते गये—

'क्लक'...'क्लक'।

इतने में फिर ढोल पिटा और मजमा छंट गया। दम-भर में सब बैरकों में ग़ायब हो गये और खाली पंडाल में बस वह चौपाया ज़मीन पर पड़ा था और फ़ौजन उसके गले का पट्टा खींचती थी और हर झटके पर उसके गले से एक अमानवीय चीख निकलती थी।

ufjfh:ikarj%vtcfankjk

कुमकुम बहुत आराम से है जाहिदा हिना

मेरी दुलारी दादी मां, नमस्कार।

कई सप्ताह बाद आज जब मैं काबुल वापस पहुंची तो डाक मिली। घर से आपके इलावा भी कई चिट्ठियां आयी हैं। माताजी और भैया की, उमा दीदी और सुष्मिता की। पर सबसे प्यारा आपका पत्र है, जिसमें आपने इतने दिनों से चिट्ठी न लिखने पर मुझे कोने में मुंह देकर खड़ा कर देने, कान मरोड़ने और मुर्गा बना देने की धमकियां दी हैं। आपकी यह सारी डांट-फटकार पढ़कर मुझे लगा जैसे मैं छोटी-सी हो गयी हूं और आपकी गोद में चढ़ी बैठी हूं। आप अपनी झूला कुर्सी में हिल रही हैं और आपके साथ मैं भी झूल रही हूं। आप मुझे कहानियां सुना रही हैं। बराबर में रखी हुई तिपाई पर सफ़ेद चीनी का बड़ा-सा प्याला धरा है, जिसका किनारा आपकी आबे-रवां की साड़ी के किनारे जैसा नीला है। प्याले में से आप अख़रोट, किशमिश या बादाम का दाना उठाकर मेरे मुंह में रख देती हैं और फिर मुझे अपने बीते जन्मों की कहानियां सुनाने लगती हैं। और एक तो बिल्कुल सचमुच का किस्सा था। आपके बचपन की कहानी जो काबुल के बंजारे रहमत की थी। पहली बार उसे देखकर आप डर गयी थीं और समझी थीं कि उसकी झोली में छोटे-छोटे बच्चे भरे हुए हैं। फिर आपकी उससे दोस्ती हो गयी थी। वह आपकी बातें सुनता और आपका छोटा-सा आंचल बादाम, किशमिश और अख़रोट से भर देता। एक दिन उसने आपसे कहा था कि उसकी छोटी-सी झोली में बड़ा-सा हाथी है। आपने बताया था कि जिस दिन रहमत बाबा आठ बरस की जेल काटकर आया, उसी दिन आपके फेरे होने वाले थे। उसका किस्सा जब आपने मुझे पहली बार सुनाया और आपकी आंखों में आंसू आये, तब मैंने जाना था कि बड़े भी बच्चों की तरह रो सकते हैं। आपने बताया था कि रहमत बाबा की भी आपके बराबर की एक बेटि थी जो काबुल में रहती थी। उसके पास उसका फोटो उतरवाने के लिए पैसे न थे। या शायद उन दिनों फोटोग्राफ़र काबुल में न पाये जाते हों, तो उसने अपनी बेटि के हाथ का रंगीन छपा एक कागज़ पर ले लिया था और कागज़ को सीने से लगाये फिरता था।

इन दिनों जब दर्द से चीखते हुए रक्तरंजित घायल, या दम तोड़ते हुए लोग मेरे पास लाये जाते हैं तो मैं सोचती हूं कि अब से सत्तर बरस पहले अगर आपने रहमत बाबा की झोली के बादाम और पिस्ते न खाये होते, अगर मेरे बड़े नानाजी ने उसकी कहानी न लिखी होती तो क्या मैं यहाँ काबुल, कंधार में, हिरात या हिलमंद में होती? शायद नहीं। कदापि नहीं। पिछले अक्टूबर के वे दिन मुझे भली-भाँति याद हैं, जब काबुल पर अमरीकी विमानों ने बम गिराने शुरू किये

थे और टेलीविज़न पर वह बमबारी दिखायी जाने लगी थी। आपने अपनी झूला कुर्सी बरामदे से उठवाकर लाउंज में रखवा ली थी और सारे समय टेलीविज़न के सामने बैठी रहती थीं।

अमरीकी बमबारी के विरोध में कोलकाता की सड़कों पर लाखों लोगों का जुलूस निकला तो मैं भी उसमें गयी थी। टेलीविज़न पर मेरी एक झलक देखकर आप बहुत प्रसन्न हुई थीं और प्रदर्शन में न जाने पर आपने भैया और सुष्मिता पर कटाक्ष किये थे। फिर जब रिलीफ़ वर्क के लिए काबुल में इंदिरा गांधी इंस्टीट्यूट ऑफ़ चाइल्ड हैल्थ की ओर से डॉक्टरों की मांग आयी और मैंने वालंटियर किया तो केवल आप थीं जिन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया, वर्ना घर में तो सभी नाराज़ हुए थे। क्रोध से माताजी का बुरा हाल था, 'भला चलता हुआ अस्पताल छोड़कर यूँ मौत के कुंए में कूद जाना किस वेद में, किस गीता में आया है?' और आपकी खुशी देखकर उन्होंने कहा था, 'तुम्हारी दादी मां तो सठिया गयी हैं, लेकिन तुम्हें क्या हुआ है जो इस मारा-मारी में जा रही हो?'

मैं जानती हूँ कि काबुल आपको बिन देखे भी अच्छा लगता है। आपने मुझे बताया है कि बचपन में आपने रहमत बाबा की बेटी को अपनी अनदेखी गोइयां बना लिया था। कल्पना में उसकी गुड़िया से अपने गुड्डे का ब्याह रचाती थीं। गुड्डा आपका और गुड़िया उसकी। यूँ गुड़िया ब्याह कर काबुल से कलकत्ता चली आती थी। बड़े नानाजी कहानियां लिखते थे और आप उनकी इकलौती चहेती बेटी थीं। आपने अगर अपना अकेला जीवन कहानियों से सजाया तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? लेकिन बड़ी नानीजी ने जब आपसे ये बातें सुनी थीं तो नाराज़ हो गयी थीं। भला हिंदू गुड्डे से मुसलमान गुड़िया का ब्याह कैसे हो सकता है? फरे पड़ेंगे या निकाह होगा? बड़े नानाजी ने यह बात सुनी थी तो क्रुद्ध हो उठे थे। 'तुम स्त्रियों को फ़साद फैलाने के सिवा भी कुछ आता है? कम से कम गुड्डे-गुड़िया को तो दीन-धरम के चक्कर में मत डालो।' उन्होंने माथे पर बल डालकर कहा था और बड़ी नानीजी बड़बड़ाती हुई चली गयी थीं। आपने यह सारी बात मुझे हंस-हंसकर सुनायी थी, 'पिताजी का दिल बहुत बड़ा था, उसमें ईश्वर-अल्लाह, हिंदू-मुसलमान सब रहते थे।' आपने बड़े नानाजी को याद करते हुए कहा था और जब मैंने मेडिकल कॉलेज में पहली बार हाई डिसेक्शन किया तो उसमें अनायास अल्लाह, ईश्वर, हिंदू, मुसलमान को ढूँढा था, लेकिन वहाँ तो बस मसल्ज, वीन्ज और आट्रीज थीं।

जब मैं काबुल के लिए चली हूँ तो आप प्रार्थना के लिए बिरला मंदिर गयीं, फिर आप नाखुदा मस्जिद भी हो आयीं। घर में जब डाइवर ने यह बताया तो सब अचरज में रह गये थे। 'यह मस्जिद जाने की क्या तुक थी?' माताजी ने झुंझलाकर कहा था। 'अरे मुझे विचार आया कि यह मुसलमानों के मुल्क जा रही है, तो इसकी रक्षा के लिए मस्जिद हो आऊँ। अल्लाह से कह आऊँ कि मेरी पोती का ध्यान रखयो।'

मैं घर से चली हूँ तो आपने मेरे हाथों को प्यार करते हुए कहा था, 'इनसे सारे घाव सी देना।' लेकिन दादी मां, मैं यहाँ घाव सीते-सीते थक गयी, पर घायल समाप्त नहीं होते।

मैंने इन महीनों में आपको या किसी को भी कोई चिट्ठी नहीं भेजी तो इसलिए कि हमें तो दो कौर खाने और नींद लेने की भी फुर्सत नहीं थी। हिंदुस्तानी, जर्मन और जापानी डॉक्टरों की हमारी टीम नगर-नगर फिरती रही है। हम सुबह से शाम तक, और रात को जनरेटों के प्रकाश

में बच्चों, महिलाओं और पुरुषों के बदन से कलस्टर बम के टुकड़े चुनते रहे, बारूदी सुरंगों से उड़ जाने वाले हाथों और पैरों के घाव सीते रहे। रक्त की बू मेरे अंदर बस गयी है।

एक समय था दादी मां, कि बामयान और बलख तक हमारे अशोक और कनिष्क का राज था। लेकिन धरती पर कब किसी एक राजा का राज रहा है। अरब आये, तुर्क आये, चंगेज़ खां की फ़ौजें आयीं। उसने अपने पोते को बामयान की विजय के लिए भेजा, लेकिन वह लड़का लड़ाई में काम आया। चहीते पोते की मृत्यु चंगेज़ खां के लिए इतना बड़ा आघात थी कि उसने बामयान की घाटी में किसी एक जानदार को भी जीता न छोड़ने की सौगंध खायी। अतः कोई पुरुष, महिला, बच्चा जीता न छोड़ा गया। हद तो यह है कि मांओं के पेट चीरकर उनके बच्चे निकाले गये और टुकड़े कर दिये गये। बामयान की गलियों में फिरने वाले कुत्ते, बल्लियां तक जीवित नहीं छोड़े गये और उसकी हवाओं में उड़ने वाले पक्षी भी तीरों से छेद दिये गये।

चंगेज़ खां और उस जैसे दूसरे बादशाहों, राजों, महाराजों का गुस्सा उन शहरों पर उतरा था जो उनके रास्ते में आते थे और उनकी फ़ौजों के विरुद्ध हथियार उठाते थे, लेकिन दादी मां! अमरीका का गुस्सा तो कंधार से कंदोज़ और ख़ोस्त से क़िला-ए-जंगी तक फैला हुआ है। उसके लड़ाकू विमान तोरा-बोरा और तालक़ान पर बमबारी करते हैं। यहां की धरती में बारूदी सुरंगें यूं बोयी गयी हैं, जैसे खेत में बीज छिड़क दिये गये हों-मौत के बीज। बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी उनका भोजन बनते रहते हैं। जिनके टुकड़े उड़ गये, उन्हें लोग भाग्यशाली समझते हैं, वर्ना यहां किसी का एक हाथ नहीं और कोई दोनों हाथ खो बैठा है। किसी की टांगें नहीं रहीं। मैंने वे भी देखे, जिनके दोनों हाथ और दोनों पैर गायब हैं। यूं जानें तो जीता-जागता व्यक्ति मांस का एक लोथड़ा बन गया है, जिसे भूख लगती है, जो सोच सकता है और पल-पल अपने होने का दुख भोगता है।

आपको याद होगा कि मुझे बरसात से कैसा इश्क़ था। जहां छीटा पड़ा और मैं बावली हुई। माताजी से कैसी झिड़कियां सुनती थी। वश में नहीं था कि बारिश के साथ मैं भी नदी-नालों और दरिया में चल निकलूं।

पर मैं जब यहां आयी तो वर्षा से डर लगने लगा। यहां के बच्चे वर्षा में नहा नहीं सकते, कागज़ की नाव बनाकर पानी में चला नहीं सकते, इसलिए कि वर्षा का पानी बारूदी सुरंगों का स्थान बदल देता है। वह स्थान जो पहले सुरक्षित था, वहां बारूद बिछ जाती है।

आपने मुझे बंगाल की भुखमरी के कैसे भयानक किस्से सुनाये हैं। ऐसा अकाल कि जब माताओं ने दो निवाले भात के लिए अपने बच्चे बेच दिये थे। बड़े नानाजी के सन्दूक के सामान को धूप दिखाते हुए एक बार आपने इस अकाल से मरने वालों के चित्र मुझे दिखाये थे। फुटपाथ पर मरते हुए बच्चों, महिलाओं और पुरुषों के चित्र। यूं जैसे श्मशान घाट में शव अंतिम संस्कार के लिए अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहे हों। यहां भी दादी मां, भूख का राज है। मैंने एक नगर से दूसरे नगर जाते हुए ऐसे हज़ारों बच्चे और स्त्रियां देखीं, जिन्होंने सैकड़ों मील की यात्रा की और फिर रिलीफ़ कैंपों से चंद मील की दूरी पर गिर गयीं। उनमें कुछ कदम चलने की भी शक्ति नहीं थी। बच्चे अपनी हैरान आंखों से और स्त्रियां अपने फटे हुए चीकट नीले बुकों की जालियों से नीले आकाश को तकती थीं-इस प्रतीक्षा में कि मौत आये और अपने साथ भूख,

बीमारी और थकन से निजात का नुस्खा लाये। यहां स्त्रियों के साथ जो कुछ हुआ और जो कुछ हो रहा है, वह आपको लिखने बैठूं तो जिस कागज़ पर लिखूंगी, वह जल जायेगा।

मैंने जब कई तालिबान लड़कों की मरहम-पट्टी की, कुछ का आप्रेशन किया तो उन्हें ध्यान से देखती रही, जिनके सिरों पर बचपन में किसी घर की छत न हो, जिन्हें अपनी गोद में बिठाकर कलेजे से लगाने वालियां और लगाने वाले न हों, जिन्हें किसी ने चुपके से मुट्ठी-भर बादाम और किशमिश न दिये हों, जिन्हें किसी दादी या नानी ने कहानियां न सुनायी हों, बड़े होकर उनके मन में मिठास और दिलों में दुख समझने की भावना कैसे पैदा होगी? दुनिया तालिबान को बुरा-भला कहती है। मैं भी यहां आयी तो उनके लिए मेरे मन में क्रोध और घृणा थी, लेकिन यहां रहकर वे मेरी समझ में आ गये। किसी दरिद्र और बंजर देश के बच्चों से जब उनका बचपन छिन जाये, जिन्हें बड़ी बहनों ने उंगली थाम कर सहज-सहज चलाया न हो, उनसे आंख-मिचौली न खेली हो, फिर वहां तालिबान ही उठते हैं और घृणा करते हैं स्त्रियों के नाम से।

इन दिनों मैं जहां जी रही हूं वह अमरीका का वार थियेटर है। चंगेज़ खां का लश्कर बाम चान का जन-बच्चा कोल्हू पिलवा कर आगे बढ़ गया था, लेकिन आज के चंगेज़ कहीं नहीं जाते। वे ड्रेक्यूला की तरह राष्ट्रों की गर्दन में अपने दांत उतार देते हैं और रक्त चूसते रहते हैं। अपने विमानों से मौत और मक्खन की टिकियां, बिस्कुट के पैकेट और बारूदी सुरंगें एक साथ फेंकते हैं।

एक बार बड़े नानाजी के संदूक का सामान, उनकी डायरियां, उनके चिट्ठी-पत्र और चित्र जब आप धूप दिखाकर वापस रख रही थीं तो आपने मुझे वह मैला-सा कागज़ दिखाया था, जो आपके ब्याह के दिन रहमत बाबा की झोली से गिर गया था। बड़े नानाजी ने वह संभालकर रख लिया था कि रहमत अगर कभी आया तो उसे देंगे, लेकिन वह फिर कभी नहीं आया और उसकी बेटी के छोटे से हाथ का रंगीन छपा आज भी बड़े नानाजी के संदूक में रखा हुआ है।

काबुल की गलियों में दादी मां, मुझे आपके बचपन का हीरो तो क्या मिलता, उसकी बेटी, उसकी नाती-पोतियां भी नहीं मिलीं। मिलतीं भी तो कैसे? वे सब घर की काल कोठरियों में ख़ाक हो गयीं। उसकी किसी पड़पोती, किसी पड़नवासी की शायद हथेलियां भी न हों, जिनके रंगीन छापे उनके चाहने वाले बाप, अपने कलेजे से लगाकर फिरें। मैंने उन लड़कियों की कलाइयों के घाव सिये हैं। यहां हज़ारों लड़कियां ऐसी हैं, जिनकी हथेलियों के लिए अब कभी ईद और शबे-बरात नहीं आयेगी।

यहां जब मैं बारूदी सुरंगों से उड़ी हुई हथेलियां देखती हूं, उनके घाव सीती हूं तो छिप-छिपकर रोती हूं। हमने तो अंग्रेज़ों को अपने देश से निकाल दिया था, अब दुबारा उनके भाई-बंदे हमारे आस-पड़ोस में कहां से आ बैठे? हमारे अंगूठों, हथेलियों, पैरों और सिरों की भेंट कब तक उनकी चौखट पर चढ़ती रहेगी?

फिर दादी मां, एक रात मुझ पर विचित्र गुज़री। हम बामयान और शबरगान से होते हुए दशते-लैला में कैप डाले हुए थे। दशते-लैला को यूँ समझें दादी मां, जैसे हमारे राजपूताने के रेतीले मैदानों की कोई छोटी-सी बस्ती। कच्चे घरों की इस छोटी-सी बस्ती पर भी बमबारी हुई थी। लोगों के पास न खाने को कुछ, न सिर छुपाने को। हम एक दिन के लिए वहां कुछ घायलों की देखभाल

के लिए रुके थे। शाम हुई और काम समाप्त हुआ तो मैं थकन से निहाल अपने खेमे में पहुंची और बिस्तर पर लेटते ही सो गयी। अचानक किसी आहट से मेरी आंख खुली तो खेमे में अंधेरा था। यूँ लगा कि जैसे कोई जानवर खेमे को अपने नाखूनों से खुरच रहा हो। मैं कुछ सोचे-समझे बिना, हड़बड़ाकर अपने खेमे से बाहर आगयी। आकाश पर माघ का कुछ नीली-हरी रंगत लिये हुए चांद, धरती पर दशते-लैला की रेत, कुछ दूरी पर सामूहिक क़ब्रें, और मेरी दृष्टि के सामने मेरे खेमे से टेक लगाये हुए रेत पर एक लड़का। कमीज़ पर खून के सूखे और ताज़ा धब्बे, आंखों में डर और आतंक, सारे शरीर से कांपता हुआ। वह किसी अमरीकी गोली का शिकार हुआ था, और अब गिरता-पड़ता, छिपता-छिपाता, हमारे कैम्प तक पहुंचा था। जाने कब घायल हुआ था। यह सोचकर ही मेरा अंग अकड़ने लगे कि शायद वह अब भी हथियारबंद हो। मेरे मन में पहला विचार किसी गार्ड को आवाज़ देने का आया। लेकिन फिर दादी मां, ऐसी अनहोनी हुई कि उसे लिखते हुए इस समय भी मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं। आन की आन में उस लड़के का चेहरा कुछ से कुछ हो गया। उसने पैरों के पास पड़ी हुई झोली से कुछ निकाला और मेरी तरफ बढ़ाया। मैंने उसके हाथ की ओर देखा। उसमें बादाम, किशमिश और अख़रोट थे। वह आपको आवाज़ दे रहा था। मैंने घबराकर उसके मुंह पर दृष्टि डाली। ईश्वर की सौगंध, माघ के चंद्रमा के प्रकाश में वहां रहमत बाबा था। उसकी कमीज़ पर खून के धब्बे थे। बड़े नानाजी ने लिखा था कि वह माघ के महीने में घर लौट जाता था। मेरी आंखों में आंसू आ गये। आपके बचपन को, बड़े नानाजी की कहानी को मैं गिरफ़्तार कैसे कराती? मैं उसे अपने खेमे में ले आयी। दादी मां, उस रात मैंने मौत को अपनी आंखों से देखा, अपने हाथों से छुआ। उस रात मैंने जाना कि गोली दोस्त की हंसली में लगी हो या दुश्मन की पसली में, उसे निकालना मेरी नियति है। उस रात उस लड़के के घाव सीते हुए मैं न उसकी सुन सकी न अपनी कह सकी, इसलिए दादी मां, कि हम दोनों एक दूसरे की भाषा नहीं जानते थे। उस समय मुझे आपका ख्याल आता रहा और उन लोगों के किस्से याद आते रहे जो आपने सुनाये थे। टीपू, सिराजुद्दौला, बाबू कुंवर सिंह, लक्ष्मीबाई, हज़रत महल...

उस रात जब पौ फटने वाली थी, मैंने उसे एक थैले में कुछ दवाएं, खाने के डिब्बे और कंबल दिया और जाने का इशारा किया। वह मुझे देखता रहा, फिर लड़खड़ाता हुआ उठा। वह थैला और कंबल कंधे पर डाल रहा था कि मुझे कुछ याद आया। मैंने सिरहाने पड़े हुए पर्स से कुछ पैसे निकाले। उसने सिर हिलाकर लेने से इंकार किया। उसकी आंखों में आंसू थे। मैंने दादी मां, नोट उसके हाथ में रखकर मुट्ठी बंद कर दी। वह कुछ क्षणों तक मुझे देखता रहा। फिर उसने वही हाथ माथे पर ले जाकर मुझे सलाम किया, थैला और कंबल कंधे पर डाला और खेमे से निकल गया। मैं उसे जाते हुए देखती रही—कोहरे और चांदनी के गुबार में लिपटा हुआ अकेला वजूद। कुछ क़दम चलकर वह पलटा और मेरी तरफ़ देखा। वे हारे हुए क़बीले की आंखें थीं। फिर उन सब आंखों ने मेरी ओर से मुंह फेर लिया और चलती चली गयीं। एकाकीपन और इतिहास की अंधी गुफाओं की ओर। तराई के जंगलों और दशते-लैला में फैली हुई गुमनाम क़ब्रों की ओर। उस क्षण समय मुझ पर से सन-सन गुज़रता गया। मेरी आयु पंख लगाकर उड़ गयी। अब मैं हज़ार वर्ष की हूँ, शायद दो हज़ार वर्ष की। आप भाग्यशाली हैं दादी मां, कि आपने इतिहास

से परास्त हो जाने वालों का किस्सा पढ़ा है, उनकी आंखों में उतरा हुआ तन्हाई का ज़हर नहीं देखा।

रहमत काबुलीवाला आपके बचपन की सुंदर सुहानी याद था, लेकिन उस रात वह आपकी कुमकुम को दर्द का दुशाला उढ़ा गया। अच्छा हुआ कि बड़े नानाजी गुजर गये। वे इस समय में होते तो प्रताप सिंह और कंचन माला की कहानी लिखने के बजाय धरती के घाव लिखते, उन खोयी हुई हथेलियों का किस्सा लिखते, जिन पर अब कभी मेंहदी नहीं लगेगी।

यहां कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा है। जनरेटर से होने वाली गर्मी के बावजूद मेरे अंदर टंडक-सी फैल रही है। और क्या लिखूं, सब कुछ तो मैंने आपको लिख दिया है। माताजी को या घर में किसी और को कुछ मत बताइयेगा। यही कहियेगा कि काबुल में कुमकुम बहुत आराम से है।

—आपकी कुमकुम

हिंदी रूपांतर : अर्जुमंद आरा

भाई जी*

अनुज

उसने रुंधे हुए गले से बताया, “भाई जी बहुत बीमार हैं।”

“क्या हुआ?”

“बीमारी का तो पता नहीं, लेकिन लगता नहीं है कि बचेंगे।”

“डॉक्टर क्या कहता है? किसी बड़े डॉक्टर को नहीं दिखाया क्या?”

इतना सुनना था कि उसकी भृकुटि तन गयी।

नाराज़ होते हुए बोला, “बाप मर गईलें अन्हरिया में, बेटा के नाम भेपर लाइट। आप भी अजब बात करते हैं भाई! अरे, छोटा डॉक्टर के लिए तो बड़ा मुश्किल से चंदा-वंदा करके पैसा जुटाया गया था और आप कह रहे हैं—बड़ा डॉक्टर....हूँ....! अरे, जाकर देख आइए। अब दो-चार दिन चल जायें, वही बहुत है।”

“तकलीफ क्या है? बताते हैं कुछ?” मैंने पूछा।

“अरे बतायेंगे क्या? अकड़म-बकड़म बोलते रहते हैं। कभी तो ठीक रहते हैं, पर कभी अचानक ही बउरा जाते हैं। लगते हैं बिलबिलाने। कहते हैं कि सैकड़ों लोग एक साथ मिलकर उनको कोड़ा मार रहा है और बुढ़िया ठहाका लगाकर हंस रही है। पता नहीं क्या-क्या बोलते रहते हैं। बइठे-बइठे चिल्लाने लगते हैं और कहने लगते हैं कि गरम तेल में उनको खउलाया जा रहा है और सब लोग कढ़ाई के चारों तरफ खड़ा होकर उनको बड़ा-सा आरी से चीर रहा है।”

थोड़ी देर दम भरकर फिर बोला, “अंतिम समय में पगला भी गये हैं। हमको तो ई लगता है भाई, कि बच्चा में हमलोगों को जिस यमलोक वाले कलेंडर को दिखा-दिखा के डराया करते थे, अब वही सब फोटो उनके दिमाग में घूमता रहता है, और उसी को देख-देख के खुद ही डरते रहते हैं।”

उसने बीमारी का खुलासा किया।

“ये कैसी बीमारी है? डॉक्टर क्या कहता है?” उसकी बातें मुझे अजीब लगी थीं।

“दवाई तो चल ही रही है।”

“तो फायदा नहीं है?”

उसने एक आह-भरी खीझ से कहा, “क्या कहें भाई, हम तो साफ-साफ बोल दिये हैं कि जिस राम जी के लिए लाठी भांजते-भांजते जिंदगी खतम कर लिये, अब उसी का नाम जपना शुरू कर दीजिए।”

* ‘नया पथ’ में युवा कहानीकार अनुज की यह पहली कहानी है। कहानी के केंद्र में एक हिंदुत्ववादी चरित्र है, जो वाचक के लिए सम्मान का पात्र रहा है और है, लेकिन उसके काम-काज को याद करते हुए साझा सामाजिक-सांस्कृतिक बनावट की जड़ें हिलानेवाली कोशिशों को यह कहानी बहुत बारीकी से सामने लाती है। -सं.

फिर सांस छोड़ते हुए बोला, “क्या करें, मन खीझता है तो मुंह से अपशब्द भी निकलता है।”
“क्या कोई इलाज नहीं है?” मैंने विस्मय से पूछा। इस बात का उसने कोई जवाब नहीं दिया।

मैंने फिर से सवाल किया, “दिल्ली-विल्ली नहीं ले गये थे क्या? आजकल तो उन्हीं लोगों की सरकार है। सारा इंतज़ाम करते वे सब।”

यह सुनकर वह पूरे ताव में आ गया और गुस्साते हुए बोला, “ई दिल्ली वाला सब ठीक होता तो यही दुर्गति होता उनका? आप भी बड़ा-बड़ा शहर में रहकर हवाई ही हो गये हैं भाई! कौन पूछता है? आपको बहुत याद करते हैं। जाइए थोड़ा देख आइए।”

“अभी कहां पर हैं?” मैं भाई जी को देखने के लिए उतावला हो उठा था।

“कहां रहेंगे? मंदिरवे में रहते हैं।” उसने सूनी आंखों से आसमान को घूरते हुए कहा।

फिर कुछ थम कर बोला, “जब दिमाग ठीक रहता है तब आज भी हमलोगों को उसी तरह से समझते हैं। बीस साल पहले वाला बच्चा। इतना मन कचोटता रहता है भाई, पूछिए मत। देखा नहीं जाता। क्या आदमी था और क्या हो गया।”

थोड़ी देर शांति बनी रही, फिर वह बोला, “बुढ़िया का श्राप लग गया भाई!”

मैंने महसूस किया कि बोलते हुए उसका गला भर आया है और अब वह आगे बोलने की स्थिति में नहीं था।

मैंने उसके कंधे पर हाथ रखते हुए उसका ढाढ़स बंधाया, “जिंदगी में सुख-दुःख आते रहते हैं भाई, समय एक-सा नहीं रहता। आज बुरा है तो कल फिर अच्छा होगा। बीमारी है, ठीक हो जायेगी...।”

मेरे दर्शन का उस पर कोई असर होता नहीं दिखा। इन बातों के लिए उसके पास वक्त ही कहां था! वह जा चुका था।

उन दिनों पूरे इलाके में भाई जी की बड़ी प्रतिष्ठा हुआ करती थी। बूढ़े से लेकर बच्चे तक हम सभी उन्हें भाई जी ही कहा करते थे। हम लोग ज्ञान के स्तर पर उतना ही जानते थे, जितना हमें भाई जी बताते थे। वे हम सबके पथ-प्रदर्शक थे। कुड़वा मंदिर के साथ ही एक बड़ा-सा मैदान होता था, जिसे हम सभी महाराजा फील्ड कहते थे। क्यों, मालूम नहीं। कई बार हम बहुत सारे ऐसे काम भी करते हैं, जिसका कारण नहीं जानते। कुड़वा मंदिर छोटा ही था, लेकिन उसका चबूतरा बहुत बड़ा था। भाई जी की मंडली वहीं जुटती थी। हम सभी इसे पवित्र स्थान कहते थे। भाई जी इसी चबूतरे पर पालथी मारकर अपना आसन लगाते थे। फिर शुरू होता भाई जी का प्रवचन। दुनिया-भर की बातें। हमलोग इतने छोटे थे कि उनकी बातें समझ में भी कम ही आती थीं, लेकिन हम सभी उन्हें सुनते बड़ी गौर से थे। भाई जी का नशा हम सब पर छाया रहता था। वही सच था जो भाई जी ने कहा था, बाकी सब कुछ झूठ होता था। धीरे-धीरे भाई जी ही हमारे जीने के तौर-तरीके भी तय करने लगे थे।

हम सब बच्चे सुबह-सुबह बिस्तर छोड़ देते और जल्दी-जल्दी हाथ-मुंह धोकर पड़ोस के साथी को उठाने चले जाते थे। प्रत्येक की जिम्मेवारी होती थी अपने-अपने पड़ोस के बच्चों को साथ लाना। हम सभी एक-दूसरे को घर-घर जाकर बटोरते और समेटकर पहुंच जाते थे कुड़वा

मंदिर के पवित्र-स्थान में, जहां भाई जी हम सब को समेट लेते थे। यह देख सभी चकित थे कि जो बच्चे नौ बजे से पहले बिस्तर छोड़ने का नाम नहीं लेते थे, और अगर पिटाई का भय न हो तो दिन-भर ही पड़े रहें, अचानक सुबह-सुबह कैसे दौड़ने-भागने लगे थे! पौ फटती नहीं कि अपनी-अपनी निकर-बनियान पहन, नंगे पांव ओस से भींगी दूब पर अपनी-अपनी लाठी संभाले दौड़ पड़ते थे। इस नयी जीवन-पद्धति से बाबू जी बहुत खुश रहते थे। 'अब बेटे का जीवन संवर जायेगा' का ख्याल बाबूजी को पुलकित कर देता था। बाबू जी की इस खुशी का अनुमान लगा दादा जी मुस्कराते रहते थे। वे बाबू जी से कहते, "संगत से गुण होत है...।"

हम बच्चों के लिए यह सब एक खेल जैसा होता था। ओस से भींगी हुई दूब पर पांव टिठुरते रहते और टंडी-टंडी हवा नथुनों में कुहासा भरती रहती थी। हम सभी खाकी रंग की निकर, सफ़ेद बनियान में होते। सभी बच्चों के हाथों में एक-एक डंडा होता था। डंडे का आकार-प्रकार बच्चों के आकार-प्रकार पर निर्भर करता था। डंडे का प्रयोग कब और कहां करना है, यह तय करना भाई जी का काम होता था।

भाई जी प्रायः कहा करते थे, "दंड आपकी और आपके परिवार की सुरक्षा के लिए है।"

वे इस बात पर हमेशा ही बल देते थे और कहा करते थे कि "लाठी भांजने का हुनर ऐसा आना चाहिए कि चापड़, चाकू, छुरी और छुरा जैसे हथियारों से निपटा जा सके।"

भाई जी कहते थे, "हर आदमी को अपने-अपने घरों में कम-से-कम एक भाला या त्रिशूल अवश्य ही रखना चाहिए।"

हम सब का जोर शुचिता, संस्कार, अनुशासन और सुसंस्कृत भाषा पर रहता था। भाई जी हम सबको 'आप' कहकर ही संबोधित किया करते थे और हमें भी आपस में 'आप' संबोधन करने की सीख दिया करते थे।

सबसे पहले प्रार्थना होती। हम सभी बच्चे ध्यानमग्न हो ध्वज को प्रणाम करते हुए बोलते, "नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे।" फिर ध्वज के सामने खड़े होकर प्रार्थना गाते। भाई जी आगे-आगे गाते, फिर हम सब पीछे-पीछे कोरस में गाते, "तेरा वैभव अमर रहे मां, हम दिन चार रहें न रहें..."

'वंदे मातरम्' के साथ प्रार्थना समाप्त होती और हम सभी हाथों को पूरा खोलकर जगह बनाते हुए पंक्तियों में फैल जाते थे। आठ-दस पंक्तियों में खुली हुई कतार, लेकिन सभी अनुशासित। भाई जी बीच की पंक्ति के ठीक सामने हमारी ओर मुंह करके खड़े हो जाते। एक वही होते जिनका चेहरा हमें दिखता होता था, नहीं तो बाकी सब की तो पीठ ही नजर आती थी। सूर्य नमस्कार और विभिन्न आसनों जैसी योग और व्यायाम-क्रियाओं के पश्चात हम सभी डंडे को अपनी-अपनी बगल में क्षैतिज अवस्था में लिटा, पालथी मारकर बैठ जाते थे। सबसे पहले भाई जी ध्वज की महिमा का बखान करते। भाई जी बोलते, "यह ध्वज भगवा रंग में लिपटा हुआ कपड़े का एक टुकड़ा मात्र नहीं है, बल्कि यह प्रतीक है हमारे अस्तित्व का, राष्ट्रीयता का और हमारी राष्ट्रीय एकता और अखंडता का।"

भाई जी इस बात पर खासा बल देते और कहते, "बच्चो, मैं आपका गुरु नहीं। कोई भी व्यक्ति आपका गुरु नहीं हो सकता, न कोई आसमानी किताब और न ही कोई इंसान। गुरु हो सकता है तो सिर्फ यह ध्वज, और यही वह ध्वज है जो राष्ट्रीय एकता का एकमात्र प्रतीक है।"

यह है आपका गुरु। यह ध्वज निकला है महायज्ञ से। महायज्ञ के कुंड से उठती अग्नि की लपटों का-सा रंग और स्वरूप है इस ध्वज का।”

फिर भाई जी जोर से पूछते, “है ना बच्चो?”

हम सब एक साथ बोलते उठते, “हां भाई जी, हां। वंदे मातरम्, वंदे मातरम्!”

हम सब में यह होड़ लगी रहती थी कि वंदे मातरम् बोलते हुए किसकी आवाज सबसे तेज़ होती है। भाई जी कहते, “बच्चो, हम सब यहां प्रतिदिन इसीलिए एकत्रित होते हैं ताकि हम संस्कार सीख और सिखा सकें। आप सब यह मूल मंत्र सदा याद रखना—‘राष्ट्रदेव भव’। राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए हमें संकल्प लेना है, ताकि हम एक संगठित और शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण कर सकें।”

हम सब भी भाई जी की ‘हां’ में ‘हां’ मिलाने और इस बात की प्रतीक्षा करते रहते थे कि कब भाई जी की बात समाप्त हो और लाठी वाला खेल शुरू हो। लाठी वाला खेल हमारे लिए आकर्षण का केंद्र हुआ करता था। भाई जी मुसलमानों को लेकर हमेशा सशक्त रहते थे और हम सब को उनसे दूर-दूर रहने की चेतावनी देते रहते थे। वे साम्यवादियों को भी खतरनाक मानते थे।

वे प्रायः कहा करते थे, “बच्चो, वे लोग हमें सांप्रदायिक कहते हैं। ये तथाकथित धर्मनिरपेक्ष लोग! साम्यवादियों का छल है यह ‘बहुसंख्य सांप्रदायिकता’ का सिद्धांत।”

फिर वे हम सबको हिंदू होने और हिंदू-राष्ट्र का वास्तविक अर्थ समझाने लगते थे। यह सब बोलते हुए वे प्रायः भावुक हो जाया करते थे और गुस्से में आ जाते थे। उन्हें गुस्से में देख हम सब और भी तनकर बैठ जाते थे।

वे कहते थे, “मुसलमान का बच्चा कभी इस देश का नहीं हो सकता। खायेगा भारत का, लेकिन नाम जपेगा पाकिस्तान का।”

फिर दांत पीसते हुए कहते, “एक बड़ा मियांमार बहुत जरूरी है इस बीमारी से छुटकारा पाने के लिए।”

मैं बहुत दिनों से इस उधेड़बुन में लगा हुआ था और कोई सीधी-सी तरकीब हासिल करने में लगा था, ताकि मुसलमानों को अलग से देख कर ही पहचाना जा सके, क्योंकि भाई जी ने मुसलमानों से सतर्क रहने को कह रखा था। आखिरकार इस उलझी हुई पहेली को सुलझाने के लिए मैंने मां से मशविरा करना ही अधिक मुनासिब समझा। मां से ज्यादा विश्वसनीय और कौन हो सकता था!

मैंने मां से पूछा, “मां, हम लोग हिंदू हैं ना?”

मां ने दुलारते हुए कहा, “हां, हम लोग हिंदू हैं, क्यों?”

मैंने तत्काल दूसरा सवाल दाग दिया, “और डालिया लोग?”

“वे लोग भी।”

“और शांतनु भैया?”

“वे भी।”

“और सीमा दीदी?”

मां हंसने लगी थीं।

“ये सभी लोग हिंदू हैं। क्यों पूछ रहे हो?” मां ने हंसते हुए पूछा।

“नहीं, बस पूछ रहा हूँ। भाई जी कहते हैं मुसलमानों के साथ नहीं खेलना है।”

मां ने कहा, “अपने मुहल्ले में कोई भी मुसलमान नहीं है। थोड़े दिन पहले तक जो भी था, उ सब सिंसवां मियांमार के बाद दोसरा जगह चला गया। अब त मुसलमान लोग अलग-अलग मोहल्ला में रहता है। अधिकतर त चिखपट्टी और अगरवा में रहता है। खोदानगर और महमदिया भी मुसलमान लोग का ही मोहल्ला है। सिंसवां कांड के बाद त अपने मोहल्ले का मुसलमान लोग भी अपना-अपना पुस्तैनी ज़मीन बेच-बेच कर दिल्ली-बंबई भाग गया। अब कहां रहता है मुसलमान लोग हिंदू मोहल्ला में! सिंसवां मियांमार में कटाया, तभी से सतर्क हो गया।”

मां की बातें मुझे अर्थहीन लगी थीं, इसीलिए ढके पर आकर खेलने लगा था। मेरी दुविधा बरकरार थी। आखिर कैसे पहचाने जाते हैं ये मुसलमान? मैं फिर से सोच में पड़ गया था। मैंने एक बार फिर से दिमाग पर ज़ोर डाला और समझने की कोशिश करने लगा कि इन मुसलमानों को पहचाना कैसे जाये।

भाई जी कहते थे कि ‘मुसलमान का बच्चा विश्वसनीय नहीं होता।’

लेकिन इतना-भर ‘सिम्पटम’ मेरे लिए काफ़ी नहीं था। अब कौन विश्वसनीय है, कौन नहीं, इसका अंतिम निर्णय कैसे हो? डालिया और शांतनु भैया भी तो मेरे खिलौने चुरा लेते हैं! इस उधेड़-बुन में मां ही अंतिम हथियार समझ में आयी। मां रसोई में थीं। मैं भागकर रसोई में गया और पीछे से मां की साड़ी पकड़ कर उनसे लिपट गया।

मैंने पूछा, “मां, ये मुसलमान लोग...।”

इतना सुनना था कि मां बिफर पड़ीं। मां को पता नहीं क्या हो जाता था। कभी तो बिल्कुल ठीक रहती थीं और कभी अचानक ही चिढ़ जाती थीं।

दूर ढकेलते हुए बोलीं, “दिमाग मत ख़राब करो, भागो इहां से। जाके पूछो अपनी विद्वान दादी से। हमलोग तो जाहिल हैं! संस्कारहीन परिवार से आये हैं! अपने त जैसे कालीदास की नानी हैं! हम जितना कर देते हैं, उतना सात जन्म में कोई करता ही नहीं...”

फिर चीखती हुई बोलीं, “अरे, संस्कारहीन तो ये लोग हैं। भिखमंगे कहीं के। जितना भी भुरता भर दो, पेट ही नहीं भरता। जब-ना-तब राम कहानी लेकर बैठ जाती हैं। लगती हैं बाप-दादा को तारने। मेरे परिवार के तलवे में नहीं लगेंगे ये लोग...”

और भी पता नहीं क्या-क्या। मां बर्तनों को खंगालती हुई पटक-पटक कर अपने गुस्से का इज़हार करती जा रही थीं।

“बताइए तो! मेरा परिवार संस्कारहीन है! मेरा बाप बेईमान है! यही संस्कार है इन लोगों का। मेरे बूढ़े निर्दोष बाप को गाली देंगी! बूढ़ी हो गयी हैं, लेकिन तमीज रत्ती-भर नहीं...”

मां हिचक-हिचक कर रो पड़ी थीं। मेरी समझ में और कुछ तो नहीं, लेकिन इतना ज़रूर आ गया था कि अभी माहौल ठीक नहीं है। यहां से खिसक लेने में ही भलाई है, नहीं तो पिट जाने की पूरी संभावना थी।

मैं भागता हुआ दालान में आ गया। दादी बैठी कुछ चीथड़े सिल रही थीं। मैं दादी की गोद में समा गया।

“हा-हा, देख के, अभी सूई घुस जाता चुत्तड़ में, बदमाश कहीं का।” दादी ने सूई-धागों

को एक तरफ सरकाते हुए मुझे संभाला और दुलारने लगी थीं।

“दादी, ई मुसलमान कौन होता है? देखकर कैसे पहचाना जाता है कि मुसलमान है कि हिंदू?” मैंने दादी से पूछा।

दादी हंसने लगीं। फिर उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा “मुसलमान लोग उल्टा खोंपड़ी का होता है। हर काम उल्टा करता है। हमलोग से तो उल्टा ही।”

“कैसे?” मेरी जिज्ञासा प्रबल हो उठी। मुझे लगा जैसे आज यह पहेली हल हो ही जायेगी।

दादी बताने लगीं, “यदि हमलोग पूरब मुंहे पूजा करते हैं त उ सब पच्छिम मुंहे, हमलोग उधर से लिखते हैं त उ सब उधर से लिखता है। हमलोग गाय का पूजा करते हैं त उ लोग उसको मार के ही खा जाता है....” और भी जाने क्या-क्या बताने लगीं मुसलमानों के बारे में।

“मुसलमान गो-मांस खाते हैं”, यह ऐसी बात थी जो मैंने भाई जी के मुंह से पचासों बार सुन रखी थी। भाई जी कहा करते थे, “जो लोग गो-वध करते हैं, उन्हें इस देश में रहने का कोई अधिकार नहीं है। लेकिन दुर्भाग्यवश मुसलमानों को खुश करने के लिए कुछ देशद्रोही लोग गो-वध का विरोध नहीं करते हैं।”

भाई जी कई बार बोलते हुए भावुक हो जाया करते थे और पता नहीं कितनी ही बातें बोलते जो हमारी समझ से परे होती थीं। भाई जी ‘गो-मांस’ शब्द सुनकर ही आहत हो जाते थे।

एक दिन बड़का गांव वाले श्यामा चाचा के बेटे मोती और हारून दर्जी के बेटे इस्माइल में लड़ाई हो रही थी। इस लड़ाई में हारून दर्जी का बेटा भारी पड़ रहा था। इस्माइल मोती को पीटता जा रहा था। अचानक ही भाई जी आ गये। उन्होंने डांट-डपट कर इस्माइल को भगा दिया।

फिर भाई जी ने मोती को डांटते हुए पूछा था, “आप, चुपचाप मार क्यों खा रहे थे? आपने क्यों नहीं मारा उसे? खाली घर में घोंघियाते हैं? जहां जरूरत हो, वहां सब अक्किल भुला जाता है? घिग्घी बंध जाता है?”

मोती ने निरीह भाव से कहा था, “भाई जी, मुसलमान ह नू स्साला, बड़ा मजबूत बा। गाय के मांस खाला नू, एही से एतना मजबूत बा...”

भाई जी मोती की बातें सुनकर चुप हो गये थे। उनके चेहरे पर गंभीरता का भाव उभर आया था। वे बहुत आहत नजर आने लगे थे।

भाई जी किसी से नहीं डरने की सीख देते हुए हम सब में हिम्मत भरते रहते थे। वे बार-बार यह बताते रहते थे कि मुसलमान एक भयावह कौम है। इसीलिए वे मुसलमानों से लोहा लेने के लिए एक मिलीशिया तैयार कर रहे थे। इस काम में भाई जी का पूरा तंत्र तन-मन-धन से दिन-रात लगा रहता था। हम सब बच्चे भी तो मुसलमानों के भय से मिमियाते ही रहते थे। क़रीम, रौफ, शम्मी, इस्माइल आदि गो-मांस भक्षक बच्चों का भय ही तो होता था कि हम सभी निकर पहन प्रतिदिन सुबह-सुबह भाई जी की टहल में इकट्ठा हो जाते थे।

हम सब संकट की परिस्थिति में भाई जी का ही मुंह जोहते थे। भाई जी के पास हमारी हर समस्या का समाधान होता था। तभी तो, बाबू जी और दादा जी तक भी हम बच्चों को भाई जी के पास जाने देने से कभी रोकते नहीं थे। नहीं तो, दुनिया के बाकी सभी लोग तो जैसे उनके बच्चों के दुश्मन ही थे, और उनके बच्चों को ख़राब करने के लिए ही पैदा हुए थे।

दादा जी कहते, “भाई जी तो साक्षात देव हैं। उनकी जिह्वा पर सरस्वती का बास है। कितना

अच्छा बोलते हैं, क्या सुसंस्कृत भाषा, कितना ज्ञान, मानो सभी ज्ञान का सोता उन्हीं से होकर बहता है।”

बाबू जी भी भाई जी को पसंद करते थे, लेकिन उनकी पसंद का कारण अलग था। बाबूजी यह मानते थे कि भाई जी के संरक्षण में रहते हुए हम बच्चों को डॉक्टर या इंजीनियर बनने से कोई रोक नहीं सकेगा। चूंकि भाई जी हम बच्चों के व्यक्तित्व-निर्माता थे और हमें जिंदगी जीने के तरीके सिखलाते थे, इसीलिए सब बच्चों के माता-पिता उन्हें एक आदर्श पुरुष मानते थे। लेकिन मेरी मां को भाई जी फूटी आंखों नहीं सुहाते थे। मां भाई जी को हत्यारा कहते नहीं थकती थीं।

मां बोलतीं, “सारे बच्चों के मन में जहर भरता रहता है। लगता है सर्वनाश कराके ही दम लेगा। आप लोग भी भाई जी का ही साथ देते रहते हैं। सिसवां मियांमार भूल गये क्या? कैसे लाशों के ढेर पर इतरा रहे थे ये हत्यारे! कसाई कहीं के!”

मां सिसवां दंगा कांड को याद करके सिहर उठती थीं।

भाई जी की बातें हमसब मंत्रमुग्ध होकर सुनते थे। यह उनका प्रभाव ही तो था कि हम बच्चे जब कभी भी छोटी मस्जिद के सामने से गुजरते तो सामने वाली लगभग सौ मीटर की सड़क सांस रोके दौड़ कर पार कर जाते थे। जब भी खान चचा बाबूजी को झुककर आदाब करते तो मन अनायास ही किसी गुप्त साजिश की आशंका से भर उठता। जब ताजिये का अंतरिक्ष को छूता झंडा आसमान में लहराता और ‘नारा-ए-तकबीर, अल्लाह-हो-अकबर’ का जय-घोष गूंजता तो कंपकपी छूट जाती। भयाक्रांत मन का स्वाभाविक प्रतिकार ही तो था जो नागपंचमी के दिन फूटकर बाहर निकलता था।

उन दिनों हमारे शहर में नागपंचमी का पर्व बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। सुबह-सुबह मां पूरे घर को चारों तरफ से गोबर से लीपतीं। हर मुहाने पर गाय के गोबर से नाग देवता की रंगोली बनायी जाती। फिर दादी और मां सिंदूर से टीका लगाकर द्वार-पुजाई करतीं। नाग देवता को जल और दूध चढ़ाया जाता था। उस दिन संपेरों की भी चांदी हो जाती थी। उखाड़े हुए दांत वाले अलसाये नागों को पिटारे में बंद कर ये संपेरे दरवाजे-दरवाजे जाकर बख्शीश मांगा करते थे। संपेरे पिटारे का ढक्कन खोलकर सोये हुए नागों को ठोंक-ठाक कर उठाते। नाग भी अनमने ढंग से अपना फन उठा देते थे। संपेरे हम बच्चों को इन अलसाये नागों के फनों से डराते रहते। हम सब डरते तो थे, लेकिन फिर भी पिटारे में झांकने से बाज नहीं आते थे। जब तक मां अंदर से कुछ लेकर नहीं आ जातीं, संपेरे हम बच्चों से चुहुल करते रहते। फिर मां आ जातीं और नाग देव को दूध पिलाकर संपेरों को कुछ दान-दक्षिण देतीं। संपेरे बख्शीश मिल जाने के बाद नाग देव से हम बच्चों को आशीर्वचन दिलाकर मांओं को अनुगृहीत कर देते।

नागपंचमी के दिन मां खीर बनाती थीं। मां कहतीं थीं कि शीतला माई को खीर बहुत पसंद आती है। हमारे घर में शीतला माई और नाग देव की पूजा बड़ी आस्था से की जाती थी।

मां बताती हैं कि जब मैं छोटा था तो एक बार नाग देव ने मुझे डंस लिया था और मेरे प्राण हर लिये थे। फिर मां ने शीतला माई की वंदना की और हर वर्ष उनकी पूजा करने की मन्नत भी मानी। इस पर शीतला माई बहुत खुश हुईं। फिर शीतला माई ने जाकर नाग देव को बहुत मनाया था। तब कहीं जाकर, वो भी शीतला माई के इतना कहने पर, नाग देव ने मेरे प्राण वापस लौटाये थे।

तभी से हमारे घर में हर वर्ष शीतला माई और नाग देव की पूजा होती थी। लेकिन हम लोगों का नागपंचमी का इंतजार पूजा या खीर के लिए कम, शाम के कार्यक्रम के लिए अधिक होता था।

शाम के समय शहर में हनुमान जी की तस्वीर वाले झंडों के साथ हर मुहल्ले से जुलूस निकाले जाते थे। इसे हम सब महावीरी झंडा कहते थे। जिस तरह ताजिये में लाठीबाजी और तलवारबाजी के कला-कौशल का प्रदर्शन होता था, महावीरी झंडे में भी उसी तरह का शौर्य-प्रदर्शन होता था। प्रत्येक मुहल्ले के अपने-अपने झंडे होते थे, जैसे कि ताजिये के होते थे। उन दिनों ताजिये और महावीरी झंडे में आसमान को भेद डालने की एक अंतहीन होड़ लगी रहती थी और इस होड़ में हर साल महावीरी झंडे और ताजिये की ऊंचाई फुट-दर-फुट बढ़ती ही जाती थी। हम सब पूरे साल-भर से इसी दिन की प्रतीक्षा में रहते। सालो-भर रियाज चलता रहता था।

भाई जी हम सब को लाठी भांजने का प्रशिक्षण दिया करते थे। वे महावीरी झंडे को कुड़वा मंदिर वाले महाराजा फील्ड से विदा करते थे। झंडा हर चौराहे पर रुकता और जांबाज योद्धाओं को कला-प्रदर्शन का मौका दिया जाता। झंडा जब छोटी मस्जिद के सामने पहुंचता, युयुत्सुओं का जोश दुगुना हो जाता था। झंडा आसमान में लहरा उठता और 'हर-हर महादेव' तथा 'जय बजरंग बली' के उद्घोष से हृदय दहल उठता था।

भाई जी, जब महावीरी अखाड़े में उतरते, जय-जयकार गूंज उठता। ढोल-मजीरों को शांत कर दिया जाता और जयनाद क्षण-भर के लिए थम जाता। उनके पास स्टील का एक रॉड होता था। जब भांजते, न रॉड दिखता और न उंगलियां दिखतीं, दिखता था तो बस भाई जी का भिंचा हुआ चेहरा। भिंचे हुए चेहरे के बीच होठों पर मुस्कराहट फैली रहती और उनके आसपास एक धुंधला-सा आवरण बन जाता। दर्शक सांस रोके देखते रहते। तेजी से घूमते स्टील के रॉड से सांय-सांय की आवाज आती रहती। अद्भुत कला थी। हम सब रश्क करते थे।

पहले तो सिर्फ बांस की लाठी ही चलती थी। लेकिन अब तो लाठी की जगह नये-नये उपकरण उपयोग में लाये जाने लगे थे। जैसे-जैसे समय बदलने लगा था, उपकरण भी आधुनिक और खतरनाक होते जा रहे थे। बांस की लाठी की जगह स्टील-रॉड का प्रचलन बढ़ने लगा था। तलवार, भाले और फरसे भी भांजे जाने लगे थे। भाले-बरछों से खतरनाक खेल खेले जाने लगे थे। बांके और बुद्धन की जोड़ी ने एक और खतरनाक खेल का आगाज किया था। एक बड़े से लोहे के गोले में लोहे के दांत लगे होते थे और गोला एक जंजीर से बंधा होता था। बांके अपनी नंग-धड़ंग विशाल काया के साथ बुद्धन पर गोले से प्रहार करता और बुद्धन एक बड़े-से ढाल से प्रहार रोकता। जोर की टनकार होती और हर-हर महादेव के उद्घोष से पूरा वातावरण गूंज उठता था। ढोल और नगाड़ों के बीच चमकती तलवारें और ढम-ढम, टन-टन की आवाज के बीच उद्घोष और जयनाद। हमारा बाल-मन दहल उठता। फिर भी, हम सब भीड़-भाड़ वाली गोल में घुसकर लोगों की टांगों के बीच से होते हुए आगे चले जाते थे। युयुत्सुओं की कला देख मन मचल उठता था और उन्हीं योद्धाओं की तरह कुछ कर दिखाने का भाव उफन कर जोर मारने लगता था। ऐसे में, भाई जी के प्रति सम्मान-भाव और बढ़ जाता था। यही सब तो था कि हम सब आलसी बच्चे भी सुबह-सुबह उठकर कुड़वा माई के मंदिर वाले महाराजा फील्ड में इकट्ठा हो जाते थे।

ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर हमारा रिक्शा खड़खड़ करता हुआ दौड़ा जा रहा था। सड़कें आज भी वैसी ही थीं। मुझे सड़कों के ऊबड़-खाबड़ होने पर कोई आश्चर्य नहीं हो रहा था। पहले भी हमारे यहां सड़कों की मरम्मत का प्रचलन नहीं था। मैं रिक्शे पर बैठा हज़ारों पुराने ख़यालों में डूबा हिलता-डुलता कुड़वा मंदिर की ओर बढ़ता जा रहा था। अचानक छोटी मस्जिद पर नज़र पड़ी और जैसे तंद्रा भंग हुई।

“अरे, अरे, रुको-रुको, भइया रोकना ज़रा। एक मिनट।” मैंने रिक्शे वाले को रुकने को कहा।

रिक्शे वाले ने ब्रेक लगाकर रिक्शे को रोक लिया था। दाहिनी ओर सड़क के किनारे दूर तक पुटुस और भांग की झाड़-झंखाड़ फैली हुई थी। झाड़ियां फैल कर मस्जिद के चबूतरे तक जा पहुंची थीं। छोटी मस्जिद सूनी पड़ी थी। लगता था कि वर्षों से रंग-रोगन भी नहीं किया गया था। मस्जिद और सड़क के बीच की परती ज़मीन पूरी तरह झाड़ियों से पटी पड़ी थी। यह परती कभी हम बच्चों की क्रीड़ा-स्थली हुआ करती थी। रमजान के पूरे महीने तक कैसी चहल-पहल हुआ करती थी! ईद के दिन तो जैसे दुल्हन की तरह सजती थी। ख़ूब बड़ा मेला लगता था। ताजिया भी तो इसी परती पर सजाया जाता था, जहां से मौलाना चा ताजिये को आमीन कह कर रग़्सत करते थे।

यही वह छोटी मस्जिद थी जो हमारे मुहल्ले और महमदिया को दो फांकों में बांटती थी, मानो दो देशों की सरहदें हों। भारत-पाक की तरह बंटे मुहल्ले अपनी-अपनी अस्मिता को बचाये रखने और अपने को सर्वोपरि मनवाने की लड़ाई लड़ते हुए जाने कितने वर्षों से अपने-अपने दुःखों को जीते जा रहे थे। यह सिर्फ़ इन्हीं दोनों मुहल्लों की बात नहीं थी, हरेक मुहल्ला अघोषित रूप से छोटे-छोटे राष्ट्रों में बंटा हुआ-सा दिखता था। इन मुहल्लों के बीच आवाजाही के लिए एक मौन वीजा की भी ज़रूरत हुआ करती थी। आवाजाही सरल न थी। लोग संदेहास्पद बने रहते थे और कई-कई जोड़ी आंखें सतत नज़र गड़ाये रहती थीं। लोग-बाग भी जब एक-दूसरे की सरहद लांघते तो हंसते हुए आस-पास की घूरती आंखों को यह जता देते कि वे किसी विशेष प्रयोजन से अमुक के घर जा रहे हैं। घूरती आंखें भी झेंप मिटाते हुए मुस्कुराते हुए वीजा दे देती थीं।

हम बच्चों को भी माएं सरहद लांघने की इजाजत नहीं देती थीं। लेकिन बच्चे तो बच्चे ठहरे। कहां मानने वाले थे! कहां रोक पाती है कोई सरहद बच्चों को! हम सब छोटी मस्जिद के साथ वाली इसी परती में इकट्ठा होते और फिर शुरू होती थी धमाचौकड़ी। कंचे से कबड्डी तक के खेलों में सरहदें आड़े नहीं आती थीं। लेकिन प्रायः आपसी दंगल हो ही जाया करता था। यह दंगल लहू-लुहान तक तो नहीं पहुंचता था, लेकिन चलता तब तक था जब तक कि मौलाना चा या भाई जी बीच में नहीं आ जाते थे।

छोटी मस्जिद के ठीक पीछे एक झील होती थी। चांदनी रात में झील के ठहरे पानी में मस्जिद का अक्स कितना मनोहर दिखता था। ठहरे पानी में हम पत्थर फेंकते और फिर हिलते हुए पानी में यह देख-देख कर खुश होते थे कि कैसे मस्जिद के मीनार सांप की तरह लहरा रहे हैं। मस्जिद और झील के बीच तीन-चार फुट चौड़ी एक पगडंडी होती थी, जिसे हम सब खुड़पेड़िया कहते थे। खुड़पेड़िया को किसी ने बनाया नहीं था। लेकिन कुछ रास्ते ऐसे होते हैं, जिस पर आते-जाते पैरों के निशान से ही रास्ते बन जाते हैं। खुड़पेड़िया भी ऐसा ही एक रास्ता

था। आज तो मस्जिद जैसे वीरान पड़ी थी और इस खुड़पेड़िया को देखकर तो नहीं लग रहा था कि इसका इस्तेमाल बीते कई वर्षों में कभी किसी ने किया भी होगा। लेकिन कभी यह खुड़पेड़िया एक चालू रास्ता हुआ करता था।

इसी खुड़पेड़िया से भागती हुई आयी थी बुढ़िया। उसने दोनों हाथों से पोटली को जकड़ रखा था। पोटली को पेट से दबाये भागती जा रही थी। एक पूरा हुजूम उसके पीछे भाग रहा था, बड़े-छोटे सभी थे। सबसे आगे भाई जी थे। कुछेक के हाथों में डंडे थे। छोटे-छोटे बच्चे भी पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। भाई जी की पूरी मिलीशिया उसका पीछा कर रही थी।

“मार-मार, पकड़-पकड़.... धर-धर!”

बुढ़िया भागती जा रही थी। लेकिन कहां तक भागती! आखिरकार गिर पड़ी। छोटी मस्जिद के ठीक पीछे। फिर तो जैसे टूट पड़े थे सब।

“मार-मार, लतियाओ-लतियाओ...मुआओ-मुआओ...जिंदा मत छोड़...खिआओ बड़का के गोश्त बुढ़िया से...हरामजादी...”

लोग चीख-चीख कर अपना गुस्सा व्यक्त कर रहे थे। चौतरफ़ा हमला शुरू हो चुका था। लात-घूसों की जैसे बरसात होने लगी थी। कोई बाल पकड़ कर खींच रहा था तो कोई थपड़ जड़ रहा था। भाई जी उछल-उछल कर लातों से मार रहे थे। एक अन्य योद्धा बुढ़िया के पेट में अपने डंडे को घुसेड़-घुसेड़ कर उसके हाथों में दबी पोटली को बाहर निकालने का प्रयास कर रहा था। बुढ़िया ने पोटली को अपने पेट से दबा रखा था। बुढ़िया पोटली छोड़ नहीं रही थी। लेकिन कब तक बचाती। पोटली छिटक कर दूर जा गिरी थी। बुढ़िया चिल्लाती जा रही थी। जब तक चीखने-चिल्लाने की शक्ति बची थी, श्राप-बददुआ देती जा रही थी।

मां को तत्काल सूचना देना मैंने ज़रूरी समझा था, इसीलिए मैं दौड़ता हुआ घर की ओर भागा।

हांफते हुए मां को बताया, “मां, मां...एक बुढ़िया पकड़ायी है...गाय का मांस लेकर जा रही थी...सब लोग मार रहे हैं। भाई जी भी हैं।”

मां सन्न रह गयीं। अचानक मानो हजारों आशंकाओं से घिर आयी थीं। शायद आंखों के सामने सिंसवां कांड का सारा मंज़र घूम गया था।

मां ने लगभग चीखते हुए कहा, “चलो घर में बैठो। वहां जाने की ज़रूरत नहीं है। चलो यहां...।”

लेकिन मैं कहां सुनने वाला था। सूचना देकर क्षिप्र वेग से वापस घटना-स्थल की ओर भागा।

घटना-स्थल का दृश्य अबतक बदल चुका था। मिलीशिया के लोग घटना-स्थल से छंट चुके थे और पराजिता के समर्थक जुटने लगे थे। बुढ़िया निस्तेज पड़ी थी। वह ढेर हो चुकी थी। उसकी पोटली गायब थी। शायद विजेता पक्ष द्वारा बुढ़िया की पोटली को ठिकाने लगाया जा चुका था। पोटली अब जुबान बन गयी थी और समूचा शहर जैसे कि कान। गोलबंदी शुरू हो गयी और सब अपनी-अपनी रणनीतियां तैयार करने में जुट गये थे।

बुढ़िया की लाश के पास ही लोट-लोटकर एक महिला विलाप करती जा रही थी, “अरे दादा रे...अरे...कसाई...।”

फिर बिलखती हुई अपने छोटे से बच्चे को पागलों की तरह पीटती हुई बोलने लगी, “अरे अभगलू...खो अब गोश्त...इअवा के गोश्त खो...।”

फिर मौलाना साहब की ओर देखते हुए गिड़गिड़ाने लगी, “देखअ हनीफ चा, कसाई मुआ देहलन स...”

फिर थोड़ी-सी हिचकी लेती हुई थम कर बोलने लगी, “हनीफ चा, बड़का काहां मराला इहां...! माई रे माई...कसाई मुआ देहलन स...हो दादा...अब का करीं हो दादा...।” वह बिलख-बिलख कर चीखती-चिल्लाती जा रही थी। उसके क्रंदन से समूचा वातावरण दहला जा रहा था।

खुड़पेड़िया को देखकर आज जैसे एकबारगी वही सारा मंज़र आंखों के सामने फिल्म की तरह चलने लगा था। मेरे कानों में वही सब कुछ गूंजता जा रहा था। लेकिन धीरे-धीरे ऐसा जान पड़ा मानो उस महिला की चीख-चिल्लाहट की ध्वनि फेड होती हुई भाई जी की कराह से एकाकार हो आयी हो। भाई जी ने मुझे पास बुलाकर बैठा लिया था और कराहते हुए बोले, “बुढ़िया बहुत मारती है बउआ। बहुत दर्द होता है। हम बहुत तकलीफ में हैं।”

भाई जी मुझे बउआ कहते थे। आज सालों बाद बउआ शब्द सुनकर मन मलिन हो आया था। मैं उनके सिरहाने बैठ उनका सिर सहलाने लगा था।

मैं उन्हें सांत्वना देने लगा, “नहीं भाई जी, बोलिए मत, चुप हो जाइए, कुछ नहीं होगा आपको।”

“सिसवां वाली लड़कियन सब भी...कोड़ा मार-मार कर हंसती हैं।” वे आसमान की ओर देखते हुए कराहते जा रहे थे।

“बउआ, सब अपना लोग ही बोलता है कि बुढ़िया का श्राप लग गया...सुबोधवा भी कहता है कि बुढ़िया का श्राप लग गया...पाप लग गया...” भाई जी फिर बड़बड़ा पड़े थे।

“आप जल्दी ही ठीक जा जायेंगे...मत घबराइए। कुछ नहीं होगा आपको।”

भाई जी ने नज़रें उठा कर मुझे देखा। आंखें भरी हुई थीं। आंखों से आंसू की दो बूंदें ढलक कर नाक के किनारे से होते हुए होठों पर आकर टिक गयी थीं। मैंने आंसू पोंछ दिये और उन्हें ध्यान से देखने लगा था। मैं जैसे भाई जी से बहुत कुछ पूछना चाह रहा था। भाई जी और कुछ बोलना चाहते थे, लेकिन बोल नहीं पाये, होठ बस फड़फड़ा कर रह गये थे।

कविता

हबीब जालिब का कलाम

मरहूम हबीब जालिब पाकिस्तान के इन्क़लाबी शायर थे । वे इजारादारी और सामराजी ताक़तों के खिलाफ़ बिना ख़ौफ़ खाये जेलों में रह कर भी लिखते रहे । उनका लिखा आज भी कितना सच है, ये नज़्में देखिए ।

अमरीका-काली दीवार

नाम चले हरनाम दास का काम चले अमरीका का
मूरख इस कोशिश में हैं सूरज न ढले अमरीका का ।

निर्धन की आंखों में आंसू आज भी हैं और कल भी थे
बिरला के घर दीवाली है, तेल जले अमरीका का ।

दुनिया-भर के मज़लूमों ने भेद ये सारा जान लिया
आज है डेरा ज़रदारों के साये तले अमरीका का ।

काम है उसका सौदाबाज़ी सारा ज़माना जाने है
इसीलिए तो मुझको प्यारे नाम खले अमरीका का ।

ग़ैर के बल-बूते पर जीना मर्दों वाली बात नहीं
बात तो जब है ऐ जालिब! एहसान न ले अमरीका का ॥

.....
1. धनाह्वयों

भए कबीर उदास

इक पटरी पर सर्दी में अपनी तक़दीर को रोये
दूजा जुल्फ़ों की छावों में सुख की सेज पे सोये
राज सिंहासन पर इक बैठा और इक उसका दास
भए कबीर उदास।
ऊंचे-ऊंचे ऐवानों में मूरख हुकुम चलायें

क़दम-क़दम पर इस नगरी में पंडित धक्के खायें
धरती पर भगवान बने हैं धन है जिनके पास
भए कबीर उदास।
गीत लिखायें पैसे ना दें फ़िल्म नगर के लोग
उनके घर बाजे शहनाई लेखक के घर सोग
गायक सुर में क्योंकर गाये क्यों न काटे घास
भए कबीर उदास

कल तक था जो हाल हमारा, हाल वही है आज
जालिब अपने देस में सुख का काल वही है आज
फिर भी मौची गेट पे लीडर रोज़ करें बकवास
भए कबीर उदास।

हफ़ें सरे-दार से लिप्यंतरण : अर्जुमंद आरा

सारा शगुफ़ता की कुछ नज़्में

सारा शगुफ़ता कराची में रहती थीं । उन्होंने संभवतः 1983-84 में आत्महत्या कर ली थी। उनका काव्य संकलन आंखें कराची से सारा अकादमी ने 1985 में प्रकाशित किया ।

शैली बेटी के नाम

तुझे जब भी कोई दुख दे
उस दुख का नाम बेटी रखना
जब मेरे सफ़ेद बाल
तेरे गालों पे आन हंसें, रो लेना
मेरे ख़्वाब के दुख पे सो लेना
जिन खेतों को अभी उगना है
उन खेतों में
मैं देखती हूँ मेरी अंगिया भी।

बस पहली बार डरी बेटी
मैं कितनी बार डरी बेटी
अभी पेड़ों में छुपे तेरे कमान हैं बेटी
मेरा जनम तू है बेटी
और तेरा जनम तेरी बेटी।

तुझे नहलाने की ख़ाहिश में
मेरी पोरें खून थूकती हैं।

क़र्ज़

मेरा बाप नंगा था
मैंने अपने कपड़े उतारकर उसे दे दिये
ज़मीन भी नंगी थी

मैंने उसे अपने मकान से दाग़ दिया
शर्म भी नंगी थी, मैंने उसे आंखें दीं
प्यास को लम्स दिये
और होटों की क्यारी में
जाने वाले को बो दिया।
मौसम चांद लिये फिर रहा था
मैंने मौसम को दाग़ देकर चांद को आज़ाद किया
चिता के धुएं से मैंने इंसान बनाया
और उसके सामने अपना मन रक्खा
उसका लफ़्ज़ जो उसने अपनी पैदाइश पे चुना
और बोला!
मैं तेरी कोख में एक हैरत देखता हूं।

मेरे बदन से आग दूर हो हुई
तो मैंने अपने गुनाह ताप लिये
मैं मां बनने के बाद भी कुंवारी हुई
और मेरी मां भी कुंवारी हुई
अब तुम कुंवारी मां की हैरत हो।
मैं चिता पे सारे मौसम जला डालूंगी
मैंने तुझमें रूह फूंकी
मैं तेरे मौसमों में चुटकियां बजाने वाली हूं
मिट्टी क्या सोचेगी
मिट्टी छांव सोचेगी और हम मिट्टी को सोचेंगे
तेरा इंकार मुझे जिंदगी देता है।

हम पेड़ों के अज़ाबा सहें
या दुखों के फटे कपड़े पहनें।

1. यातनाएं

—लिप्यंतरण : अर्जुमंद आरा

यासमीन हमीद की चंद नज़्में

लेखिका यासमीन हमीद लाहौर (पाकिस्तान) की रहने वाली हैं। उनके काव्य संकलन हैं-पसे-आइना (1988), हिसारे-बे दरो-दीवार (1991), आधा दिन और आधी रात (1996), फ़ना भी एक सराब (2001) इसके अलावा तीन पुस्तकों के अंग्रेज़ी अनुवाद और पाकिस्तानी लिटरेचर के 'महिला लेखन विशेषांक' का संपादन।

पी के 754

शहर जगमगा रहा है
और किसी ख़फ़ीफ़¹ रोशनी में तुम भी सो रहे हो
इन बुलंदियों से चांद की ज़मीं करीब है
मगर नहीं
हवा यहां पे तेज है कि सर्द है
किसी को भी ख़बर नहीं
ये बादलों का तैरता धुआं है
या रिफ़ाक़तो² की गर्द है
ये कांपती हुई सदाए-वापसी³ की लहर है
कि डोलता हुआ बदन उड़ान का
कि झूलती हुई ज़मीं नशेब⁴ की।
वो कौन था जो मुट्ठियों में रेत भरके सो गया
ख़यालो-ख़्वाब से भी दूर हो गया
भटकती रात के उलझते गेसुओं⁵ में सो गया

सितारे मेरे साथ चल रहे हैं क्या?
वो कौन-सी ख़लिश⁶ है जिसको मुत्मइन⁷ नहीं किया
बुलंदियों, जुदाइयों ने
मौत के ख़याल ने भी मुत्मइन नहीं किया।

बुलंदियों के, पस्तियों के हमसफ़र

बताओ तो
जमीन पर
फिज़ाओं में
जो रास्ता नहीं बना
वो क्या हुआ
बताओ तो
जो रात की फ़सील⁸ पार कर सके
जो सुबह में बदल सके
वो किस तरह की नींद है
वो किस तरह का ख़्वाब है
बताओ ये फिज़ा में कैसी हूक है
ये कैसा इज़्तिराब⁹ है।
सफ़र का इख़िताम¹⁰ हो रहा है
और शोर बे-हिसाब है।

1. हल्की, 2. दोस्ती के क्षण, 3. प्रतिध्वनि, 4. नीचाई, 5. जुल्फों,
6. चुभन, 7. तृप्त, शांत, 8. चहारदीवारी, 9. बेचैनी, 10. अंत

घने पीपल

तुम्हारे साये में
जोगी के भोगे जिस्म की बास है
पीपल, तुम्हारे नाम में
कैसे अनोखे सुर लरज़ते हैं
तुम्हारे नाम के इक हर्फ़ में
इक रागिनी का अंग बसता है

वहां देखो-सड़क के उस तरफ़
साहिल पे-कशती के किवाड़ों की दरारों में
तुम्हारी शाख़ पर खिलता हुआ दिल
लहलहाता है।

घने पीपल
कोई आसेब¹ तुम में आ बसा है
आज अपने मंदिरों से ला-तअल्लुक² हो गये हो तुम

तुम्हारी गोद में कितने बसेरे हैं
जिन्हें तुम गिन नहीं सकते।

मेरी आंखों में भी इक पेड़ है
जिसमें बसे नन्हे परिंदे
अपनी-अपनी बोलियों का विर्द^३ करते हैं
मगर इक फ़र्क है पीपल!
यहां की गर्दियों दस्तूरबंदी^४ की नहीं कायल
यहां पत्ते नहीं झड़ते
तड़क जाती है मिट्टी आंख के अंदर
मगर इक आंच है
जो पेड़ में फैली रगों को सब्ज रखती है
तुम अपने सब बसेरे मुझको दे डालो।
घने पीपल
तुम्हारी छांव में रस्ता बनाती धूप बढ़ती जा रही है
और मुझे भी दूर जाना है
सड़क के पार देखो
खुशक दरिया मेरा रस्ता देखता है।

1. भूत-प्रेत, 2. विमुख, 3. आवर्तन, पुनरावृत्ति, 4. अनुशासन, नियमों का पालन।

—लिप्यांतरण : अर्जुमंद आरा

बिल्कीस ज़फ़ीरुल हसन की चंद नज़्में

बिल्कीस ज़फ़ीरुल हसन के दो काव्य संकलन गीला ईंधन (1996) और शोलों के दरमियां (2004) प्रकाशित हो चुके हैं। वह अफ़साने भी लिखती हैं और ड्रामे भी। कई ड्रामे दिल्ली उर्दू अकादमी, ज़ाकिर हुसैन कालिज और बेला थियेटर के द्वारा मंचित हो चुके हैं। बहुत-सी नज़्मों का हिंदी और अंग्रेज़ी अनुवाद भी शायी हो चुका है। बिल्कीस दिल्ली में रहती हैं और अपने बच्चों की देखभाल में मसरूफ़ रहकर भी लगातार तख़लीकी काम कर रही हैं।

इराक़

तेल दलदल में फंसी मुर्गाबियां, छटपटाती रह गयीं
जहरीला धुंआ बादल-सरो पर फट पड़ा
बारिशों काली हुई।
आसमां शोला-ब-दामा। और ज़मीं अंधा कुआं
गड़गड़ाते टैंक, तोपें,
हर तरफ़ चीखें, झुलसते जिस्म, आधे धड़, कटे सर
बदबूएँ, दम घोटने वाली चिरांध!
राख शहरों की लपेटे जिस्मो-जां-मातम कुनां2

कौन हारा कौन जीता, बहस अब करते रहें
कितने जिंदा बच गये, कितने मरे, गिनते रहें
(न्यूज़ के बाद आज टी.वी. पर नया इक सीरियल है, उसके बाद
इक फ़िल्म भी दिखलायेंगे)
रुस्तगारी 3 मौत से किसको कहां
आज वोह, बारी हमारी कल यहां,
सर उठायेगा अगर कमज़ोर कुचला जायेगा
है यही दस्तूरे-दुनिया क्या करें
आओ अब कॉफी पियें।
(इसके सिवा-बस में हमारे है भी क्या?)

हां यह सच है कुछ भी तो बिल्कुल सफ़ेद
या एकदम काला—नहीं होता मगर
वो तेल दलदल में फंसी मुर्गाबियां
मर रही थीं कैसी लाचारी से, देखा था
उफ!—गैर जानिबदार⁴ रहना किस क़दर मुश्किल है अब!

1. दामन में शोले भड़कते हुए 2. विलाप करते हुए 3. मुक्ति 4. निष्पक्ष

जीते कोई

रन पड़ेगा तो मैं धर्म पर हूँ कि तुम
फ़र्क़ इससे ज़रा भी नहीं पड़ने वाला—कि जब
अंत इस युद्ध का होगा—तो जीते कोई
हाथ लाशों का अंबार ही आयेगा।
दर्द से तिलमिलाती हुई, अपने ही रक्त में तर-बतर
जीत किस काम की?
इस कुरुक्षेत्र से बाहर आने की आखिर तो राह होगी कहीं
आओ मिल जुलके हम ढूँढ लें
क़त्ल हो जाने या क़त्ल करने से खुद को बचा लें
हम न बाकी बचे तो, बचेगा कहां कोई भी धर्म
—और भगवान भी।

सम्मान

‘बीबी साहब—मेरा आदमी
रोज़ दारू चढ़ा के चला आता था—पीटता था मुझे
एक पैसा भी अपनी कमाई का मुझको—ख़रचने नहीं देता था।
साथ ऐसे के, कैसे मैं रहती—उसे छोड़कर
गांव से शहर में आ गयी।
आप जैसे बड़े लोगों के घर में अब
काम करती हूँ—खुद अब कमाती हूँ मैं
अपनी मेहनत का खाती हूँ मैं।
घाव बनकर जो माथे सजे, ऐसा सिंदूर किस काम का?’

बीबी साहब भला अब ये धनिया को कैसे बतायें कि उसकी कहानी
नयी कब है उनके लिए—उनपे भी रात-दिन, कुछ न कुछ ऐसा ही बीतता है—

मगर अपनी किस्मत से वोह धनिया नहीं, 'बीबी साहब' हैं वो—
और यह हैसियत—अपने साहब से बख्शिशा में उनको मिली है।
(जिसकी अपनी कोई हैसियत ही न हो, उसको तो बख्शिशाओं पर ही जीना पड़ेगा।)

'घर में रहकर पति से जो सम्मान मिलता है, नारी कहीं जाय क्या पायगी?'
अपनी पेशानी (माथे) का घाव सहला रही हैं,
'तुझको अपना पति छोड़कर यूँ नहीं आना था।'
वो धनिया को समझा रही हैं।
अपना सम्मान भी है कोई चीज़, यह बीबी साहब को धनिया बताये तो कैसे बताये!

ख़रबूज़ा और छुरी

छुरी ख़रबूज़े पर गिरे, या ख़रबूज़ा छुरी पर
छुरी का कुछ भी नहीं बिगड़ता
जो कट जाता है वह ख़रबूज़ा होता है
छुरी पहले की तरह तेज़ और चमकदार
दूसरे ख़रबूज़े को चीरने को तैयार!

गली से गुज़रते हुए गुंडे ने सीटी मारी थी उस पर—
सीता अब घर से बाहर नहीं निकलती—मनाही है!
पड़ौसी की ताक-झांक पर—भाभी को मायके पहुंचा आये भैया
रेप किये जाने पर—सावित्री खुदकुशी करके मर गयी
हां! छुरी ख़रबूज़े पर गिरे, या ख़रबूज़ा छुरी पर
कटना तो ख़रबूज़े को ही होगा
मगर—क्या—
औरत और ख़रबूज़े में कोई फ़र्क नहीं?

बानो

सख़्त हैरत है, बानो तो ऐसी न थी!
उसको इस घर में आये हुए
बीस बरसों से ज़्यादा का अर्सा हुआ
और इन बीस बरसों में उसने—किसी से न कुछ भी कहा।
न शिकायत किसी तरह की, और न कोई गिला—
रात-दिन घर के कामों में मसरूफ़ रहती थी।

बेचारी को-बात करने की मोहलत भी मिलती न थी।
दे दिला के सभों को, जो बचता था, ले लेती थी।
कैसी फ़रमाइशें?-वोह तो त्यौहार में भी कभी
अपना जोड़ा बदलती न थी।

सास की खिदमतें, नाज़-बरदारियां नंद की,
जेठ, देवर, ससुर और शौहर-सभों के लिए
जान हाज़िर थी उसकी।
बीस बरसों में मैके का मुंह भी न देखा-
जो डोली से उतरी, तो घर से क़दम उसने बाहर न रक्खा।
ऐसी औरत को ये आज क्या हो गया
ज़हर चूहों का क्यूं खा लिया-क्या पता-
सख़्त हेरत है-बानो तो ऐसी न थी।

ज़मीन की बेवफ़ाई

वैसे तो ज़मीन का अपना कुछ भी नहीं होता
वो तो उसी की होती है-जिसके नाम लिख दी जाती है।
पनपने से पहले ही-हिस्से-बखरे लग जाते हैं उसके
टुकड़े-टुकड़े बांट दी जाती है
जिसके हिस्से में जो टुकड़ा आये, चाहे तो फ़सल उगाये या न उगाये।
खोदी जाती है, पीटी जाती है
फिर भी हक़दार कहलाने वालों को
उनका हक़ देती रहती है।
ज़मीन बड़ी वफ़ादार होती है
लेकिन कहीं न कहीं तो कुछ बच रहता है, बंट जाने से!
नहीं तो-कैसे उग आते हैं
ये वहशी कैक्टस-जंगली ककरोंदे
ज़मीन के ये नाजायज़-मगर अपने पौदे!

पेशकश : अर्जुमंद आरा

जीशान साहिल की कुछ नज़्में

जीशान साहिल कराची के रहने वाले थे, उनका देहांत 12 अप्रैल 2008 को कराची में हुआ। उनके छः कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं : 1. नीम तारीक मुहब्बत, 2. कुहर आलूद आसमान के सितारे, 3. ई.मेल और दूसरी नज़्में, 4. शबनामा और दूसरी नज़्में, 5. कराची और दूसरी नज़्में, 6. जंग के दिनों में।

एक लड़की ने आइना देखा

एक लड़की ने आइना देखा
आइने में खिले हुए थे फूल
आइने में चिराग़ जलते थे
आइना एक रहगुज़र¹ था जहां
ख़्वाब, ख़्वाबों के साथ चलते थे
आइने में बना हुआ था बाग़
बाग़ में शाम होने वाली थी
(शाम के फैलते अंधेरे में
लड़कियां बाग़ में नहीं जातीं)
आइने में न था कोई दरिया
आइने में न था कोई जंगल
आइने में न था कोई सह्रा
आइने में न था कोई बादल
आइने में बस इक समंदर था
(लड़कियां जिससे डरती रहती हैं)
और समंदर की नीलगूँ² तह³ में
एक लड़की ने आइना देखा
आइने में खिले हुए थे फूल
आइने में चिराग़ जलते थे
आइना एक रहगुज़र था जहां
ख़्वाब, ख़्वाबों के साथ चलते थे।

1. रास्ता, 2. नीलाहट लिये हुए, 3. तला।

कराची के लिए एक नज़्म

जाने क्या लिक्खा हुआ था सुबह के अख़बार में
काम इतने हैं कि दिन-भर याद आते ही नहीं
रात में ख़्वाबों से भर जाता है कोठारी परेड
शाम का पहला सितारा ये बताता ही नहीं
रोज़ ईंटें जोड़ते मज़दूर हर इतवार को
दोस्तों के साथ इक पिकनिक मनाना चाहते हैं
या किसी दिन गांव में इक घर बनाना चाहते हैं
रात-दिन बढ़ती ही रहती है निगाहों में महब्बत की चमक
रात-दिन मसरूफ़ रहते हैं परिंदों की तरह उड़ने में दिल
ये परिंदे उम्र-भर इक गीत गाना चाहते हैं
दूर तक फैले संमदर में जहाज़ों की तरह
ये परिंदे उड़ते-उड़ते डूब जाना चाहते हैं।

—लिप्यंतरण : अर्जुमंद आरा

इकराम खावर की कुछ नज़्में

काला धुआं

जान देने को बाकी कहीं कुछ न था
जिंदा रहना ज़िबिल्लत¹ की तजसीम² था
लोग कब के सभी जा चुके थे
बताने को मौजूद कोई न था
कब, कहां और क्यूंकर
मैं पैदा हुआ!

इल्म मुतलक³ न था
कि बल्⁴ के अंधेरों से
दुनिया के उजियाले तक आते-आते
मेरी शक्ल व सूरत
गिलहरी के बच्चे से मिलती थी
या सांप के
बल्लिक
इस वक्त, इस गर्म, महबूस⁵
तपती हुई सह-पहर⁶ के घटाटोप सन्नाटे में
सोच पाने से माज़ूर हूं
कि कभी एक मजबूर व लाचार बच्चे-सा
धरती पे लाया गया।

ताज़ा-ताज़ा अभी
चीर डाला है जियालों ने
धरती का फूला बल
ताज़ा-ताज़ा कटी काश-सी
खूं के धारों में लिथड़ी हुई
गैर मरई⁷ खते-इस्तवा⁸ से लटकती हुई
ये ज़मीं

और फ़िज़ाओं में भरता हुआ
ऊद व अंबर से उठता हुआ
तेज़ ज़हरीला
काला धुआँ !!

1. मूल वृत्ति, 2. मूर्तिमान होना, 3. ज़रा-सा भी, 4. गर्भ, 5. हब्स से भरा, 6.
तीसरा पहर, 7. अस्पृश्य, 8. विषुवत रेखा

उदासी

उदासी
इतनी गहरी थी
कि सब कुछ मुलतवी¹ था
मुलतवी था
मुस्कुराना, गुनगुनाना
हल्की, गहरी नींद सोना
कव्वों के हमराह²
घर की छत से उड़ना
आम की ऊंची घनी शाखों में
छिपकर बैठ जाना
सबसे मीठे फल चुराना
बारिशों में भीगना
पर फड़फड़ाना
धूप में तपना-तपाना
पर सुखाना।

मुलतवी था
रोज़ इक बांकी अदा से
शहर के बाज़ार में गश्तें लगाना
गुलरुखों को देखना
और आह भरना
किसी नौखेज़ क़त्ताला³ के पीछे
दूर तक जाना

किसी भीगी हुई रत में
तेरे हमराह

अपनी सालखुर्दा, जंगखुर्दा, गुमगुर्जादा
साइकिल पर
शहर के चक्कर लगाना
तेज और ऊंचे सुरों में
इश्किया गाने सुनाना
मुलतवी था
दूर-उफ़तादा
किसी गुमनाम स्टेशन की सूनी बेंच पर
सोना
सितारों, बादलों से नित नयी साजिश रचाना
भरे दिल से जहां को देखना
और हल्के-हल्के कश लगाना
गिरिया-ए-शबनम⁴ को अपनी पलकों पर महसूस करना
दोस्तों के साथ पिछले पहर तक बहसें लड़ाना
गजरदम
रात की मतवाली खुशबू से मुअत्तर⁵ जागना
और मुश्क-ए-शब⁶ के सेहर⁷ में
गुमगश्ता मिसरे गुनगुनाना ।

सियाहबख्ती⁸
इतनी गहरी थी
कि सब कुछ मुलतवी था
मुलतवी था
किसी सरकश⁹ नदी की मौज-सा
चट्टानों से सर फोड़ना
बदमस्त हाथी सा ज़माने से गुज़र जाना
शरारे-सा बिखरना और शोलों-सा भड़क जाना
दमकना और बुझ जाना
सिमटना, फ़ैलना और फिर दमक जाना
मिसाले-क़तरा-ए-सीमाब¹⁰
हर लम्हा, तड़पना
और तड़पाना
तपाना आहनो-फ़ौलाद¹¹
संगीनें बनाना ।

ब-हस्बे-हिकमतो-हाजत¹²

जमीं के मरकजो-महवर¹³ को
खिसकाना !!

1. स्थगित, 2. साथ, 3. कम उम्र, कृतिल बाला, 4. ओस का रुदन, 5.
सुगंधित, 6. रात की मुश्क, 7. जादू, 8. काली किस्मत, 9. उदंड, 10. पारे के
टुकड़े की तरह, 11. लोहा और फौलाद, 12. बुद्धि और आवश्यकता के अनुसार,
13. केंद्र व धुरी।

तुफ़ा तमाशा

दर्द से हद दरजा तनपफुर¹ के बावजूद
दरअसल, मुझमें
दर्द की बेजवाज़² फ़रावानी³ थी
बिला सबब ही
मैं बुरी ख़बरों का मस्कन⁴ बन चुका था
उधर नेक तीनत वज़ीरे-ए-आज़म⁵
मुल्की काबीना⁶ में
क़ौम के ताबनाक⁷ मुस्तक़बिल की तामीर में मसरूफ़ था
इधर मैं
ग़म ग़लत करने में
उधर
नाक रगड़कर फ़र्श चमकाती महालक्ष्मी
बेटी के लिए
रोटी की महक से मुअत्तर⁸
घर की तलाश में।

मुल्क बदल रहा था
तक़दीरें बदल रही थीं
किसान खुदकुशी में मसरूफ़ था
हसीना-ए-शहर
जिस्मफ़रोशी में
मजदूर खुदसोजी⁹ में मसरूफ़ था
शोहदे
उठाईगीरों को बाइज़्ज़त बनाने में
कममाया¹⁰ चोर-उचक्के
दिन-दहाड़े

शहर के चौराहे पर
तिल, तिलकर
घिसट-घिसटकर
मरने में
दानिशवर¹¹ अल्फ़ाज की जुगाली में
जवानाने-शहर
मुश्तज़नी¹² में।

जिस्मों, तमन्नाओं की रेलम-पेल थी
हसरतों की आमाजगाह¹³ ये जिस्म भी
दरअस्ल
अंदामे-निहानी¹⁴ और आज़ा-ए-तनासुल¹⁵ की तजसीम¹⁶ था
और जवानी जो बिस्तर के काम न आ सके
जवानी के जुमरे¹⁷ से ख़ारिज थी!!!

1. नफ़रत, 2. औचित्यहीन, 3. अधिकता, 4. घर, 5. प्रधानमंत्री, 6. मंत्रिमंडल, 7. जगमग, 8. सुर्गाधित, 9. आत्मदाह, 10. छिछोर, कम-हैसियत, 11. बुद्धिजीवी, 12. हस्तमैथुन, 13. क्रीड़ा-स्थल, 14. योनि, 15. शिश्न, 16. साकार होना, 17. श्रेणी

मनमोहन की तीन कविताएं

नया ज़माना

उलझा हुआ सूत का गठ्ठर और उलझता जाय रहा
तिस पर बैठा आसन मारे यार मेरा मुस्काय रहा।

तेरा दुखड़ा तेरी गाथा पगले वो क्या समझैगा
वो जो आंखें मूंदे-मूंदे फूली-फूली खाय रहा।

देख लिया है, देख रहे हैं, देखेंगे ये कहता है
इस देखादेखी में यारो क्या-क्या दिन दिखलाय रहा।

लूमड़, भालू, सांप, नेवले खूब जिनावर निकले हैं
खुश है बंदा क्या कहने हैं पशु मेले लगवाय रहा।

चोर, उचक्के, चढ़ टीले पै हमको ये समझाते हैं
ऐसा वैसा कुछ मत करना नया ज़माना आय रहा।

रोंयेदार, गझिन ये काली कैसी रातें आयी हैं
महफ़िल के बाहर तो झांको हू का आलम छाय रहा

ढोल, मजीरे बजते हैं अब प्रेत जागने वाले हैं
चाकू, छुरियां, तेज करालो गली-गली चिल्लाय रहा

कैसी बौराई लपटें हैं, कैसे खूनी बादल हैं
वो कहता है, है ना रौनक, नूर बरसता आय रहा।

मारता है तब 'क्या मारा है', लूटै तब 'कैसे लूटा'
बोलेंगे, फिर बोलोगे, देखा कैसा बुलवाय रहा

टूट गये जो धागे उनका हमको बहुत अफ़सोस रहा
क्या जानै जो चढ़ डाली पर अपनी बीन बजाय रहा।

मुफ़लिस के आंगन में यारो अभी मसख़रा आया है
फ़िक्र न करना पीछे-पीछे पूरा लश्कर आय रहा।

बाकी क्या कुछ रह जाता है

मान लिया है
छोड़ दिया है
यार मेरे ने
चैन से रहना
सीख लिया है
बाकी क्या कुछ रह जाता है

कहता है
दुनिया ये कानी क्या रक्खा
थोड़ी ज़िंदगानी
खा पी ले
दिन चार यहां हैं
सब मतलब के
यार यहां हैं

क्या खोया है
क्या टूटा है
पूछ रहा है
कितने का है

ये होता है
यूं होता है
सब जाने वो
क्यूं होता है
नुक़ता जो है
पकड़ लिया है
बाकी क्या कुछ रह जाता है ।

मूरख है
जो पीछे देखे
यां को देखे
वां को देखे
सुनना क्या है

ऊपर क्या और
नीचे क्या है
सारा मसला
समझ लिया है
बाकी क्या कुछ रह जाता है

एक दिन मैं
जा पहुंचा भाई
बोला क्यों
तकलीफ उठायी

मैंने उसको
दिया रिसाला
उसने मुझको
पान मसाला

तब उसने
अपना मुंह खोला
छूने से पहले
यूं बोला
ख्रामख्राम
तकलीफ उठायी
मैं सब
समझ चुका हूं भाई
क्या अनवादी
क्या जनवादी
होते हैं
सारे बकवादी

नहीं किसी में

कोई दम है
फिर मुझ पर कुछ
पैसे कम हैं
इधर अभी
थोड़ी दिक्कत है
खा पी लूं
इतनी फुरसत है

चक्कर लगे कभी फिर आना
भाभी जी को
संग में लाना
बाकी क्या कुछ रह जाता है

तुही मुंसिफ ठहरा

सुनिए फिर अपनी वही 'चाये लो गरम चाये'
यानी फिर बुद्धू मियां घर को लौटकर आये

न हो उदास अभी जैसे हो अपना काम चला
क्या पता तू भी कल को मालामाल हो जाये

चलाये चलते रहे सो यहां पै आन लगे
तुम्हारी जादूगरी देखते चले आये

खूब था अपना तमाशा जिसे जी भर देखा
तेरे हुनर की ही तरीफ़ हम भी कर आये

सबसे जो ऊंची अदालत थी वह भी कहती थी
कि हम पकाया करें खाना और तू खाये

तू वकील तू दलील तुही मुंसिफ ठहरा
अब तो बस जल्द तिरे दिल की सी बात हो जाये

विरासत

अमीर खुसरो देहलवी : हमारी तहज़ीब का नुमाइंदा शाइर¹ शरीफ़ हुसैन कासमी

अमीर खुसरो देहलवी 1253 ई. में पैदा हुए और 1345 में फ़ौत² हुए। उनके वालिद³ तुर्क सरदार थे और बलख़ से हिंदुस्तान आये थे। यह अलतमिश की हुकूमत का ज़माना था। उनके वालिद सैफ़उद्दीन महमूद ने एक हिंदुस्तानी निज़ाद⁴ अमीर अमादुल मलिक के यहां से शादी की। अमादुल मलिक बड़ी अहम और बाअसर शाख़ियत के मालिक थे। खुसरो अभी छोटे ही थे कि उनके वालिद गुज़र गये। अब उनके नाना अमादुल मलिक ने खुसरो की परवरिश की। इस तरह खुसरो एक हिंदुस्तानी माहौल में बड़े हुए। ख़ानदानी रिवायत⁵ के मुताबिक़ खुसरो भी दरबार से वाबस्ता⁶ हो गये। अब फ़राएज़-मनसबी⁷ की अदाएगी ने इन्हें हिंदुस्तान के मुख़तलिफ़ इलाक़ों के सफ़र पर मजबूर किया। वह अपनी जाए-पैदाइश⁸ पटियाली से देहली आये थे। फिर देहली से सामाना गये। सामाना से फिर देहली आये। बंगाल का दूरदराज़ का सफ़र उन्हें पेश आया। बंगाल से फिर देहली लौटे तो बलबन का बेटा और वलीअहद⁹ ख़ान शहीद उन्हें अपने हमराह¹⁰ मुलतान ले गया। मुलतान से बुरी हालत में फिर देहली वापस आये तो ख़ान जहान के साथ उन्हें अवध जाना पड़ा। वह एक बार देवगिरि यानी दौलताबाद भी गये। इस तरह उन्होंने घाट-घाट का पानी पिया। हिंदुस्तान का बड़ा इलाका देख लिया। हर जगह के लोगों से मुलाक़ात की। उनकी मआशरत¹¹ का मुशाहदा¹² किया। उनकी तहज़ीब से आशनाई हासिल की। उनकी ज़बानें और लहजे सुने। हिंदुस्तान के इन इलाक़ों की आबो-हवा, जुग़राफ़िया-कैफ़ियत¹³ और तारीख़ी¹⁴ हैसियत की वाक़िफ़ियत का इन्हें मौक़ा मिला। उन्होंने हिंदुस्तान और इसकी तहज़ीब की क़रामत¹⁵-व-अज़मत¹⁶ के नज़ारे किये। यहां की तहज़ीबी, मज़हबी और लिसानी¹⁷ रंगारंगी के मुनफ़रिद¹⁸ और दिलचस्प पहलुओं ने उन्हें इन्हीं तरफ़ मतब्ज़ा¹⁹ किया। वह दिल से हिंदुस्तानी तो थे ही, अब मुल्क की नौईयत की रंगारंगी ने, जिसकी वजह से हिंदुस्तान एक ज़िंदा अजायबख़ाना था और आज भी है, इन्हें इसकी अज़मत का क़ायल कर दिया। इस तजुर्बे और मुशाहदे के नतायज हमें खुसरो की तक़रीबन हर किताब में बिखरे नज़र आते हैं। मौक़ा महल हो या न हो, वह अपने वतन के तराने गाते थे, इसका सबूत मौजूद है कि खुसरो की ज़िंदगी ही में इनका कलाम हिंदुस्तान से या बाहर भी फ़ारसी दुनिया में, जो उस वक़्त दुनिया के एक बड़े और मतामद्दुन²⁰ हिस्से पर मुशतमिल²¹ थी, पहुंच गया था। जाहिर है इसमें वो कलाम²² भी था, जिसमें हिंदुस्तान की तहज़ीबी तारीख़ की झलकियां भी थीं। इस तरह खुसरो ने अपने कलाम से हिंदुस्तान और इसकी तमद्दनी अज़मत का दूसरे

1. हमारी संस्कृति का प्रतिनिधि कवि, 2. दिवंगत, 3. पिता, 4. वंश, 5. परंपरा, 6. संबद्ध, 7. पद के कर्त्तव्य, 8. जन्मस्थान, 9. उत्तराधिकारी, 10. साथ, 11. सामाजिकता, 12. अनुभव, आकलन, 13. भौगोलिक स्थिति 14. ऐतिहासिक, 15. शिखरता, 16. महानता, 17. भाषायी, 18. विभिन्न, 19. अलग पहचान, 20. सांस्कृतिक, 21. आधारित, 22. रचना ।

ममालिक में तआरुफ़ कराया। तूती हिंद अमीर खुसरो की इस वजह से बजा तौर पर हिंदुस्तान का तहजीबी-सफ़ीर¹ कहा जाना चाहिए। इसी सूरत हाल के पेशनजर खुसरो को हिंदुस्तान का अलबरूनी भी कहा गया है।

खुसरो ने अपनी मुख़तलिफ़ किताबों में हिंदुस्तान और हमारी तहजीब के बारे में जो कुछ लिखा है, इस पर सरे-हासिल बहस के लिए एक मुफ़स्सिल² किताब दरकार है। हम यहां इस मौजू के महज़ चंद पहलुओं पर इजमाली³ रौशनी डालेंगे।

अपना वतन किसे पसंद नहीं होता। कौन है जो अपने वतन से मुहब्बत न करता हो। खुसरो भी एक मुहब्बे-वतन⁴ थे। खुसरो से पहले और बाद में भी हिंदुस्तानियों ने अपने वतन को जन्त-निशान कहा। सोने की चिड़िया कहा और न जाने क्या-क्या। खुसरो ने भी अपने वतन के लिए इसी तरह के जज़्बात का इज़हार किया, लेकिन कम हैं ऐसे लोग जिन्होंने हिंदुस्तान की अज़मत और इसकी इन्फ़रादियत⁵ साबित करने और इससे मुहब्बत के असबाब की तलाश के लिए खुसरो की तरह खुद से यह सवाल किया हो कि : मैं हिंदुस्तान से क्यों टूटकर मुहब्बत करता हूँ? खुसरो अपने इस सवाल का जवाब देते हैं कि इसकी दो बुनियादी वजूहात हैं। एक : यह मेरा वतने-अजीज़ है और पैग़ंबर इस्लाम की एक हदीस की रौ से 'अपने वतन से मुहब्बत हमारे हक़ीदे का हिस्सा है।' दूसरी वजह यह कि हिंदुस्तान कर्रा-एअर्ज़⁶ पर जन्त है। खुसरो हिंदुस्तान के इम्तियाज़ात⁷ पर मज़ीद⁸ रौशनी डालते हैं कि :

जब आदम ने गेहूँ के पौधे को हाथ लगाया और इस तरह हुक्म उदूली की तो उन्हें जन्त से निकाल दिया गया और हिंदुस्तान में उतारा गया। उन्हें क्यों हिंदुस्तान में भेज दिया गया? इसलिए कि आबो-हवा, और अपने कुदरती मनाज़िर के लिहाज़ से आदम के लिए ख़रासां, अरब और चीन की बनिस्बत हिंदुस्तां ज़्यादा आरामदे और मानूस था।

ताऊस एक समझदार और जन्त का परिंदा है। अगर हिंदुस्तान जन्त निशान न होता तो फिर यह ताऊस का घर भी न होता। मसीही रिवायत⁹ के मुताबिक़ आदम से गुलती हुई। इसका ज़िम्मेदार सांप था। इसलिए उसे भी जन्त से निकाल दिया गया। खुसरो कहते हैं कि सांप दूसरे मुल्कों में भी पाये जाते हैं, लेकिन इसका हिंदुस्तान में पाया जाना भी इसका सबूत है कि यह मुल्क जन्त का निशान है।

जो थी दलील यह है कि आदम ने हव्वा की तलाश में हिंदुस्तान तो तर्क कर दिया और फिर उन्हें सरगरदां¹⁰ और मारे-मारे फिरना पड़ा।

हिंदुस्तान ऐशो-इशरत के वाफ़िरो-वसाइल¹¹ का मुल्क है। यह बाग़ों का मुल्क है, जिनमें तरह-तरह के खुशबूदार फूल सारे साल खिले रहते हैं। यह फूल रोम और खुरासान के फूलों की तरह नहीं, जो बस दो-तीन माह खिलते और फिर नाबूद हो जाते हैं। खुसरो की मादरी-ज़बान¹² हम जानते हैं कि फ़ारसी नहीं थी। हिंदवी रही होगी। इसलिए खुसरो को इस ज़बान से दिली लगाव था :

ग़लत कदर्म गर अज़ दानिश ज़नी दम
न लफ़्जे-हिंदी अस्त अज़ फ़ारसी कम

वह इस ज़बान की खुसीसियात बयान करते हैं और संस्कृत के बारे में लिखते हैं कि हिंदी

1. सांस्कृतिक-राजदूत, 2. विस्तृत, 3. सरसरी, 4. देशप्रेमी, 5. पृथक पहचान, 6. भूमंडल, 7. विशेषताओं, 8. अतिरिक्त, 9. परंपरा, 10. इधर-उधर भटकना, 11. प्रचुरता, 12. मातृभाषा

ज़बान फ़ारसी से कम नहीं बल्कि सिवाय अरबी ज़बान के जो तमाम ज़बानों पर हुक्मरां की हैसियत रखती है, बाकी अक्सर ज़बानों पर इसको तरजीह हासिल है। अरबी की खुसूसियत यह है कि इसमें अजनबी ज़बान की आमेज़श¹ नहीं हो सकती, फ़ारसी में यह नुक्स² है कि इसमें अरबी अल्फ़ाज़ की आमेज़श नागुरेज़ है। हिंदी में भी दूसरी ज़बानों खास तौर पर फ़ारसी के अल्फ़ाज़ दाख़िल नहीं हुए हैं और इसकी गुंजाइश भी नहीं :

ज़बाने-हिंद हम ताज़ी मिसाल अस्त
कि अमेज़िश दर आंजा कम मजाल अस्त

हिंदी सफ़ी-नहव के उसूलो-क़वायद³ अरबी की तरह बाक़ायदा लिखे हुए नहीं हैं। यह ज़बान मआनी और ख़्यालात के इत्बार भी दूसरी ज़बानों से किसी तरह कम नहीं :

वमर पुरसी निआइज अज़ मआनी
दर आनिज़ अज़ दिगरहा कम नदानी

खुसरो ने अपने फ़ारसी कलाम में मुतअदिद⁴ हिंदी अल्फ़ाज़ इस्तेमाल किये हैं जो इसका सबूत है कि खुसरो इस ज़बान से वाकिफ़ थे। जैसे : कठगर, तीता, चंदन, तिलवाड़ा, (देहात, झोंपड़ा)।

खुसरो ने दरिया-ए-गंगा को नील, दज़ला पर फ़ौक़ियत⁵ दी है और हिंदुस्तानी तूती उनकी नज़र में बुलबुल से बेहतर है :

किसी कज़ गंगे हिंदुस्तान बोवद दूर
नीलो-दज़ला लाफ़द हस्त मा'ज़ूर
चू दर चीन - दीद बुलबुले बोस्तां रा
च दानद तूती - ए - हिन्दुस्तां रा

खुसरो हिंदुस्तान की मनसूजात के भी क़ायल थे। वह ऐसे दौर के बेशबहा हिंदुस्तानी कपड़े की तारीफ़ करते हैं। इस कपड़े को देवगिरि कहते थे, चूँकि यह देवगिरि में तय्यार होता था। वह कहते हैं कि परियों की आदत रखने वाले हसीन यह बात जानते हैं कि देवगिरि के इस्तेमाल में जो मज़ा और उल्फ़त है, वह कतान में कहां। देवगिरि तो सूरज की रौशनी की तरह है। या फिर उसे माहताब⁶ कहना चाहिए। खुसरो ने पान की बड़ी तारीफ़ की है। उसे बाज़⁷ इमराज़⁸ का कारगर इलाज बताया है। वह एक जगह कहते हैं कि हिंदुस्तानी खुरासानियों को गंवार समझते हैं, चूँकि पान उनके नज़दीक बस एक घास है :

खुरासानी कि हिंदी गीर दश गोल
खुसी बाशद बे नज दश बर्ग तम्बोल

जो जिंदगी का ज़ौक़ रखता है, वही जानता है कि पान चबाने में ही ज़ैक़े-ज़िंदगी मुज़मिर है :

शनासद आं कि मर्द जिंदगानी मस्त
कि ज़ौक़े-बर्ग ख़्वाह ज़ौक़े-जानी अस्त

खुसरो ने मुख़तलिफ़ हिंदुस्तानी फलों का तआरुफ़ कराया है। उनकी खुसूसियात बयान की हैं। वह कहते हैं कि मैं हिंदुस्तानी चीज़ों की तारीफ़ और उनकी दूसरी जगहों की महसूलात⁹ पर तरजीह देता हूँ। बेजा तरफ़दारी से काम नहीं लेता। सच तो यह है कि जो शख्स अपने मुल्क

1. मिलावट, 2. कमी, 3. नियम-सिद्धांत, 4. बहुसंख्य, 5. प्राथमिकता, 6. चांद, 7. कई, 8. रोग, 9. चीज़ों ।

की तरफ़दारी करेगा, वही यह बे-इन्साफ़ी कर सकता है कि हमारे आम को इंजीर से कम दर्जा दे। खुसरो ने मुतअदिद¹ हिंदुस्तानी फूलों का तआरुफ़ भी कराया है। उनकी खुसूसियात बयान की हैं। और दूसरे ममालिक के फूलों पर उनकी फ़ौकियत के असबाब भी बयान किये हैं।

गुलकोज़ा और सदबर्ग, बेला, जूही, केवड़ा, रायचंपा, मोलसरी (मौलश्री) वगैरह हिंदुस्तानी फूल हैं, जिनके खुसरो ने गुन गाये हैं। खुसरो का ख़याल है कि हिंदी में इन फूलों के अच्छे नाम नहीं, वरना हर फूल बाग़े बहिश्त का दर्जा रखता। अगर यह फूल रोम और शाम में उगते और फ़ारसी और अरबी में उनके नाम होते तो उन इलाकों के परिदे ईरान और तुर्की की तारीफ़ो-तौसीफ़² में आसमान सर पर उठा लेते। क्या तुमने किसी ऐसे फूल के बारे में सुना है जो दरख़्त से टूटने के बाद भी साल-भर तक खुशबू देता रहे। यह केवड़े के फूल के बारे में कहा गया है। खुसरो ने हिंदुस्तानी हुस्न के गुण भी गाये हैं। उन्हें यहां की सलाहियत में जो जाज़बियत³ है, वह किसी दूसरी जगह नज़र नहीं आती। हिंदुस्तान के हसीन खूबां आलम पर तमाम सिफ़ाते-हुस्न में फ़ायक़ हैं। इस सिलसिले में मिस्र, रोम, कंदहार, समरकंद, रफ़ता व खुतन (चीन), यग़मा और खुल्लक जैसे हुस्न-खेज़ ख़ित्ते भी हिंदुस्तान का मुक़ाबला नहीं कर सकते। जो चुस्ती और चालाकी हिंदुस्तानी के हुस्न में है, वह दूसरी जगह नहीं है :

बे मिस्रो-रूम हम सीमिन खुदाबंद
वली चुस्ती-व-चालाकी निदानंद

खुसरो ये बताना भी नहीं भूले कि यहां के रजपूत बहादुर कभी चुपके से हमला नहीं करते। इनके साथ हमेशा एक भाट होता था जो अपने आका की आमद का एलान करता था और उसकी ज्ञात और ख़ानदान के गुन गाता था। खुसरो ने राजा रणथम्भौर का ज़िक्र किया है, जिसने अपने राजनिवास की सारी औरतों को नज़े-आतिश⁴ कर दिया और महासरीन⁵ पर हमला कर दिया और खुद भी जान दे दी।

कुरूनो-वुस्ता (मध्यकालीन) में हाथी हिंदुस्तान की अज़मत और बुजुर्गों और शानो-शौकत का मज़हर⁶ था। खुसरो ने बड़ी तवज्जो से उसकी एक-एक तफ़सील लिखी है। हाथी का जिस्म, उसके नुकीले सुनहली दांत, उसका साज़ो-योरक़ (हौदा), उसका खाना, उसकी आदतें, बादशाह और उमरा की सवारी के लिए उसका इस्तेमाल, जंग में उसकी अहमियत, फ़ीलवान⁷ के लिए उसकी अताअत⁸ और नादारी⁹, उसकी सूझबूझ-खुसरो ने इन बातों पर बड़ी फ़नकारी से रौशनी डाली है। वह घोड़ों के बयान में भी महारत का मज़ाहरा¹⁰ करते हैं। उनकी नस्लें, उनके रंग, वह कौन-से रंगो-नस्ल के घोड़े हैं, जिन्हें उमरा और बादशाह पसंद करते और भारी दाम देकर ख़रीदते थे।

खुसरो ने हिंदुस्तान को उलूमो-मआरफ़त का मुल्क बताया है। यहां हर जगह से लोग इल्म हासिल करने आते हैं। लेकिन हिंदुस्तानियों को इसकी ज़रूरत नहीं पड़ती कि इल्म हासिल करने किसी दूसरी जगह जाये। इल्म-हिंदसा¹¹-हिंदुस्तान की देन है। सिफ़र¹² हमारी ईजाद है, जिसने एक इन्क़लाब बरपा कर दिया। पंचतंत्र हमारी किताब है।

शतरंज का खेल हमने ईजाद किया था। पंचतंत्र और शतरंज हिंदुस्तान से ईरान और फिर दुनिया के दीगर ममालिक में मुतआरुफ़¹³ हुई।

1. असंख्य, 2. प्रशंसा-सम्मान, 3. आकर्षण, 4. आग के हवाले, 5. दुश्मनों, 6. उदाहरण/प्रतीक, 7. हाथीवान, 8. मान-सम्मान, 9. बुद्धिमती, 10. प्रदर्शन, 11. शून्य का आविष्कार, 12. शून्य, 13. परिचित ।

हिंदुस्तान और हिंदवी से तआल्लुक़ खातिर की वजह से खुसरो ने हिंदवी में शाइरी भी की।

खुसरो और हिंदुस्तान का ज़िक्र हो और खुसरो की मौसीकी से वाक्फ़ियत और हिंदुस्तानी मौसीकी से उनकी रग़बत का ज़िक्र न हो, यह मुमकिन नहीं। खुसरो ने अपनी एक नम्नी-तसनीफ़² 'एजाज़े-खुसरवी' में इंशआबे-उसूली-फुरू-ए-मौसीकी के उन्वान से हिंदुस्तान के लोगों, चीज़ों और तरीकों पर तफ़सील³ से बहस की है। वह अपनी मसनवी 'नोसिपहर' में कहते हैं कि हिंदुस्तानी मौसीकी सारी दुनिया की मौसीकी से अरफ़ा-व-आला⁴ है। वह देवगिरि मौसीकी की बरतरी⁵ साबित करते हैं और कहते हैं :

'दूसरी चीज़ सुरूर है, जिसके तारों को छेड़ने से ऐसी दिलशाद और दिलगीर आहें निकलती हैं, जैसे ज़हरा ने अपना साज़ छेड़ा हो। अगर उसकी मौसीकी से मुर्दा जी उठे तो ताज्जुब की बात नहीं, क्योंकि हर धुन वाक़ई नयी ज़िंदगी बख़्शाती है। अरगुनून (साज़) का नग़मा फ़िराक़ का गीत मालूम होता है, लेकिन सुरूर की मौसीकी बुलबुल के नग़मे की तरह दिलक़श है।

'एजाज़े खुसरवी' में, खुसरो के बयानात से मालूम होता है फ़रग़ाना, बाख़रज़ और ख़रासां के मौसीकारों⁶ का हिंदुस्तानी मौसीकारों से मोक़ाबला होता था। हिंदुस्तानी मौसीकार ग़ैर-मुल्कियों से बेहतर होते थे। खुसरो की निगरिशात⁷ से पता चलता है कि वह हिंदुस्तानी क्लासिकी मौसीकी से बड़ी हद तक वाक्फ़ थे। उन्होंने हिंदुस्तानी, ईरानी और ग़ालिबन अरब मौसीकी पर दस्तरस की है और यह मिले-जुले राग और आहंग ईजाद किये—

ख़याल, क़ौल, क़ल्बाना, नक़शोनिगार, ज़म, खसीत, साज़गीरी, तराना, ग़नम, गुल, ऐमन, सुहेला, सरपर्दा, मुजीर और फुरुदस्त।

अमरी खुसरो ने हिंदुओं को इस्लाम के मानने वालों के अलावा दूसरे मज़ाहिब के पैरोकारों के मुक़ाबले में तरजीह दी है। वह हिंदुओं का इन अल्फ़ाज़ में तआरुफ़ कराते हैं कि यह मज़हबी एतबार से वजूद-बारीतआला⁸ और हस्ती-व-क़दम⁹ को मानते हैं। इसका बहस है कि इस आलम-ईजाद को अदम से वजूद में लाने वाली है। वही हर आरिफ़-व-आमी,¹⁰ जाहिद-व-आसी¹¹ को रोज़ी देता है। वही हर जानदार को ज़िंदगी बख़्शाता है। हर ख़ौशर¹² और नेकी-व-बदी¹³ का वही ख़ालिफ़ है। उसकी हिकमतो-हुक्म अज़्ली और अब्दी¹⁴ है। वही अज़ल है हर चीज़ो-कुल का फ़ायल-मुख़्तार¹⁵ है। अमीर खुसरो के ख़याल के मुताबिक़ हिंदुओं और मुसलमानों में बहुत से अकायद¹⁶ मुश्तरके¹⁷ हैं। इसी तरह खुसरो चारों वेदों का भी ज़िक्र बड़ी सताइश-आमेज़¹⁸ ज़बान में करते हैं और उन्हीं गनजीना-ए-हक़ायक़ो मआरिफ़¹⁹ के तौर पर मतआरुफ़ कराते हैं।

यह है अमीर खुसरो और उनका हुक्वे-वतन। आपने हिंदुस्तान और यहां के लोगों और उनकी हर चीज़ से खुसरो का ज़ब्बाए-मुहब्बत और शिफ़तगी²⁰ देखी। खुसरो कोना नशों

1. लगाव, 2. रचना, 3. विस्तार, 4. श्रेष्ठ और उच्च, 5. श्रेष्ठता, 6. संगीतज्ञों, 7. कृतियों, 8. परमेश्वर, 9. अवतारों, 10. अमीर-गरीब, ऊंचा-नीचे, 11. संत-असंत, 12. भलाई-बुराई, 13. अप्पाई-बुराई, 14. आदि-संत, 15. स्वामी, 16. विश्वास, 17. समान, 18. प्रशंसात्मक, 19. यथार्थ, 20. उदारता ।

नहीं थे। कारज़ारे-हयाते¹ में वह पूरी तरह नाबर्दआज़मा² रहे। उन्होंने गहराई से हिंदुस्तानी तमद्दुन का मुतआला³ किया। न सिर्फ़ यह बल्कि उसको अपने किरदार में जज़ब भी किया। उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह उनके तज़ुरबाती-मुशाहदात का निचोड़ है। उसमें उनकी वो वुस्अत⁴ मशरबी⁵ भी शामिल है जो कुदरत ने उन्हें वदीअत⁶ की थी। सच तो यह है कि जब हम अमीर खुसरो के मुतअल्लिक़ गुफ़्तगू करते हैं तो उससे मुराद कोई फ़र्द⁷ नहीं होता बल्कि उसका मक़सूद⁸ वो तमद्दुनी-इर्तिका⁹ और इंसानी सरगर्मी की वो मुतहरिक¹⁰ रफ़्तार होती है, खुसरो जिसकी जोलान गाह (दौड़ने का मैदान) थे। अमीर खुसरो जैसी शख़्सियती-किरदार के हामिल¹¹ अफ़राद कभी-कभी पैदा होते हैं और जब पैदा होते हैं तो हयात-जावेद¹² लेकर आते हैं। वह सिर्फ़ अपने दौर और मआसरीन¹³ ही पर नहीं, बल्कि आने वाले वक़्त और नस्लों पर भी कभी न मिटने-वाले नक़्श-सिब्त¹⁴ करते रहते हैं। बक़ौल इक़बाल :

रहे न ऐबक़ व-ग़ौर के मअरके बाक़ी
हमेशा ताज़ा-व-शिरीं है नग़मा-ए-खुसरो

1. जीवन-कर्म, 2. सक्रिय, 3. अध्ययन, 4. विशालता, 5. आध्यात्मिक, 6. जन्मजात देना, 7. व्यक्ति, 8. उद्देश्य, 9. सांस्कृतिक उन्नति, 10. आंदोलित, 11. समर्थ, 12. जीवन-साक्ष्य, 13. समकालीन, 14. चिह्नित ।

उर्दू का पहला बागी शायर : जाफ़र ज़टल्ली अली जावेद

मुख्तलिफ़ खयाल से जाफ़र ज़टल्ली (1658-1713) की जिंदगी के बारे में जो मालूमात हासिल हुई हैं, उनके मुताबिक इनका नाम मोहम्मद जाफ़र था और ज़टल्ली तखल्लुस था। इनकी पैदाइश नारनोल (आज का हरियाणा) में हुई और बचपन में ही वालिद का साया सर से उठ गया और चचा की सरपरस्ती में पले-बढ़े और तालीम हासिल की।

बचपन से ही तबीयत में फक्कड़पन था। जो बात पसंद न हो, उसका खुल्लम-खुल्ला इज़हार कर देते और ये मिज़ाज आख़री उम्र तक बाकी रहा। हक़ बात का साफ़-साफ़ इज़हार और समझौता न करने की सज़ा यह मिली कि शहज़ादा कामबख़्श की फौज़ में मुलाज़मत की और किसी बात पर ख़फ़ा होकर उसके खिलाफ़ हज्व लिख दी और फौज़ से निकाल दिये गये। 1713 में जब फ़रूख़सियर की हुकूमत थी, समाज ज़बरदस्त इंतेशार से दो-चार था। फ़रूख़सियर बड़ा शक्की और सख़्त मिज़ाज का था। जिससे खफ़ा होता, तस्माकशी (रस्सी से गला घाँट देना) करवा देता। जाफ़र ज़टल्ली अपने दौर के हालात से नाखुश थे और उन्होंने इसका इज़हार एक सिक्का लिखकर किया। सिक्का इस तरह था—

सिक्का ज़द बर गंदुमो मूठो मटर

बादशाहे मक़रूर ख़सियर

यानी गंदुम, मूठ, मटर जैसी चीज़ें लोगों की पहुंच से बाहर हैं और बादशाह के पास और कोई काम नहीं है, सिवाय इसके कि तस्माकशी करवाता रहता है। यह सिक्का जाफ़र ज़टल्ली ने उस वक़्त लिखा, जब दूसरे अदीब और शायर बादशाह की शान में कसीदे लिख रहे थे और उसकी खुशनुदी हासिल करने में लगे थे। जाफ़र ज़टल्ली का यह सिक्का उस सिक्के का रद्देअमल था, जिसमें कहा गया था—

सिक्का ज़द अज़ पन्ज़ल हक़ बरसीमोज़र

बादशाहे बहरे बर फ़रख़सियर

जाफ़र ज़टल्ली का यह सिक्का जब बादशाह तक पहुंचा तो इनको गिरफ़्तार करके दरबार में पेश किया गया। यह गुमान किया जाता है कि चूँकि जाफ़र सैयद थे और अगर माफ़ी माँग लेते तो रिहा कर दिये जाते, क्योंकि उस ज़माने के किसी सैयद को क़ल्ल करने से परहेज़ किया जाता था। लेकिन जैसी कि तबीयत पायी थी, कहा जाता है कि अकड़ खड़े रहे और इनकी तस्माकशी करवा दी गयी। जाफ़र का शेर है—

दिला दर मुफ़्लिसी सबसे अकड़ रह

ब आलम बेकसी सबसे अकड़ रह

जाफ़र ज़टल्ली उस दौर से ताल्लुक़ रखते हैं जब मुग़ल सल्तनत ज़वाल की तरफ बढ़ रही थी और नये हालात पैदा हो रहे थे। इसे अगर तारीख़ी पसमंज़र में देखा जाये तो जो अहम बात सामने आती है कि जैसे-जैसे साइंसी, तकनीकी और सनअती तरक्कियां वजूद में आती हैं, शहंशाहियत और जागीरदारी की जड़ें कमज़ोर होती चली जाती हैं और हालात के तकाज़े के तहत सरमायादारी निज़ाम सर उठाना शुरू कर देता है। इस तब्दीली को सिर्फ़ हिंदुस्तानी मआशरे में ही नहीं बल्कि आलमी सतह पर भी देखा जा सकता है। हम यह तो नहीं कह सकते कि हिंदुस्तान में साइंसी और सनअती तरक्कियां तेज़ी से शुरू हो गयी थीं या यहां बाकायदा सरमायादारी निज़ाम वजूद में आ चुका था, लेकिन इसे एक उबूरी दौर (ट्रांज़ीशनल पीरियड) ज़रूर कह सकते हैं।

औरंगज़ेब की वफ़ात के फ़ौरन बाद अफ़रा-तफ़री और समाज में इतेशार को हालात पैदा हो गये थे। हालांकि औरंगज़ेब के ज़माने में कोई रियासत खुदमुख्तार नहीं हुई थी, लेकिन उसके बाद तो चंद बरसों में ही चारों तरफ़ ख़ानाजंगी और रियासतों की खुद-मुख्तारी ने मुग़ल सल्तनत की बुनियादें हिलाकर रख दी थीं। 1707 में औरंगज़ेब की वफ़ात के बाद भाइयों की आपसी लड़ाई ने उसे और भी कमज़ोर कर दिया था। शाह आलम बहादुरशाह अव्वल की 4 मई 1707, की तख़्तनशीनी के बाद यह समाजी बोहरान और भी संगीन सूरत अख़्तियार कर गया। बहादुर शाह अव्वल की वफ़ात के बाद फिर इक्तेदार की लड़ाई तेज़ हो गयी और 29 मार्च 1712 को जहांदार शाह तख़्तनशीन हुआ। इसी दौरान जहांदार शाह के भतीजे फ़रख़सियर ने सैयद बरादरान, छबीलाराम नागर और मोहम्मद ख़ां बंगश की मदद से 10 जनवरी 1713 को जहांदार शाह पर हमला कर दिया, जिसमें फतह हासिल करने के बाद फ़रख़सियर जहांदार शाह और उसके वज़ीर जुल्फ़कार ख़ां को क़त्ल करके ग़द्दीनशीन हुआ।

गौरतलब है कि यह दौर ऐसा है जब जिंदगी के हर शोबे में मज़हब का अमल-दख़ल था, लेकिन हुक्मरान इसके बरअक्स रंगरेलियों और बदकारियों में मशगूल थे। शायद यही वजह थी कि इस माहौल ने तसव्वुफ़ और भक्ति तहरीक को जनम दिया, जिसने मौजूदा निज़ाम से नाआसूदगी का इज़हार तो किया, लेकिन इसकी कोई सप्त नहीं तय हो सकती थी।

ऐसे समाज में जहां अवाम सियासी सतह पर नापुख़्ता हों और उनके फ़िक़री दायरे महदूद हों, समाज को इंक़ेलाबी शऊर नहीं दे सकते; बल्कि ऐसे में सियासी और माआशी बोहरान जनम लेता है। इसमें तालीमयाफ़ता तब्का भी शामिल है, जो अपने दौर के निज़ाम से ना आसूदा तो है, लेकिन वह बेहतर जिंदगी के रास्ते नहीं तलाश कर सकता। इसके अलावा मिडिल क्लास, आला तबके के रस्मो-रवाज की नक़ल करके अपनी जिंदगी को उसी सतह पर ले जाने के ख़ाब देखने लगता है और मज़दूर तब्का इसे अपनी तक़दीर समझ कर क़नात कर लेता है।

गौरतलब है कि हिंदुस्तान का लिसानी ढांचा एक अजीब-सी हैसियत का हामिल है। सारे मुल्क में बाकायदा कोई एक ज़बान या बोली राइज नहीं थी बल्कि मुख्तलिफ़ इलाकों में मुख्तलिफ़ बोलियां बोली जाती थीं, यानी न सिर्फ़ समाजी और सियासी बल्कि लिसानी एतबार से ही मुल्क बहुत-सी क़ौमियात (राष्ट्रीयताओं) में बंटा हुआ था। जिस तरह प्राकृतों और अपभ्रंशों में तब्दीलियां हो रही थीं और जैसे ब्रज भाषा, अवधी, कन्नौजी, हरयाणवी, पंजाबी, राजस्थानी और खड़ीबोली वगैरह वजूद में आयी थीं, इन तब्दीलियों को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह ज़माना

इस एतबार से अहम है, जिसके तहत मुख्तलिफ़ ग़ैर-मुल्की और मक़ामी अनासिर मक़ामी तक्ज़ाजों की बिना पर एक ऐसी ज़बान जनम ले रही थी, जो पूरे मुल्क में एक कड़ी की हैसियत रखती हो और मुख्तलिफ़ ज़बानों और बोलियों को करीब लाने का काम कर सके। यही ज़माना है कि जब अमीर खुसरो की हिंदी या हिंदवी की रवायत को आगे बढ़ाते हुए एक बाक़ायदा अदबी ज़बान वजूद में आयी जो बाद में उर्दू की शक़ल में तक्वियत हासिल करती है। तफ़्सील में जाने की ज़रूरत नहीं है, लेकिन यहां इस बात की तरफ़ इशारा ज़रूरी है कि अक्सर बड़ी आसानी से यह कह दिया जाता है कि उर्दू दरबारों या हुक्मरां तबके की पैदावार है।

हम यह भूल जाते हैं कि ऐसे हालात में जहां सरकारी ज़बान फ़ारसी थी, वहां हमारा अदीब और शायर फ़ारसी में इज़हारे ख़याल न करके मक़ामी ज़बान में इज़हार करके एक तरह से अपनी इफ़ेदारियत और हुक्मरां तबके से अलहदगी का एलान करता है। यानी उर्दू हुक्मरां तबके की नहीं बल्कि हुक्मरानों की ज़बान से इनहेराफ़ की तरफ़ इशारा करती है, जिसे सरकारी नहीं बल्कि अवामी मक्बूलियत हासिल होती है। जाफ़र ज़टल्ली इस अवामी मक्बूलियत की बेहतरीन मिसाल पेश करते हैं और कहते हैं—

अगरचे हमा कूड़ओ करकट अस्त
ब हिंदी दरिंदी ज़बां लटपट अस्त
वलेकिन किसी ने भली ये कही
जिसे पीव चाहे सुहागन वही

इन अशआर से साफ़ ज़ाहिर है कि इल्मी और अदबी हल्कों में हिंदी/हिंदवी, जो बाद में रेख़्ता और उर्दू कहलायी, इसे कूड़ा और करकट समझा जाता था। लेकिन यह ज़बान इस क़दर मक्बूल हो रही थी कि उस दौर के अदीब और शायर इस तरफ़ मायल होने पर मजबूर थे।

ज़टल्ली के मानी बकवास, गालम-गलौज या बेतुकी बातें करना है। जाफ़र के एहतेजाज की बड़ी मिसाल यह भी है कि ऐसा तख़ल्लुस चुना और बने-बनाये ढांचे को चुनौती दी। इनकी दूसरी बड़ी ख़ूबी यह है कि फ़ारसी पर महारत रखते हैं और फ़ारसी व मक़ामी बोलियों के अलफाज के साथ एक नयी बात पैदा करने की कोशिश करते हैं—

जोरू लड़ाका गर बुवद, पुर खौफ़ो डर आं घर बुवद
वो घर सदा अबतर बुवद, उस घर से गंगापर बेह
जो नार लचके चाल में, सिसकी भरे हर हाल में
काला तो है कुछ दाल में, अज कुर्बे ऊ जिन्हार बेह
लंगोटिया जो यार हो, हमज़ाद का सा प्यार हो
~~दैनतबडी न्याहेरू और महे~~
जाहिल से मिलना हैफ़ है, उसको जेहल का कौफ़ है
हरबातउसकीसैफ़ है, जादेवदूख़वारबेह

इस किस्म के बहुत से अशआर उनके कलाम में देखे जा सकते हैं, जिनसे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि फ़ारसी की शैरी रवायत का असर कुबूल करते हुए, उसे मक़ामी ज़बान में समोने की कामयाब कोशिश जाफ़र ज़टल्ली के यहां मिलती है।

जाफ़र ने खड़ी बोली के अल्फाज़ कसरत से इस्तेमाल करते हुए उन्हें उर्दू का सयाको सबाक अता किया और साथ इस बात का खयाल रखा कि कलाम की शेरियत भी मजरूह न होने पाये—

दस पांच मिल एका किया
भोला मनवा मोरा लिया
करम लिखा था सो है पाया
नाहक में यह द्वंद मचाया

औरंगज़ेब का मर्सिया लिखते हुए कहते हैं—
रकत के आंसुओं जग रोवता है
न मीठी नींद कोई सोवता है

जाफ़र एक ऐसे निज़ाम में जिंदगी गुज़ार रहे हैं, जहां बगावत के मानी जिंदगी से हाथ धोने के हैं। लेकिन वह निडर हैं और समाज में फैली तमाम बुराइयों का पर्दाफाश करते हैं और हुक्मरां तबके को भी नहीं बख़्शते। वह बड़े-बड़े ओहदेदारों और यहां तक कि बादशाहे वक़्त से भी ख़ौफ़ज़दा नहीं हैं। समाजी इतेशार और अफ़रा-तफ़री से ख़फ़ा होकर औरंगज़ेब के बेटों के बारे में कहते हैं—

जहां होंय ऐसे कुलच्छन कपूत
लगे ख़ल्क के मुंह को कालिख भभूत

जाफ़र ज़टल्ली ने जो रवायत कायम की, आगे चलकर यह उर्दू शायरी के बाग़ियाना लहजे को मज़बूत करती है और जो हमें इन्कलाबी तब्दीलियों की तरफ गामज़न करता है।

जाफर जटल्ली : कलाम के नमूने

दर इख़ेलाफ़े जमाना

गया अख़्लास आलम से अजब ये दौर आया है
डरे हर ख़ल्क़ ज़ालिम से अजब ये दौर आया है
न य़ागे में रही य़ारी, न भयों में वफ़दारी
मोहब्बत उठ गयी स़ारी, अजब ये दौर आया है
न बोले रस्ती लोहें, उमर सब झूठ में खोई
उतारी शर्म की कोई अजब ये दौर आया है
दुल्ल कस्ते फ़िरें दुल्ले, चुल्ल कस्ते फ़िरें चुल्ले
शांग्ल करते किरें शांग्ले, अजब ये दौर आया है
~~हुम्मांहेरजईफ़िरें-दख़रसवाई~~
रज़िल क़ौमों की बन आयी, अजब ये दौर आया है
नफ़र की जब तलब होवे, गरीब आजिज़ खड़ा रोवे
मियां घर में पड़ा सोवे, अजब ये दौर आया है
सिपाही हक़ नहीं पावें नित उठ - उठ चौकियां जावें
करज़ बनियों से ले खावें, अजब ये दौर आया है
जिन्हूँ का नाम है आशिक़, उन्हूँ का नाम है फ़ासिक़
हज़ारों में कोई सादिक़, अजब ये दौर आया है

क़सीदा दर कनाअत

~~जाफ़रजटल्ली~~जाफ़रजटल्ली

शादी नसीब गर न शवद ग़म ग़नीमत अस्त
चूं दल रैती आमद फ़रमाने क़िरदार
गर बेशतर बहम न रसद कम ग़नीमत अस्त
हलवा अगर बमिन्नते दूनां रसद ब दस्त
नज़दीक़ अहले ग़ैरत अज़ां सम ग़नीमत अस्त
दो प्याज़ - ओ -कबाब न बाशद अगर तुरा
जासागरख़ामभुजय-ए-शल्लग़मग़नीमतअस्त
गर श्रेणए ग़दई व ख़री तलब कुती

बस नौकरी-ए-शाह मोअज़म गनीमत अस्त
तरबूज - ओ - ख़रबुजा न बुवद गर मुयस्सरत
यक सब्ज फ़कं खीर-ए-बालम गनीमत अस्त

दर अहवाल इस्तेग़नाएव बे परवाहिए खुद गुफ़्ता

हज़ार शुक्र न चौकी न पहरा दारम मन
न अज़ यगाना-ओ-बेगाना बहरा दारम मन
ग़रीबमिस्की-ओ-बेकस-व-बेनवाहस्तम
बबाग़ेमुल्लिकतोवाह्वपरदारममन
न ख़ंजर हस्तो न शमशीर हम्द हस्त सिपर
न मुश्त सीमी-ओ-कब्ज़ा सुनहरा दारम मन
न दर न ड्योढी न दरमान दाशतम ज़े जहां
न डोल मुश्क परवालो मतहरा दारम मन
न चूह्य ओ न कर्ई न हडिओ खेनी
नज़्जरोमैहज़रममन
न गाव तकिया न मस्नद न मोरछल न रूमाल
न बंगला ऊंचा न तख़्तो, कटहरा दारम मन
न हौदजो न अमारी न मोगघो बर फ़ील
न अस्पे ताज़ी ओ जीनो दो पहरा दारम मन
न शहना अम, न मुक़द्दम न चौधरी हस्तम
न मुल्को माल, न देह व मुतहरा दारम मन
बकुंजगाहेइबादतनशिस्ताअमजाफ़र
न ज़प्ने ई न सै सिपह्य दरम मन

दर बयाने तवक्कुल

शुक्र गोयम कि भी रसानद हक़
दाल रोटी सेवाद की हर रोज़
जाफ़रा अब आगे क्या कहना
फ़िक़रे दुनिया से हो न मक्र आमोज़

दर बयाने कनाअत गोयद

दिला दर मुफ़िलसी सबसे अकड़ रह
ब आलम बेकसी सबसे अकड़ रह
चिकन और ज़र का चीरा पश्म कर बोझ
फटे पग बांध कर सबसे अकड़ रह
न कर ख़ाहिश तू जामा याफ़ती का
कोहन दुगला पहन सबसे अकड़ रह
अगर शलवर न बाशद किसको ग़म है
लंगोटा खींचकर सबसे अकड़ रह
जो कुछ भी हाथ लागा छिप छिपाकर
खुशी हो डंड कर सबसे अकड़ रह
अगर ये भी मुयस्सर हो न तुझको
अकेला चूं अलिफ़ सबसे अकड़ रह

हज्व मिर्जा खुदायार खां

जह्दरतेममख़शिर

कि मिर्जा खुदायार मारा पछाड़
करूं अब ख़बर शहरो बाज़ार को
लगी आह मेरी खुदायार को
खुदायार पर सब्र मेरा पड़
कि तालाब पर ये बखेड़ा पड़ा
बदस्ते हरीफ़ं रिफ़ार फ़ु
ब पुशतो, सरश मुशत पैज़ार शुद
तख़तड़ तख़तड़ लगी लागने
मटुक चाल मिर्जा लगे भागने
पकड़ बांधकर जब मुरण्डा किया
किशन लाल का ताल गंदा किया
चू दूं माजरा जान बाबा शुनीद
दवा दो दवा दो पया पे रसीद
रसीदंजवानीख़ाख़ेपास—
किया शेर के मुंह से गीदड़ ख़लास
जहे जान बाबा शराफ़त मआब

कि कौआ छुड़ाया लगर से शोताब
जहां में करूं आज मैं पामड़ी
किगीदड़केमुंहसेछुटीलोमड़ी
खुदायारमिस्कीधमाधमकुटा
बिलय्या के पंजे से चूहा छुटा
खुदायार का खूब करघा किया
कि करघा नहीं बल्कि चरखा किया
जो देखा लुटा मैंने ये हाल को
किया जाफरा झांट के बाल को

हिंदी-उर्दू की एकसां पहचान और प्रेमचंद की वसीयत

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

भूतकाल हमारा है, हम भूतकाल के नहीं हैं। हम वर्तमान और भविष्य को बनाने वाले हैं।

—मोहनदास करमचंद गांधी

भूत हमारे भविष्य का रहबर नहीं हो सकता।

—प्रेमचंद

पुराने झगड़ों, विवादों और शत्रुताओं के हवाले देकर अब भी, इक्कीसवीं सदी के हिंदुस्तान को भी कुछ लोग उसी आग में खाक कर देना चाहते हैं। तभी सर सैयद अहमद खां के तमाम उद्धरणों की झड़ी लगाकर हिंदी-उर्दू के बीच शत्रुतापूर्ण अभियान को कुछ लोग अब भी जारी रखना चाहते हैं। इस सवाल पर क्रिया-प्रतिक्रिया में और ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की सांप्रदायिक विभाजनकारी नीति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की ठोस सच्चाइयों पर पर्दा डालकर हिंदी-उर्दू क्षेत्र की बोलियों और जनभाषाओं, संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश तथा अरबी-फ़ारसी की विरासत की मदद से जातीय संस्कृति की तरक्की के सवाल को हम आज अपनी आंखों से ओझल नहीं कर सकते। नस्ली शुद्धता, धार्मिक शुद्धि और सांस्कृतिक बेगानेपन के पचड़े से अब हमें मुक्ति चाहिए।

अयोध्याप्रसाद खत्री, पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और पद्मसिंह शर्मा खड़ी बोली के माध्यम से जातीय संस्कृति को लोकप्रिय रूप में ढालने की समस्या पर जो रास्ता दिखा गये हैं, उसकी जानकारी आज के पाठकसमुदाय को न हो, ऐसी कोशिश जारी है। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त तीनों विद्वानों की कृतियां, पुनः मुद्रित नहीं होतीं। मसलन, अयोध्या प्रसाद खत्री स्मारक ग्रंथ 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद' से प्रकाशित हुआ था, वह अब उपलब्ध नहीं है। 1928 में खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना से प्रकाशित 'बोलचाल' नामक हरिऔध की पुस्तक भी कहीं नहीं मिलती, जिसकी भूमिका में हिंदी-उर्दू एकता का पक्ष लिया गया है। इसी तरह 'हिंदुस्तानी एकेडमी,' प्रयाग के 1932 के सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण के रूप में पद्मसिंह शर्मा ने जो कुछ भी कहा था, एक पुस्तक के रूप में तभी प्रकाशित हुआ था और उसमें हिंदी-उर्दू एकता के इसी मसले को हल करने के उद्देश्य से उन्होंने दोनों प्रकार के भाषायी अतिवादियों को फटकारा था। इस किताब का भी अब कोई अतापता नहीं है। अपने ही इतिहास के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने

वाले विद्वानों से हम शिक्षा ग्रहण करें, ऐसी कोई चेष्टा दिखायी नहीं देती। हमेशा इतिहास की नकारात्मक बातों का उल्लेख करने वालों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इतिहास से हमें सबकु अवश्य लेना चाहिए, लेकिन भविष्य की दिशा तै करने में उसके नकारात्मक पक्ष हमारे पथप्रदर्शक नहीं हो सकते। हिंदी-उर्दू की एकता के प्रश्न पर आर्यसमाज द्वारा आयोजित 'आर्य-भाषा सम्मेलन' के वार्षिक अवसर पर लाहौर में प्रेमचंद ने अपना लिखित भाषण पढ़कर सुनाया था। 1936 के अप्रैल महीने के आसपास दिया गया यह भाषण है जो यथावत् 'साहित्य का उद्देश्य' नामक प्रेमचंद की पुस्तक में संकलित है। अपने भाषण का प्रारंभ करते हुए प्रेमचंद ने आर्यसमाजियों के बीच यह कहा था कि 'जिस भाषा का हम और आप व्यवहार कर रहे हैं, वह देहली प्रांत की भाषा है।' फिर प्रेमचंद ने दो टूक शब्दों में यह राय रखी कि 'यकायक ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि को पीछे हटाकर हिंदी कैसे सबके ऊपर गालिब हो गयी, यहां तक कि अब अवधी और भोजपुरी का तो साहित्य में कहीं व्यवहार नहीं है। हां, ब्रजभाषा को अभी तक थोड़े से लोग सीने से चिपटाये हुए हैं। हिंदी को यह गौरव प्रदान करने का श्रेय मुसलमानों को है। मुसलमानों ने ही दिल्ली प्रांत की इस बोली को, जिसको उस वक्त तक भाषा का पद न मिला था, व्यवहार में लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामंत जिन प्रांतों में गये, हिंदी भाषा को साथ लेते गये। उन्हीं के साथ वह दक्खिन में पहुंची और उसका बचपन दक्खिन में ही गुजरा। दिल्ली में बहुत दिनों तक अराजकता का जोर रहा, और भाषा को विकास का अवसर न मिला। और दक्खिन में वह पलती रही।'

1936 में हिंदी-उर्दू भाषी क्षेत्र के अंतर्गत आने वाली विभिन्न बोलियों का इस्तेमाल करने वाले लोगों की संख्या अनुमानतः प्रेमचंद के अनुसार पंद्रह- सोलह करोड़ थी-इन सभी 'लोगों के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हां, वह लिखी जाती है दो लिपियों में और उसी एतबार से हम उसे हिंदी या उर्दू कहते हैं। पर वह है एक ही।'

आर्यसमाजियों द्वारा चलाये जा रहे मुस्लिम विरोधी अभियान के दौर में उन्हीं के बीच डंके की चोट पर प्रेमचंद ने यह भी कहा- 'चूंकि उर्दू ज़बान अरसे से अदालत और सभ्य समाज की भाषा रही है, इसलिए उसमें हजारों फ़ारसी और अरबी शब्द इस तरह घुलमिल गये हैं कि वज्र देहाती भी उनका मतलब समझ जाता है। ऐसे शब्दों को अलग करके हिंदी में विशुद्धता लाने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, हम उसे ज़बान और क़ौम दोनों ही के साथ अन्याय समझते हैं।'

यह उल्लेखनीय है कि 1936 के उल्लिखित भाषण से 12 वर्ष पहले आर्यसमाजियों की नेतागिरी में चलाये गये शुद्धि आंदोलन के नतीजे के तौर पर सांप्रदायिक दंगे की आग भड़क उठी थी। प्रेमचंद ने उस समय दयानारायण निगम की पत्रिका 'जमाना' में 'क़हतुरिजाल' (मनुष्यता का अकाल) शीर्षक लेख लिखा था। इस मौके पर आर्यसमाजी तथा तमाम हिंदूवादी प्रेमचंद के शत्रु हो गये थे। प्रेमचंद ने उसी लेख में दोनों संप्रदायों से अपील की थी कि 'इतिहास से उत्तराधिकार में मिली अदावतें मुश्किल से मरती हैं, लेकिन मरती हैं, अमर नहीं होतीं।' 'हिंदी केवल आर्यों या हिंदुओं की भाषा है', जैसे नारे के साथ वही अदावतें 'आर्यभाषा' के नाम से विशुद्ध हिंदी लिखने की शक्ल में ढल रही थीं, इन अदावतों की दागबेल तो भारतेंदु-युग के अधिकांश लेखक 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' का नारा लगाकर पहले ही डाल गये थे। ऐसी कटुता और शत्रुता भाषा के नाम पर,

शब्दावली और लिपि की आड़ लेकर संस्कृति को भी अपनी गिरफ्त में ले रही थी। प्रेमचंद ने उक्त भाषण में अपने तर्कों का निचोड़ पेश करते हुए अंत में कहा था—‘हम दोनों ही के लिए दोनों लिपियों का और दोनों भाषाओं का ज्ञान लाजमी है। और जब हम ज़िन्दगी के पंद्रह साल अंग्रेज़ी हासिल करने में कुर्बान कर देते हैं तो क्या महीने-दो महीने भी उस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने में नहीं लगा सकते, जिस पर हमारी कौमी तरक्की ही नहीं, कौमी ज़िन्दगी का दारोमदार है?’

यह उल्लेखनीय है कि हिंदी-उर्दू की साझा संस्कृति के ज्ञान, उसके प्रसार और उसे आत्मसात करने के सवाल पर प्रेमचंद के चार महत्वपूर्ण लेख हैं, जो ‘साहित्य का उद्देश्य’ नामक निबंध संकलन में संगृहित हैं। इन सभी लेखों का केंद्रीय आशय यही है कि पुरानी अदावतें छोड़ो, एक-दूसरे के सहयोग और मेलजोल से जातीय संस्कृति को उन्नत करने में परस्पर योगदान करो। लिपि और शब्दावली की आड़ में चल रहे सांप्रदायिक अभियान पर प्रेमचंद की यही वसीयत है।

उर्दू, हिंदी, हिंदुस्तानी का मसला

सज्जाद ज़हीर

ग़ालिबन इस समय हमारे मुल्क में कोई तहज़ीबी मसला इस क़दर उलझा हुआ नहीं है, जितना कि उर्दू, हिंदी और हिंदुस्तानी का मसला है। उर्दू और हिंदी के हामियों में इन दोनों ज़बानों की असल, उनकी तरक्की व फुरूग, उनकी मौजूदा हालत व कैफ़ियत और मुस्तक़बिल में उनके इरतिका के मुतअल्लिक़ शदीद इख़्तिलाफ़ राय है। इतिहा यह है कि उर्दू के बाज़ तरफ़दार हिंदी के और हिंदी के बाज़ जोशीले मुद्ई उर्दू के वजूद से ही इन्कार करते हैं। उनके नज़दीक हमारे मुल्क की ये बड़ी-बड़ी ज़बानें तंग-नज़री, ज़िद और शरारत की वजह से पैदा हुई हैं और तरक्की कर रही हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि हमारे देश में तहज़ीबी मैदान में गोया दो ऐसे कैम्प बन गये हैं जो एक-दूसरे से लड़-झगड़ रहे हैं और यह तहज़ीबी जंग दिन-ब-दिन ज़्यादा शदीद होती जाती है।

दोनों फ़रीक़ सिर्फ़ अपने को सच्चाई पर समझते हैं। दूसरी तरफ़ उन्हें सिर्फ़ ज़िद और तअस्सुब नज़र आता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि अगर वह सब-कुछ ठीक है जो उर्दूवाले हिंदी के संबंध में और हिंदी वाले उर्दू के संबंध में सोचते हैं, और अगर इन दोनों भाषाओं की बुनियाद मसनूई और ग़ैर-फ़ितरी है तो फिर इसका क्या कारण है कि इन दोनों भाषाओं की दिन-ब-दिन तरक्की हो रही है और इनकी मक़बूलियत अवाम में बढ़ रही है। इनमें हमारी क़ौम की बेहतरीन इल्मी, सियासी, फलसफ़याना, मज़हबी और अदबी ख़यालात व ज़बात की तर्जुमानी हो रही है। हिंदुस्तान के उन इलाक़ों में भी जहां दूसरी भाषाएं बोली और लिखी जाती हैं, उर्दू और हिंदी को हिंदुस्तान में एक अंतर्राष्ट्रीय हैसियत हासिल हो रही है। बहुत-से लोग जो हिंदुस्तान की दूसरी भाषाएँ बोलते और लिखते-पढ़ते हैं, उर्दू या हिंदी बोलना और पढ़ना अपना राष्ट्रीय फ़र्ज समझने लगे हैं। 'अंजुमन तरक्की उर्दू' और उर्दू की दूसरी अंजुमनें कालीकट से लेकर आसाम तक और चटगांव से लेकर कराची तक फैल गयी हैं। इसी तरह हिंदी को भी सारे हिंदुस्तान में बहुत ज़बर्दस्त मक़बूलियत हासिल हो रही है।

ज़ाहिर है कि जब तक किसी भाषा की जड़ें किसी क़ौम की तहज़ीबी और रूहानी रिवायात में पैवस्त न हों और जब तक उसकी बुनियाद किसी ऐसी ज़िंदा बोली पर न हो जो किसी विशेष गिरोह या तबक़े तक महदूद नहीं बल्कि अवाम में भी राइज़ हो, उस समय तक वह अमूमी हैसियत हासिल नहीं कर सकती, और एक जमहूरी और तरक्की-पज़ीर समाज में कल्चर

के इरतिका की आला-ए-कार नहीं बन सकती। चूँकि उर्दू और हिंदी ऐसी भाषाएँ हैं, इसलिए वो विकास कर रही हैं, इसीलिए इनमें सलाहियत है कि हमारी कौम के बड़े-बड़े भागों की तालीम का ज़रिया और वसीला बनीं। इनमें उसकी भी सलाहियत है कि वो हिंदुस्तान के विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाले इलाकों के लोगों की मुश्तरका जुबान हों।

उर्दू की इब्तिदा कैसे हुई?

मुसलमान जब हिंदुस्तान में ग्यारहवीं और बारहवीं सदी ईसवी में आये तो उनका सियासी केंद्र वह इलाका था जो लाहौर से लेकर दिल्ली, आगरा और मेरठ तक फैला हुआ है। ग्रियर्सन ने इसको लिस्सानी एतबार से मग़रिबी हिंदी के इलाके में शामिल किया है। मग़रिबी हिंदी की पांच शाखें हैं—बांगडू, खड़ी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुंदेली। खड़ी बोली दिल्ली और उसके आसपास के बांगडू में बोली जाती थी। बाहर से आनेवाले मुसलमान तुर्की या फ़ारसी बोलते थे। अब खड़ी बोली में तुर्की और फ़ारसी के शब्द मिलने शुरू हुए। मुसलमान हुक्मरानों की सरकारी भाषा फ़ारसी थी। लेकिन ज़िंदगी और हुकूमत की ज़रूरतें उन्हें आम लोगों की भाषा का प्रयोग करने पर मजबूर कर रही थीं। इसी तरह से आम लोगों के लिए भी ज़रूरी था कि वो अपनी बात नये आनेवालों को समझा सकें।

हुक्मरानों से दूर मुसलमान सूफ़ियों और फ़कीरों का तब्का था जो अपना पयाम इस देश के अवाम तक पहुंचाना चाहता था। ये लोग अरबी, फ़ारसी और तुर्की के आलिम थे। लेकिन उन्होंने महसूस किया कि अपने रूहानी पयाम को हिंदुस्तान के आम लोगों तक पहुंचाने के लिए यहां के उलूमे-मज़हबी और फ़लसफ़्याना ख़यालात को जानना और समझना ज़रूरी है। चुनांचे हम देखते हैं कि इब्तिदाई दौर के मुसलमान उलमा और सूफ़िया संस्कृत और यहां की दूसरी भाषाओं को सीखते और पढ़ते थे और हिंदुस्तान जैसे मुतमद्दिन देश के मज़हबी रुझानात से प्रभावित भी थे। खड़ी बोली में फ़ारसी शब्द की मिलावट के साथ सबसे आरंभिक वाक्य और कुछ कविताएँ मशहूर दरवेश और सूफ़ी बाबा फ़रीदगंज शकर से मनसूब हैं। बाबा फ़रीद खुद इस भाषा को हिंदी या हिंदवी कहते थे। बाबा फ़रीद बारहवीं सदी के आख़िर 1173 ई० में पैदा हुए, और आपका देहांत 1265 ई० में हुआ। आपका मज़ार पाक पटन में है जो लाहौर के दक्षिण-पश्चिम में वाक़अ है। ज़ाहिर है कि मुसलमान दरवेश और मुबल्लिग़ अपनी धार्मिक नसीहतें यहां की ही भाषाओं में करते होंगे। हाफ़िज महमूद शीरानी साहिब अपनी किताब 'पंजाब में उर्दू' में शैख़ इस्माईल लाहौरी की 'मजालिसे वाइज़' के बारे में लिखते हैं कि उनमें हज़ारों की तादाद में हिंदू शरीक होते थे। यह भी तेरहवीं सदी की बात है। यही सदी अमीर खुसरू की भी है, जिन्हें जदीद उर्दू और हिंदी का जन्मदाता माना गया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि अमीर खुसरू सुलताने-दिल्ली के दरबार से संबंध रखते हुए भी हमारे देश के बहुत बड़े आलिम, शाइर, माहिरे-मौसीकी, दरवेश और सूफ़ी थे और हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया के महबूब मुरीदों में से थे। अमीर खुसरू ने जब ख़्वाजा साहिब के हाथ पर बैअत की तो अपना लाखों रुपयों का माल व ज़र ग़रीबों में बांट दिया।

खुसरू की मुकरियां, पहेलियां, दो-सुखने, ढकोसले हमारी भाषा की अवामी असल का

सबसे बड़ा सबूत हैं। खुसरू ने जो भाषा प्रयोग की, वह उनकी ईजाद की हुई नहीं है। लेकिन उनकी अज्मत इसमें है कि उन्होंने अपने आसपास की मुरौव्वजा अवामी भाषा को ऐसी अदबी तख़लीक़ के लिए प्रयोग किया, जो अवाम से संबंधित थी और जो अवाम के लिए थी।

यही सूफ़ी, फ़कीर, दरवेश और उत्तरी भारत में रहनेवाले आम लोग जब मुसलमानों से सियासी इक़तदा के साथ गुजरात और दकन गये तो उस भाषा को अपने साथ वहां भी ले गये। हमें यह याद रखना चाहिए कि मुसलमान हुक्मरानों की भाषा फ़ारसी थी, और दरबार और जागीरी तबक़े के संबंध में जिस क़दर भी अदब और दूसरी इल्मी और मज़हबी मज़ामीन की तख़लीक़ होती थी, उसकी भाषा फ़ारसी होती थी। हिंदी या हिंदवी नीचे के नीम-तालीमयाफ़ता या ग़ैर-तालीमयाफ़ता अवाम में प्रयोग होती थी और अभी तक अदबी दर्जा हासिल नहीं कर सकी थी। केवल वे लोग जिनका संबंध आवाम से था, जो अवाम तक अपना पयाम पहुंचाना चाहते थे और जो अवाम पर रूहानी असर डालना चाहते थे, इस बोली का प्रयोग करते थे। यही कारण है कि उर्दू नस्र का सबसे पहला रिसाला हज़रत गेसूदराज़ बंदानवाज़ का लिखा हुआ है। हज़रत गेसूदराज़ बंदानवाज़ तालीम व तब्लीग़ के लिए दिल्ली से चलकर गुजरात आ गये और आखिर में गुल्बर्गा में आकर उनका देहांत हुआ। आपका रिसाला 'मिराजुल आशिक़ीन' ग़ालिबन 1398 ई० यानी चौदहवीं शताब्दी के अंत में लिखा गया है। लगभग एक सौ साल बाद (1495 ई०) हज़रत शाह मीरांजी शम्सुल उश्शाक़ की 'शरह मरग़ुबुल कुलूब' मिलती है, जिसकी भाषा 'मिराजुल आशिक़ीन' की भाषा से बहुत मिलती-जुलती है। मीरांजी के लड़के बुर्हानुद्दीन जानम बीजापुरी ने नज़्म व नस्र दोनों लिखीं, जिसके नमूने मिलते हैं। आपके देहांत की तारीख़ 1582 ई० है। सत्रहवीं शताब्दी के शुरू में भी सूफ़िया और मशाइख़ के लिखे हुए धार्मिक रिसाले और नज़्में मिलती हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि मुल्ला वज्ही की 'कुतुबमुश्तरी' (1609 ई०) सुलतान मुहम्मद कुली कुतब शाह (1580-1611) की इब्तिदाई मंजूमात, और 1634 ई० में लिखा हुआ सबरस के पहले, बाबा फ़रीदगंज शकर के ज़माने से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के शुरू तक, यानी लगभग पांच सौ साल तक खड़ी बोली हिंदी या हिंदवी के नाम से सूफ़िया, मशाइख़, फुकारा, अपनी मज़हबी तब्लीग़ के लिए प्रयोग करते रहे। यहां पर यह बात भी तवज्जह के क़ाबिल है कि उस ज़माने में हमारे देश में हिंदू-मुस्लिम एकता की एक ज़बर्दस्त तहरीक़ जारी थी। तसव्वुफ़ का फ़लसफ़ा हमारा ऊस्त, और वेदांत की भक्ति के तसव्वुर में न केवल गहरी मुशाबहत थी, बल्कि यह बात अब साबित हो चुकी है कि ये दोनों इस्लामी और हिंदू तसव्वुरात एक-दूसरे पर असर-अंदाज़ थे। मुसलमान और हिंदू, सूफ़ी और भगत एक-दूसरे से मिलते थे और तरीक़त व मारिफ़त की तलाश में एक-दूसरे की मदद करते थे।

मिसाल के तौर पर हज़रत गेसूदराज़ का रिसाला 'मिराजुल आशिक़ीन' लीजिए। तसव्वुफ़ व मारिफ़त के मसाइल के संबंध में आपने जो इस्तिलाहें इस रिसाले में प्रयोग की हैं, वो संस्कृत की ऐसी इस्तिलाहें हैं जो उस ज़माने के हिंदुस्तान में हिंदू संत प्रयोग करते थे, मसलन निर्गुण, सगुण वगैरह ।

हालांकि सूफ़िया व मशाइख़ के रिसालों और उनकी मंजूमात की भाषा अदबी एतिबार से बुलंद दर्जा की नहीं है, लेकिन इसकी एक विशेषता यह है कि उसमें ख़ालिस हिंदुस्तानी

शब्द बहुत ज़्यादा और बिना किसी झिझक के प्रयोग किये गये हैं। हिंदी छंदों (बहरों) का भी प्रयोग हुआ है। मसलन शाह बुरहानुद्दीन जानम की सफ़ सहेलियां हिंदी छंद में ही लिखी गयी हैं।

इन तमाम बातों के मद्दे-नज़र हम कह सकते हैं कि—

1. उर्दू की शुरुआत जबकि इसका नाम हिंदी या हिंदवी था, यहां की खड़ी बोली में फ़ारसी, तुर्की और अरबी के उन शब्दों के मिलने से हुई, जिसे बाहर से आये हुए आम मुसलमान बोलते थे।
2. इस भाषा की नयी बनावट ख़ालिसन हिंदुस्तानी है।
3. उत्तरी भारत के मुसलमानों के साथ-साथ यह हिंदुस्तान के विभिन्न इलाकों में फैली और फिर जिस इलाके में गयी, वहां के मक़ामी असरात उसने कुबूल किये।
4. इसकी आरंभिक तहरीरी सूरत हुक्मरां मुस्लिम ओमारा और अरबाबे-हुकूमत से वाबस्ता नहीं है। उनकी भाषा फ़ारसी या तुर्की थी। तहरीरी शक़ल में उसका प्रयोग पहले दौर में मुस्लिम सूफ़ियों और फ़कीरों ने किया। वो खुद फ़ारसी और अरबी के आलिम थे, लेकिन अपने धार्मिक पयाम को यहां के आम लोगों तक पुहंचाने के लिए उन्होंने यहां की ही एक बोली इख़्तियार की।
5. फिर भी इस पर मुसलमान तहज़ीब के असरात हावी नहीं, हालांकि उसके इब्तिदाई दौर के सभी लेखक मुसलमान हैं। इसकी तमाम इब्तिदाई किताबें जिनका बयान ऊपर आया, इस्लाम से संबंधित हैं। इसका रस्मुल-खत फ़ारसी है। इसकी इब्तिदाई नस्र पर फ़ारसी का गहरा असर है।

हिंदी के इब्तिदाई दौर : ब्रजभाषा और अवधी

जिस तरह खड़ी बोली मुस्लिम असर के मातहत एक नयी शक़ल इख़्तियार कर रही थी, उसी तरह हिंदुस्तान की दूसरी भाषाएं भी उभर रही थीं। भक्ति की तहरीक हिंदुओं में तेज़ी से फैल रही थी और इस आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह अवाम से संबंध रखती थी। उसके मुबल्लिग़ आम लोगों की बोली प्रयोग करते थे। इस तरह हमें नज़र आता है कि बारहवीं और सोलहवीं शताब्दी ई० के दरम्यान चंडीदास ने 'श्रीकृष्ण-कीर्तन', गणराज ख़ान ने 'श्रीकृष्ण विजय' बंगला भाषा में लिखी, ज्ञानेश्वरी और एकनाथ की रामायण मराठी भाषा में लिखी गयी, आसामी भाषा में शंकर देव ने भक्ति के मज़ामीन जन्म दिये। विद्यापति ने मैथिली में 'रामचरितमानस', कबीर ने अवधी, ब्रज और खड़ी बोली मिली-जुली सधूकड़ी में और गुरु नानक ने पंजाबी में साखियां लिखीं, मीराबाई ने राजस्थानी में अपने गीत लिखे, और नरसिंह मेहता और पदमनामा ने गुजराती में भक्ति के गीत गाये।

उत्तरी भारत में राम-भक्ति के सबसे पहले और सबसे बड़े शाइर कबीरदास हुए हैं। उनकी पैदाइश, बचपन में उनकी तालीम व तरबियत, उनकी ज़िंदगी, उनके फ़लसफ़ा-ए-हयात और उनकी मौत से संबंधित जो इख़्तिलाफ़ात हैं, वह निहायत सबक़-आमोज़ हैं। कहा जाता है कि यह एक ब्राह्मण के लड़के थे, जिनको उनकी मां ने अपनी बदनामी के ख़याल से बनारस के

एक घाट की सीढ़ियों पर छोड़ दिया था। वहां से एक मुसलमान जुलाहे ने उनको उठा लिया और अपना बच्चा बनाकर उन्हें पाला। उस ज़माने में बनारस में रामभक्ति फिरका के बानी गुरु रामानंद का क़याम था। कबीर ने उनसे कसबे-फ़ैज़ किया। कुछ लोगों का कहना है कि प्रसिद्ध सूफ़ी शैख़ तकी के आप शागिर्द थे। कबीर एक ग़रीब मिहनतकश इंसान की जिंदगी गुज़ारते थे और उनके फ़लसफ़ा में राम से मुराद एक हमागीर इलाही कुव्वत है, जिसकी नज़र में हिंदू-मुस्लिम सब एक इंसान हैं। उन्होंने हिंदू और मुस्लिम धर्म दोनों में मुर्दा रस्म व रिवाज की सख़्ती से मुख़ालिफ़त की और दोनों को ईमानदारी, सुलह, अमन और भाईचारे का सीधा-सादा, लेकिन बहुत पुरअसर पयाम दिया। कबीर का जब देहांत हुआ तो हिंदू तो उनको हिंदुओं की तरह जलाना चाहते थे, मुसलमान दफ़न करना चाहते थे, और आज मगहर में कबीर की जाए-वफ़ात पर दो अलग अहाते बने हैं। एक में मुसलमान मजाविर हैं, दूसरे में हिंदू। उत्तरी भारत के देहातों में लाखों हिंदू और मुसलमान देहाती उनके कलाम को अब भी पढ़ते और गाते हैं।

कबीर हालांकि बनारस और गोरखपुर के इलाके के रहनेवाले थे, जहां की भाषा भोजपुरी और अवधी है, लेकिन यह बात गौर के क़बिल है कि उनकी साखियों की भाषा में खड़ी बोली, राजस्थानी और दक्षिणी पंजाबी के असरात भी हैं, मसलन कबीर के ये वचन देखिए—

कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगानीर

या —

कबीर कहता जात हौं, सुनता है सब कोए
राम कहे भला होएगा, नाहीं तर ललान होए

या —

आऊंगा न जाऊंगा, मरूंगा न जियूंगा
गुरु के सबद, रिमरिम रहूंगा

इन वचनों में जैसे कहता हूँ, सुनता हूँ, जाऊंगा, मरूंगा, रहूंगा, सब खड़ी बोली के शब्द और तरकीबें हैं।

इससे साबित होता है कि पंद्रहवीं शतब्दी ई० में ही खड़ी बोली फैलने लगी थी। दूसरी बात यह भी ज़ाहिर होती है कि अगर एक तरफ़ मुसलमान सूफ़ियों के ज़ेरे-असर खड़ी बोली की ऐसी अदबी शकल ज़ाहिर हो रही थी, जिस पर मुस्लिम असरात हावी थे तो उसका एक ऐसा पहलू भी था जिस पर हिंदू असरात हावी और नुमायां नज़र आते हैं। कबीरदास की शाइरी पर मुस्लिम असरात भी हैं। उन्होंने फ़ारसी और अरबी के शब्द भी अपनी शाइरी में प्रयोग किये हैं।

सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में उत्तरी भारत में अवधी और ब्रजभाषा का बहुत उरूज हुआ। जदीद हिंदी के माख़ज़ को सही तौर से समझने के लिए हमें इन भाषाओं के विकास पर भी नज़र डालना ज़रूरी है।

अवधी भाषा में बुलंद और अदबी हैसियत प्राप्त करनेवालों में सबसे पहला नाम मलिक मुहम्मद का है जो ज़िला रायबरेली के क़स्बा जायस के रहनेवाले थे। उनकी प्रसिद्ध नज़्म का नाम 'पद्मावत' है। यह एक तवील नज़्म है जो मसनवी की बहर में लिखी गयी है। इसमें चित्तौड़ की रानी पद्मिनी, उसके शौहर राजा रतनसेन और सुल्तान अलाउद्दीन ख़िल्जी के वाक़आ को

बुनियाद बनाकर और उसमें काफ़ी कल्पना करके मलिक मुहम्मद ने तसव्वुफ़ के फ़लसफ़े को एक अफ़साना के रूप में निहायत दिलकश अंदाज़ में पेश किया है। मलिक मुहम्मद की शाइरी और उनके तख़य्युल में हमें हिंदू-मुस्लिम कल्चर का संगम अच्छी तरह दिखायी देता है। निर्गुण भक्ति का तसव्वुर यहां इस्लामी तसव्वुफ़ से पूरी तरह मिल गया है। मलिक मुहम्मद जायसी ने जो तलमिहात और इशारे इस्तेमाल किये हैं, वो सब-के-सब भक्ति के हैं। उन्होंने खुद उन तल्मीहों के माऽनी निम्नलिखित शब्दों में हमें बताये हैं—

तन चित्तौड़, मन राजा की नहा
हियासन घुल, बुद्धि पदमणी चैन था
गुरु सुच्चा जयी पंथ दिखावा
बिन गुरु जागत, को निर्गुण पावा?
नागमती यह दुनिया धंधा
बांचा सूई ना इही चित बंधा
राघौ दूत सूई सैतानू
माया अलाउद्दी सुल्तानू

जिस्म को चित्तौड़ और शऊर को राजा बनाया। दिल को सिंहल या सिंघल की मम्लकत और अक्ल को मिसल पद्मिनी शनाख़्त किया। तोता गुरु पीर मुशिर्द है, जिसने राह दिखायी। बिना मुशिर्द के दुनिया को किसने लासिफ़ात पाया? नागमती यह दुनिया धंधा है। राघौ का सफ़ीर ही शैतान और माया (पुर-फ़रेब ख़्वाहिशात की दुनिया) सुलतान अलाउद्दीन है।

जायसी ने 'पच्चावत' शेरशाह के दौर-हुकूमत में लिखी, यानी 1540 ई० और 1545 ई० के बीच; उनके बाद यह तर्ज़ काफ़ी मक़बूल हुई। जहांगीर के दौर-हुकूमत में शैख़ उसमान ने उसी तर्ज़ की एक नज़्म 'चित्रावली' लिखी। उनके बाद शैख़ नबी (ज़ान द्वीप), कासिम शाह (हंस जवाहिर), नूर मुहम्मद (इंद्रावती) ने सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी ई० में अवध भाषा में उसी प्रकार की नज़्में लिखीं।

हिंदी अदब की तारीख़ में अवधी भाषा की इन नज़्मों को 'प्रेममार्गी' (सूफ़ी) शाखा का नाम दिया गया है।

हमें देखना चाहिए कि लिसानी स्तर से इन नज़्मों की क्या अहमियत है। पहले तो यह कि—हालांकि उनके लिखनेवाले मुसलमान थे, और उन्होंने तसव्वुफ़ के फ़लसफ़ा को हिंदुस्तानी लिबास में पेश किया है, लेकिन उन पर यहां के भक्ति-फ़लसफ़ा का गहरा असर था जो उनकी शाइरी में भक्ति की तमाम मुरव्विजा इस्तिलाहों के प्रयोग से ज़ाहिर होता है। दूसरे यह कि हालांकि इन नज़्मों में मसनवी की बहर प्रयोग की गयी है, लेकिन बक़ौल पंडित रामचंद्र शुक्ल के, उनमें—

'शृंगार, वीर आदि के वर्णन चली आती हुई भातीय काव्य-परंपरा के अनुसार ही हैं।'

(हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 118)

यानी, इश्क़िया, बज़्मिया और रज़्मिया बयानात शाइरी के रिवायात के अनुसार ही हैं। इन

बातों को मद्देनज़र रखते हुए हम कह सकते हैं कि अवधी के ये मुसलमान अदीब एक ऐसी रिवायत के हामिल थे, जो खड़ी बोली के उस तर्ज से भिन्न थी जिसकी नशो-नुमा मुसलमान सूफ़ी और शाइर उसी ज़माने में दकन में कर रहे थे। दोनों में हिंदू और मुस्लिम तसव्वुरात और कल्चर का इम्तिज़ाज था। दोनों हिंदुस्तानी थीं, लेकिन एक में मुसलमान तहज़ीब और तसव्वुर का रंग हावी था और दूसरे में हिंदू तहज़ीब व फ़लसफ़ा और तसव्वुर का। साथ ही साथ हमें यह भी याद रखना चाहिए कि जायसी और उनके पीरों की भाषा अवध के शहरों और देहात में रहनेवाले अवाम की ज़िंदा बोली थी, जिनकी बहुत बड़ी अक्सरीयत हिंदुओं पर मुशतमिल थी।

शाइरे-आज़म गोसाईं तुलसीदास जी की शाइरी में यह चीज़ बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि हिंदू तसव्वुरात व अदब की एक निर्मल धारा मुसलमानों के अहदे-हुकूमत में बड़ी शान व शौकत से बहती रही। तुलसीदास जी ब्राह्मण थे और हिंदू इलाहियात के बहुत बड़े आलिम थे। वह संस्कृत से अच्छी तरह वाकिफ़ थे। उन्होंने काशी में संत रामानंद के शगिर्द और चेले संत नरहरि से कस्बे-फ़ैज़ किया था। उनकी ज़ात में उत्तरी भारत में रहनेवाली हिंदू क़ौम के बेहतरीन धार्मिक, सूफ़ियाना, अदबी और अख़लाक़ी ख़यालात का इम्तिज़ाज हुआ था। चूँकि वह एक सच्चे शाइर और अदीब थे, इसलिए उन्होंने अपने बुलंदपाया ख़यालात को प्रकट करने के लिए अवाम की अवधी भाषा का प्रयोग किया। उन्होंने इस भाषा को हिंदुओं के बेहतरीन और बुलंदतरीन अख़लाक़ी और रूहानी तसव्वुरात से मालामाल कर दिया। इसी का नतीजा है कि उनकी शाइरी सदियों के गुज़रने के बाद आज भी ज़िंदा है और उत्तरी भारत में रहनेवाले हिंदू ख़्वास व अवाम में अब भी बड़े शौक़ और इहतिराम से पढ़ी जाती है। यहां पर यह बात काबिले-तवज्जो है कि अरबी या फ़ारसी के वो अलफ़ाज़ जो अवधी में शामिल हो गये थे, तुलसीदास ने बेतकल्लुफ़ी से उन्हें अपनी रामायण में प्रयोग किया है।

अवधी से भी अधिक ब्रजभाषा की तरक्की हुई। ब्रज के सबसे बड़े शाइर सूरदास हुए हैं। यह आगरा ज़िला के रहनेवाले थे, लेकिन मथुरा में जाकर बस गये थे। वहां यह कृष्ण-भक्ति फ़िर्का के रहनुमा बल्लभाचार्य के मुक़र्रब शागिर्दों में हो गये। सूरदास संत, शाइर, और माहिरे-मौसीकी तीनों थे। उनका सारा कलाम श्रीकृष्ण जी की भक्ति में लिखा गया है। मालूम होता है कि ब्रजभाषा कृष्णजी के संबंध में गीतों के लिए ख़ास मौजूनियत रखती थी, जिसकी वजह से हम देखते हैं कि कृष्ण और राधा के बारे में प्रेम और बिरह से भरे गीत एक तरह से मामूली इंसानों के इश्क़ व मुहब्बत की निशानियां बनकर बहुत तेज़ी से भारत के विभिन्न भागों में फैल गये। तीन सौ साल तक बल्कि उससे भी अधिक यानी लगभग सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के वस्त तक ब्रजभाषा में शाइरी का एक ज़बर्दस्त और हमागीर धारा बहता रहा।

ब्रजभाषा के बड़े-बड़े अच्छे शाइर मुग़ल बादशाहों के दरबार में शाही शाइरों की तरह मौजूद रहते थे। अकबर खुद ब्रजभाषा में शाइरी करता था और उसके दरबार के प्रसिद्ध अमीर अब्दुरहीम ख़ानेख़ाना का शुमार ब्रज के बुजुर्गतरीन शाइरों में होता है। इसके अलावा बहुत-से मुसलमानों ने ब्रजभाषा में आले दर्जे की शाइरी की है। दिल्ली के एक पठान ख़ख़ान के संबंध

में तो हिंदी के कुछ नक्कादों का खयाल है कि अपनी शीरीनी और लताफ़त के ऐतबार से कई बार वह सूरदास से भी बाज़ी ले गये हैं। उन्हें कृष्ण जी से बहुत गहरी अकीदत थी। इसी संबंध में उनका मशहूर सिवैया है—

मानुष हौं तो वही रसखान
 बसो संग गोकुल गांव के ग्वारन।
 जौ पशु हौं तो कहा बस मेरो
 चरौं नित नंद की धेनु मंझारन॥
 पाहन हौं तो वही गिरि को जो
 कियो हरि छत्र पुरंदर धारन।
 जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि
 कालिंदी कूल कदंब की डारन॥

ऐ रसखान! अगर दोबारा जन्म लेकर मैं इंसान के रूप में आऊं तो मेरी यही तमन्ना है कि ब्रज के गोकुल गांव के ग्वालों में मेरा घर बने। अगर मुझे पशु का जन्म मिले तो मेरा क्या इख़्तियार है! इस हालत में यही चाहूंगा कि हमेशा नंद (कृष्ण के बाप) की गायों के साथ-साथ चरता रहूं। अगर दूसरे जन्म में पत्थर ही मुझे होना है तो मैं उस पहाड़ का पत्थर हूंगा, जिसे कृष्ण जी ने छतरी की तरह ऊपर उठाकर इंद्र के तूफ़ान से लोगों को बचाया था। अगर परिंदा होऊं तो मैं यमुना के किनारे कदंब की शाखों में बसेरा करूं।

ब्रजभाषा के उन विभिन्न मुसलमान शाइरों के संबंध में जदीद हिंदी के पहले बड़े अदीब भारतेंदु हरिश्चंद्र ने बड़े जोश से लिखा है—

‘इन मुसलमान न हरिजनन पे, कोटन हिंदुन बारियो।’ (इन मुसलमान हरि के भक्तों पर करोड़ों हिंदुओं को कुर्बान कीजिए।)

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा में भक्ति की मुतसव्विफ़ाना शाइरी का रंग फीका पड़कर दरबार की वह हुस्न व इश्क़ की शाइरी शुरू होती है, जिसका दाइरा खयाल बहुत महदूद-सा हो जाता है। ब्रजभाषा में शाइरी के इस दौर को हिंदी अदब के मुवरिखों ने ‘रीतिकाल’ का नाम दिया है।

रीतिकाल के शाइरों की विशेषता यह थी कि वह संस्कृत शाइरी के आखिरी दौर की मुताबिक़त करते हुए इंसान के विभिन्न जज़्बात को शाइरी की भाषा में अदा करते थे और अपने अशआर और नज़्मों को संस्कृत के उसूले-शाइरी के अनुसार सनाए व बदाए से मुरस्सा करते थे। इसीलिए उस शाइरी को रीति के अनुसार यानी क़दीम रस्मों की पाबंद शाइरी कहा गया है। रीतिकाल के शाइरों ने भरत मुनि के बनाये हुए नौ विभिन्न इंसानी जज़्बात या रसों में से श्रृंगार रस को विशेष रूप से चुना था। इस रस का संबंध हासिल व फ़िराक़ के संबंध में पैदा होनेवाली खुशी व ग़म के जज़्बात से है। इसीलिए रीतिकाल की शाइरी का अक्सर व बेशतर भाग इश्क़िया शाइरी पर महमूल है।

दो सौ साल तक, यानी लगभग 1650 ई० से लेकर 1850 ई० तक रीतिकाल के शाइर भारत के प्रत्येक बादशाह, राजा, महाराजा और नवाब के दरबारों में होते थे। केशव, चिंतामणि,

भूषण, मतिराम, बिहारी, देव, पद्माकर उस दौर के बड़े-बड़े शाइर हैं। अमीरों के दरबारों से मुंसलिक होने की वजह से उनकी शाइरी में जिंसी ऐशपरस्ती का रंग ग़ालिब हो गया है और उनकी अख़लाकी सतह उससे पूर्व के दौर के संतों की शाइरी से बहुत पस्त है, जो अवाम से अधिक करीब थी, लेकिन भाषा के विकास की दृष्टि से हम उस दौर के अदब को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते।

पहले हमें यह नज़र आता है कि ब्रजभाषा का यह अदब ब्रज के इलाके से निकलकर मुल्क-भर के विभिन्न भागों में फैल गया। राजपूत और मराठा और मध्य भारत के हिंदू राजाओं और अमीरों के दरबारों में ब्रजभाषा हिंदू तहज़ीब का एक वसीला और आला बनकर पहुंची और वहां उसने घर कर लिया। इसके यह माऽनी नहीं हैं कि यहां के लोगों ने अपनी मक़ामी बोलियां छोड़ दीं; उसके यह भी अर्थ नहीं हैं कि ब्रजभाषा के अलावा वहां दूसरी भाषाओं को अदबीया तहज़ीबी दर्जा प्राप्त नहीं था, लेकिन उसका यह अर्थ ज़रूर है कि ब्रजभाषा का यह अदब ग़ैर-ब्रज लोगों के लिए भी तहज़ीब का एक आला था।

दूसरे यह कि यह अदब अपनी भाषा, अपनी शाइरी के उसूल, अपनी फ़ज़ा के लिहाज़ से भारत की जिंदा हिंदू तहज़ीब का आईनादार था। यानी यह तहज़ीब हर तरफ़ से असरात कुबूल कर रही थी और कई शताब्दी मुसलमानों के साथ रहने-सहने और मेल-जोल से उसमें एक हिंदू-मुस्लिम तहज़ीब का इम्तिज़ाज नज़र आता है। फिर भी इसमें शक की गुंजाइश नहीं कि हिंदू रिवायात का रंग उस पर ग़ालिब है। इस कारण इसके अधिकतर शाइर और मुर्ब्बी हिंदू हैं और वह मुसलमान भी जो इस भाषा और तर्ज़ में शाइरी करते हैं, हिंदू और संस्कृत तर्ज़ को कुबूल करते हैं। रीतिकाल के शाइरों की एक विशेषता यह भी है कि संतों की शाइरी के मुक़ाबले में उनके यहां संस्कृत की मिलावट अधिक है। उनमें से कई संस्कृत के बड़े-बड़े आचार्य थे। उनके लिए संस्कृत के शब्दों को अपनी शाइरी में मिला लेना बिल्कुल एक फितरी-सी चीज़ थी। इसके यह माऽनी नहीं हैं कि उन्होंने फ़ारसी और अरबी के प्रचलित शब्दों को छोड़ दिया है। वे बेतकल्लुफ़ी से उन शब्दों का भी प्रयोग करते हैं, फिर भी हिंदू तहज़ीब के ग़ालिब उंसुर से इन्कार नहीं किया जा सकता।

उर्दू का इरतिका

आइए अब देखें कि उस ज़माने में खड़ी बोली का विकास किस प्रकार हो रहा था। सत्रहवीं शताब्दी में गोलकुंडा और बीजापुर की दक्षिणी सल्तनतों में खड़ी बोली ने अपनी दकनी शकल में ग़ैर-मामूली तरक्की की। उसमें निहायत बुलंदपाया अदब की तख़लीक हुई। सूफ़ियों और मशाइख़ के तकिया से निकलकर उसे दरबार और अमीरों की सरपरस्ती प्राप्त हो गयी। नज़्म की किस्मों में मसनवी, ग़ज़ल, क़तआत, और लंबी-लंबी ख़ालिस हिंदी छंद में चीज़ें लिखी गयीं। यही नहीं, नस्र जो अदब व ख़याल की बहुत बुलंद तरक्की की निशानी है, दकन में शुरू हुई और उसने बुलंद मर्तबा प्राप्त किया। दकन के सोलहवीं शताब्दी के अदीबों में वजही, मुहम्मद कुली कुतुब शाह, निशाती और नुसरती दकनी उर्दू के शिक्षकों में शुमार किये जा सकते हैं। उस दौर पर दकन की हिंदू क़ौमों गुजराती, मराठी, तिलंगी और कन्नड़ का असर नुमायां है। फिर भी उस

पर मुसलमानों की तहज़ीब व तसव्वुरात का असर ग़ालिब है। मुग़लों के हमले और दकन की फ़तह के बाद औरंगाबाद के केंद्र से एक बार फिर उत्तरी भारत में मुरज्जा खड़ी बोली का असर दकन की उर्दू पर बराहे-रास्त पड़ा और दकन के सबसे बड़े शाइर वली के कलाम में यह मिलावट साफ़ दिखायी देती है। इसी कारण वली के लिए यह संभव हुआ कि वह उत्तरी भारत के देहलवी शाइरों पर इतना ज़बर्दस्त और फ़ैसलाकुन असर डाल सके।

वली के खुद के दिल्ली पहुंचने के पहले उनकी शहरत और ग़ालिबन उनका दीवान दिल्ली पहुंच चुका था। लेकिन यहां के हालात दकन से बहुत भिन्न थे। अमीर खुसरो ने जिस सिलसिले को शुरू किया था, वह दिल्ली और उत्तरी भारत में आगे नहीं बढ़ सका था। यहां फ़ारसी का दौर-दौरा मुकम्मल था। अकबर के ज़माने से मुग़लों के सरकारी कार्यालयों की भाषा फ़ारसी ही थी। अकबर के ही ज़माने में शिक्षा का जो बंदोबस्त कायम किया गया था, उसमें भी फ़ारसी ही शिक्षा का माध्यम थी। इल्म व अदब, फ़लसफ़ा व धर्म, तारीख़ व लतीफ़े के फ़न की भाषा फ़ारसी थी। शहरों में ही नहीं, देहातों और क़स्बों के मक़तबों में भी फ़ारसी का चर्चा था। संस्कृत के अलावा भारत की किसी दूसरी भाषा में यहां के उलूम व फ़नून व अदब व इलाहियात के ख़ज़ानों की किसी दूसरी भाषा में इस प्रकार तख़लीक़ नहीं हुई थी, जिस प्रकार कि फ़ारसी में। सभी वह लोग जो हुकूमत से संबंध रखते थे, सभी पढ़े-लिखे लोग (और उस समय में तालीम आजकल के मुक़ाबले में बहुत ज़्यादा थी) शाइर और अदीब और मुसनिफ़ फ़ारसी जानते थे और उसी में लिखते थे। हिंदू राजाओं के दरबारों की भाषा भी फ़ारसी हो गयी थी। गिनती के अनुसार वह हिंदू जो फ़ारसी जानते, लिखते और पढ़ते थे, मुसलमानों के मुक़ाबले में बहुत अधिक थे। उनमें से भाषा के बड़े-बड़े आलिम पैदा हुए हैं, जिनके नाम आज तक फ़ारसी जानने वाले अदब से लेते हैं। उनमें मुंशी माधव राम साहब, इशाए माधव राम और टेकचंद बहार, साहब बहार अजम, चंद्रभान ब्राह्मण और मिर्ज़ा मनोहर तूसी विशेष तौर पर क़ाबिले-बयान हैं।

फ़ारसी की इस मक़बूलियत और अहमियत के बावजूद हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आम लोगों की रोज़मर्रा बोली फ़ारसी नहीं थी। दिल्ली और उसके आसपास खड़ी बोली न केवल आम लोग बोलते थे, बल्कि दिल्ली के ऊंचे घरानों के लोग भी बोलने लगे थे। चुनांचे वली जब अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में दिल्ली में आये तो उनका कलाम लोगों की समझ में भी आया, और लोग उससे मस्हूर भी हुए। इसलिए कि वह क़रीब-क़रीब उसी बोली में था, जो दिल्ली के हर घर में बोली जाती थी। जब सौदा के उस्ताद हातिम ने, वली के दीवान को देखकर तबा-आज़माई शुरू की, तो ऐतिहासिक एतिबार से ज़माना इसके लिए तैयार हो चुका था कि फ़ारसी को बे-दख़ल करके इस स्वदेशी भारतीय बोली को अदबी तख़्त पर बैठाया जाये।

दिल्ली के उर्दू के पहले शाइर हातिम, ख़ान आरजू, नाज़ी, आबरू, ताबां, सब-के-सब फ़ारसी के शाइर पहले थे और उर्दू के बाद को। इसीलिए हमें नज़र आता है कि इनके कलाम में दकनी शाइरों के मुक़ाबले में हिंदी शब्द कम हैं। फ़ारसी शब्द और फ़ारसी तरकीबें अधिक हैं। फ़ारसी से उर्दू में तब्दीली का इब्तिदाई दौर कुछ ऐसा ही होना आवश्यक भी था। अठारहवीं

शताब्दी के उर्दू शिक्षकों के हाथों दरअसल यह रेख़्ता भाषा पुख़्ता हुई और उसने एक मुस्तक़िल अदबी हैसियत इख़्तियार की। मिर्ज़ा मज़हर जानजाना, मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा', मीर तक़ी 'मीर', 'सोज़', 'मीर दर्द' शाइरों के उस बहुत बड़े गिरोह के सरदार और रहनुमा हैं, जिन्होंने उर्दू को उसकी मौजूदा सफ़ाई, सलासत और शीरीनी अता करके भारत की एक बड़ी भाषा बना दिया।

'मीर' और 'सौदा' का ज़माना, और उससे भी अधिक 'ज़ौक़', 'ग़ालिब', 'मोमिन', और लखनऊ के 'नासिख़', 'आतिश', और 'अनीस' का दौर अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक का दौर है। उस ज़माने की कुछ विशेषताएं लिंसानी ऐतबार से बहुत महत्त्व रखती हैं। पहले तो यह कि मुग़ल बादशाहत के ख़ात्मे के ज़माने में लखनऊ, रामपुर, अज़ीमाबाद, मुर्शिदाबाद आदि ऐसे केंद्र स्थापित हुए जहाँ पर इस भाषा के बोलनेवालों और अदीबों का, जिसे अब लोग धीरे-धीरे उर्दू कहने लगे थे, इजतिमाअ¹ हो गया। अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में उत्तरी भारत के शहरों में उर्दू बड़ी तेजी से फैली। उस्तादों की ताज़ा ग़ज़लें एक जगह से दूसरी जगह प्रसाद की तरह से ले जायी जाती थीं, जगह-जगह ग़ज़ल शाइरों के गिरोह पैदा हो गये थे जो मुशायरों में अपना कलाम सुनाते थे। इस प्राकर गोया उन स्थानों पर भी जहाँ के आम लोगों की बोली, दिल्ली और आगरा की तरह उर्दू नहीं थी, यह भाषा फैल गयी। ऊपर के मध्यवर्ग के और पढ़े-लिखे हिंदू और मुसलमान उसे पढ़ने भी लगे और उसमें शाइरी करने लगे। शेर के द्वारा यह भाषा आम लोगों तक भी पहुंची और शहरों में आम तौर से समझी जाने लगी। ऊपर के तबक़े वाले हिंदू और मुसलमान उसे बोलने भी लगे। जो लोग सदियों से फ़ारसी की रिवायात में डूबे हुए थे, उनके लिए यह कुछ कठिन न था। हालांकि उत्तरी भारत के देहातों में और एक हद तक शहरों में भी आम लोग अपनी स्थानीय बोलियां बोलते थे (जैसे कि ब्रजभाषा, अवधी, पूर्वी, मैथिली आदि)। हालांकि हिंदू राजाओं के दरबारों में प्रयाग, काशी, मथुरा और अयोध्या के हिंदू केंद्रों में ब्रजभाषा में शाइरी बराबर होती रही और विकास करती रही, फिर भी इसमें शक नहीं है कि खड़ी बोली उर्दू की शक़ल में शहरों के हिंदू-मुस्लिम तबक़ों में लिखी, पढ़ी और बोली जाने लगी, और साधारण अनपढ़ लोग अगर उसे बोलने नहीं तो कम से कम समझने ज़रूर लगे। मुंशियों, मौलवियों, शिक्षकों, हुकूमत के अफ़सरों, ज़मींदारों, मनसबदारों और जागीरदारों के द्वारा वह हमारे देहातों में घुस गयी और वहां भी लोग उसे समझने लगे। हिंदुओं ने भी उसमें शाइरी आरंभ कर दी और उसकी तर्वीज़ में बहुत बड़ा भाग लिया।

कुछ लोग उस दौर की उर्दू पर यह ऐतराज़ करते हैं (मसलन बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन, मरहूम पंडित पद्मसिंह शर्मा वगैरह) कि उस ज़माने में उर्दू में से हिंदी के अलफ़ाज बहुत बड़ी तादाद में तर्क कर दिये गये। फ़ारसी की ज़रूरत से ज़्यादा उस हिंदी या खड़ी बोली में मिलावट की गयी और इस तरह से गोया उर्दूवालों ने उर्दू और हिंदी के बीच वह अलहदगी शुरू की, जिसका नतीजा आज हम देख रहे हैं।

मेरी राय में यह ऐतराज़ सही नहीं है। मतरूकात के सिलसिले में सबसे ज़्यादा ऐतराज़

1. जमाव

नासिख़ पर किया जाता है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि नासिख़ और उनकी तर्ज़ की उर्दू तमाम उर्दूवालों के लिए और हमेशा के लिए कोई अटल क़ानून की हैसियत नहीं रखती। अगर एक तरफ़ नासिख़ हैं, तो दूसरी तरफ़ नज़ीर अक़बराबादी भी हैं, जो अवाम से अधिक करीब थे और जो दिल्ली और लखनऊ के मुशाइरों के बनाये हुए क़ानून का अपने को क़तई पाबंद नहीं समझते थे। हिंदी के शब्दों को छोड़ना तो दर-किनार, नज़ीर ने आम बोलचाल के सीधे सादे नये शब्द-प्रयोग करके उन्हें अदबी दर्जा दे दिया है।

दूसरे यह कि नासिख़ और उस ज़माने के शाइरों ने उर्दू को साफ़ करने का जो बीड़ा उठाया था, उसका मक़सद यह हरगिज़ न था कि ठेठ हिंदी या संस्कृत-आमेज़ शब्दों को छोड़ दिया जाये। उनकी कोशिश का मुद्दा शब्दों और मुहावरों का सही और मुनासिब प्रयोग था। वह चाहते थे कि वाक्यों की बंदिश सुस्त और ढीली न हो। और यह एक बहुत ज़रूरी काम था। अगर उन्हें ठेठ हिंदी शब्दों से नफ़रत होती तो उनमें से एक ने 'रानी केतकी की कहानी' न लिखी होती, जिसमें फ़ारसी, अरबी और गंवारू शब्दों को छोड़ कर ख़ालिस उर्दू या हिंदी लिखी गयी है।

तीसरे यह कि उर्दू में फ़ारसी और मुरव्विज अरबी शब्दों के प्रयोग से वतन से मगाइरत का ज़ब्बा ज़ाहिर नहीं होता। आठ सौ साल से उत्तरी भारत में फ़ारसी, कल्चर की सबसे बड़ी भाषा थी। अब जो लोग, और उनमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही शामिल हैं, अपने इस आठ शताब्दी की तहज़ीबी तर्क को भारत की खड़ी बोली में शामिल करते हैं, ऐसा तर्क जो अब बिल्कुल भारतीय बन गया था, वह उर्दू में गैर-मुल्की फ़ज़ा पैदा करने के मुजरिम किस तरह कहे जा सकते हैं? उन्होंने तहज़ीब व तमहुन¹ के उन शानदार पेड़ों को जो सदियों से यहां की सरज़मीन में फल-फूल रहे थे, उर्दू के नये लगाये हुए बाग़ में मुंतक़िल करके हमारी कल्चर को मालामाल किया। इसका सबूत कि यह एक फ़ितरी और ज़रूरी अमल था, यह है कि उर्दू के कई हिंदू शिक्षकों के कलाम में मुसलमानों के मुक़ाबले फ़ारसीयत अधिक नुमायां है, जैसे कि लखनऊ के पंडित दयाशंकर नसीम की मसनवी 'गुलज़ारे-नसीम', मीर हसन की मसनवी 'सहरुलबयान' के मुक़ाबले ज़्यादा फ़ारसी-आमेज़ है।

खड़ी बोली में फ़ारसी की मिलावट उस ज़माने में इतनी ही फ़ितरी और ज़रूरी थी, जितना कि केशव दास, देव और भूषण की ब्रजभाषा में संस्कृत की मिलावट। दोनों अपने-अपने रिवायती तहज़ीबी केंद्र से फ़ैज़ हासिल करके अपनी-अपनी भाषाओं का दामन चौड़ा कर रहे थे।

उन्नीसवीं शताब्दी और हिंदी-उर्दू का झगड़ा

उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता में फ़ोर्ट विलियम कॉलज क़ायम हुआ और वहां अंग्रेज़ अफ़सरों के दर्स के लिए उर्दू और हिंदी में फ़ारसी और संस्कृत और अरबी किताबों के अनुवाद का सिलसिला शुरू हुआ। यहां मीर अमन ने 'किस्सा बाग़ व बहार' व 'चहार दर्वेश' दिल्ली की साफ़-सुथरी और आसान भाषा में लिखा। अफ़सोस ने 'गुलिस्ता' का उर्दू में अनुवाद किया और

1. सभ्यता-संस्कृति

‘किस्सा हातिमताई’ लिखा, सैयद हैदर बख्श हैदरी ने तोता कहानी लिखी और आगरा के रहनेवाले एक गुजराती ब्राह्मण लल्लूलाल जी ने तीन किताबें उर्दू में लिखने के बाद अपनी मशहूर हिंदी की किताब ‘प्रेम सागर’ लिखी। फोर्ट विलियम कॉलेज में ही बिहार के रहनेवाले सदल मिश्र ने हिंदी की एक दूसरी किताब में ‘नासिकेतोपाख्यान’ लिखी।

इन दोनों हिंदी की किताबों की विशेषताएं क्या थीं? पहली यह कि दोनों खड़ी बोली में लिखी गयी थीं। हालांकि लल्लूलाल जी की हिंदी में ब्रजभाषा के असरात नज़र आ जाते हैं, लेकिन मजमूई तौर पर इन दोनों किताबों की भाषा को खड़ी बोली कहा जा सकता है। दूसरी विशेषता उस हिंदी की यह थी कि उसमें फ़ारसी और अरबी के प्रचलित शब्द हनुल-इमकान प्रयोग नहीं किये गये थे। अगर हम यह खयाल में रखें कि अभी तक बोली की मुर्विजा शकल आम तौर से वही थी जो उर्दू की शकल में नज़र आयी थी, तो यह चीज़ बादियुन्नज़र में अजीब मालूम होती है कि खड़ी बोली होते हुए भी उसमें से फ़ारसी और अरबी के वे शब्द तक खारिज कर दिये जायें जो आम तौर से बोलचाल में राइज थे और जिनसे लल्लूलाल जी उर्दू के भी अदीब होने की हैसियत से अच्छी तरह वाकिफ़ थे। तीसरी विशेषता उस भाषा की यह थी कि वह नागरी रस्मुल-ख़त में लिखी गयी थी।

जिस तरह हिंदी के तरफ़दार उर्दू पर यह इल्ज़ाम लगाते हैं कि नासिख़ और दूसरे उर्दू शाइरों ने हिंदी के शब्दों को मतरूकात बताकर उर्दू को ग़ैर-मुल्की अलफ़ाज़ से भर दिया और इस तरह मुशतरका-भाषा¹ की जड़ पर कुल्हाड़ी मारी, उसी तरह उर्दू के तरफ़दार कहते हैं कि सारी ख़राबी की जड़ लल्लूलाल जी हैं, जिन्होंने अंग्रेज़ों के कायम किये हुए फोर्ट विलियम कॉलेज में बैठकर ऐसी नयी भाषा गढ़ने की कोशिश की, जिसने हिंदी और उर्दू को जुदा-जुदा करके हमारे बीच फूट का बीज बोया।

हकीकत न यह है और न वह!*

लल्लूलाल जी की हिंदी दरअसल उस अवधी और ब्रजभाषा के अदब की इर्तिक़ाई शकल है, जिसका ग़ैर-मुन्क़ेता सिलसिला कबीरदास के ज़माने से जारी था। कबीरदास से भी पहले शौरसेनी, अपभ्रंश में लिखी हुई ‘पृथ्वीराज रासो’, ‘बीसलदेव रासो’, ‘खुमान रासो’ आदि वीरगाथाओं से उसका सिलसिला मिलता है। यह उत्तरी भारत में हिंदू तसव्वुरात, हिंदू रिवायत और हिंदू धार्मिक और तहज़ीबी रुझानात का एक लगातार सिलसिला है, जो मुसलमानों के भारत में आने से पहले शौरसेनी प्राकृत की अपभ्रंश से जा मिलता है। मुसलमानों के भारत में आने से उस तहज़ीबी धारा पर गहरे असर पड़े, उसमें तब्दीलियां हुईं, फिर भी वह पूरी आन-बान के साथ जारी रहा।

लेकिन ऐतराज़ यह किया जाता है कि अगर ऐसा है तो फिर लल्लूलाल जी ने ब्रजभाषा या अवधी में क्यों नहीं लिखा? उन्होंने खड़ी बोली क्यों प्रयोग की और खड़ी बोली का प्रयोग

1. संयुक्त भाषा

* रघुपति सहाय ‘फ़िराक़’ ने उल्लेख किया है कि लल्लूलाल ने ऐसा खुद गिलक्रिस्ट के आदेश पर किया जो फोर्ट विलियम कॉलेज के कर्ता-धर्ता थे।

करना था तो उसमें तब्दीली क्यों की? लल्लूलाल जी के खड़ी बोली प्रयोग करने का सबब यह है कि उर्दू की शकल में उसे आम मक्बूलियत हो चुकी थी और वह हिंदुओं और मुसलमानों दोनों में, जैसाकि हमने ऊपर बयान किया, काफी फैल गयी थी। इस लिहाज़ से वह ब्रजभाषा से बाज़ी ले गयी थी। तमाम पढ़े-लिखे हिंदू और लल्लूलाल जी और सदल मिश्र भी उससे वाक्फ़ थे, लेकिन वे इसके अलवा ब्रजभाषा और संस्कृत से भी वाक्फ़ थे। इसलिए ऐसे लोगों के लिए यह कोई मुश्किल और ग़ैर-फ़ितरी काम न था कि वे खड़ी बोली के नहवी ढांचे में, जिसे वे जानते और बोलते थे, हिंदू तसव्वुर, धर्म और रिवायात से मुतहर्रिक होकर ब्रजभाषा, अवधी और संस्कृत के अदब में डूबकर, ऐसी भाषाएं लिखें जो उसकी उर्दू शकल से, जो भिन्न रिवायात की हामिल थी, बड़ी हद तक अलग हो।

हिंदी अदब के अनेक तारीख़-निगारों ने उर्दूवालों के उस इलज़ाम से बचने के लिए कि उनका खड़ी बोली का यह नया प्रयोग मसनूई और ग़ैर-फ़ितरी है, बहत-से दलाइल पेश किये हैं, जिनमें साबित करने की कोशिश की गयी है कि नयी हिंदी का उर्दू से कोई संबंध नहीं और संस्कृत-आमेज़ खड़ी बोली की रिवायात उर्दू से अलग और मुस्तक़िल तौर पर सदियों से चली आ रही है। जैसे कि उन्होंने कहा कि अकबर के ज़माने में गंग कवि ने नागरी रस्मुल-ख़त में एक रिसाला, 'चंद छंद बरनन की महिमा' लिखा, जिसमें खड़ी बोली का हिंदी रूप मिलता है। उसके बाद रामप्रसाद 'निरंजनी' ने लल्लूलाल जी से 32 साल पहले, एक किताब, 'भाषा योगवसिष्ठ' के नाम से लिखी, जिसमें उसी प्रकार की हिंदी मिलती है। उसी तरह मुंशी सदासुख लाल की 'सुखसागर', और इंशा अल्लाह खां की 'रानी केतकी की कहानी' भी ठीक उसी ज़माने की लिखी हुई है, जब कि लल्लूलाल जी की 'प्रेम सागर' लिखी गयी। उससे यह चीज़ तो यकीनी साबित हो जाती है कि लल्लूलाल जी खड़ी बोली हिंदी-नम्र के पहले लिखनेवाले नहीं हैं, लेकिन यह नहीं साबित होता कि उन्नीसवीं शताब्दी की नयी हिंदी-नम्र खड़ी बोली की उर्दू-शकल से प्रभावित होकर पैदा नहीं हुई। मेरे ख़याल में उसके साबित करने की कोई ज़रूरत भी नहीं, तअस्सुब की और बात है। प्रोफेसर सुनीति कुमार चाटुर्ज्या अपनी किताब 'इंडो आर्यन्स एंड हिंदी' में इसकी तस्दीक़ करते हैं—

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में हिंदी या हिंदुस्तानी का फैलना, मर्कज़ी¹ मुग़ल हुकूमत का भारत पर सबसे बड़ा अहसान है। यह भाषा दिल्ली दरबार के वकार² के साथ हर जगह पहुंच गयी। फ़ारसी किसी तरह पीछे हट गयी। हिंदी या हिंदुस्तानी जिसमें किसी प्रकार फ़ारसीयत शामिल थी या ज़बाने-उर्दू-ए-मुअल्ला या दरबारी ज़बान उन लोगों में राइज़ थी, जिनका दरबार से कुछ भी संबंध था, चाहे वे फ़ौज के लोग हों या सरकारी ओहदों पर फ़ाइज़³ हों। मुग़ल सल्तनत के विभिन्न राज्यों में अठारवीं शताब्दी में यही कैफ़ियत थी।

इस तरह हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि नयी हिंदी ने खड़ी बोली का ढांचा उर्दू से लिया, लेकिन उसमें उन शब्दों, बंदिशों और तरकीबों को और उन ख़यालात और अदबी

1. केंद्रीय, 2. स्वाभिमान, 3. पदासीन

रिवायात की रूह भरी जो हिंदू तहज़ीब के ज़रे-असर सूबों से अवधी, ब्रजभाषा और उत्तरी भारत की दूसरी अवामी बोलियों में (जैसे कि बघेली, राजस्थानी, मैथिली) में बराबर मौजूद थीं और जिनका मुसलसल विकास हो रहा था। मुसलमानों की हुकूमत के ज़माने में न केवल यह कि यह सिलसिला ख़त्म नहीं हुआ, बल्कि उसमें ज़बर्दस्त विकास हुआ था, खुद मुसलमानों ने उस विकास में बहुत भाग लिया था। वह अवाम जो उत्तरी भारत के गांव-गांव में कबीर के दोहे, तुलसी की रामायण, मीराबाई और सूरदास के गीत और आल्हा सुनने और समझने के आदी थे, वह तबके ब्रजभाषा की ज़बर्दस्त और ज़िंदा अदबी तहरीक को तीन सौ साल तक बराबर आगे बढ़ाते रहे थे उन तमाम लोगों के लिए नयी हिंदी तअस्सुब, फ़िर्कापरस्ती या तंगनज़री की पैदावार न थी; वह उनके तहज़ीबी इर्तिका का मंतकी नतीजा थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के बाद यह चीज़ और ज़्यादा ज़ाहिर हो जाती है। अंग्रेज़ी अमलदारी के साथ-साथ भारत के रहनेवाले विभिन्न लोगों में राष्ट्रीय अहसास भी पैदा हो रहा था। जैसे कि राजा राममोहन राय ने अंग्रेज़ ईसाई मिशनरियों के हमले से हिंदू धर्म को बचाने के लिए, हिंदू धर्म का एक नया तसव्वुर 'ब्राह्मो समाज' की शकल में पेश किया, और उनकी तहरीक जदीद बंगाली कल्चर के अहया का एक ज़रिया और वसीला बन गयी। इस तहरीक से प्रभावित होकर हिंदी अदब की पहली बड़ी शख्सियत भारतेंदु हरिश्चंद्र ने बनारस से अपना अदबी रिसाला जारी किया, बांगला से बहुत-से ड्रामों हिंदी में अनुवाद किये गये और अपने आसपास हिंदी के अदीबों का एक ऐसा गिरोह बनाया, जिनकी तहरीरों से दरमियानी तबके के पढ़े-लिखे हिंदुओं से वह पस्तहिम्मती दूर हुई जो अंग्रेज़ी गुलामी के कारण इस देश में पैदा हो गयी थी।

भारतेंदु के ड्रामों और उनके लेखों में यह साफ़ नज़र आता है कि वह अगर एक तरफ़ पुरानी हिंदी देवमाला और हिंदू तारीख़ की क़ाबिले-फ़ख़ हस्तियों को अपने ड्रामों में पेश करके हिंदुओं को उनके शानदार माज़ी और उनकी बुलंद अख़्लाकी और रूहानी रिवायात याद दिलाकर उनके सर को ऊंचा करना चाहते हैं, तो दूसरी ओर वह हिंदू समाज की खराबियों के सख़्त नुक्ताची भी हैं। भारतेंदु ने रुजतपरस्त¹ पंडितों का मज़ाक़ उड़ाया। तालीमे-निस्वा² की हिमायत और नयी तालीम की ज़रूरत पर ज़ोर दिया। नये भारत में क़ौमी बेदारी और हुब्बे-वतन के शुरूआती मज़ाहिर हमें इसी प्रकार के नज़र आते हैं, यानी अपनी क़ौम के अहसासे-पस्ती को दूर करने के लिए उसे उसके शानदार माज़ी की याद दिलाना, नयी दुनिया में सर-बुलंद होने के लिए पश्चिमी शिक्षा प्राप्त करना, और अपने समाज में सुधार करना।

भारतेंदु की तहरीरों की भाषा पर हम नज़र डालते हैं, तो उसमें रवानी और ज़ोर के साथ यह भी नज़र आता है कि वह अपनी हिंदी में अरबी और फ़ारसी के मुरिक्वजा अलफ़ाज़ बेतकल्लुफ़ी से प्रयोग करते हैं। उनकी तहरीर हिंदी होती है। उसमें संस्कृत की मिलावट होती है, और वह ब्रज और अवधी की रिवायात का भी दामन नहीं छोड़ती। इस लिहाज़ से इसमें और मुरक्वजा उर्दू-नस्र के तर्ज़ में काफ़ी अंतर है, लेकिन लल्लूलाल जी की ख़ालिस फ़ारसी और अरबी मुरिक्वजा शब्दों से मुअर्रा हिंदी यह नहीं है।

1. प्रतिक्रियावादी, 2. स्त्रियों की शिक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी हिस्से में हिंदू धर्म में इसलाह की दो और तहरीकों भी उठीं, जिनका हिंदी अदब पर असर पड़ा। एक स्वामी दयानंद सरस्वती की 'आर्य समाज' की तहरीक, जिसकी बाकायदा बुनियाद 1870 ई० में पड़ी, और दूसरी सनातन धर्म के हलके में रहते हुए धार्मिक तजदीद की तहरीक, जिसके बहुत बड़े मुबल्लिग पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी थे। इन दोनों तहरीकों का एक बुनियादी मक़सद यह भी था कि हिंदी भाषा को ज्यादा से ज्यादा तरजीह दी जाये। स्वामी दयानंद सरस्वती ने हिंदी को आर्यभाषा का नाम देकर उसके विकास को हर एक हिंदू का धार्मिक फ़रीज़ा करार दिया।

इसीलिए हम देखते हैं कि हिंदी उत्तरी भारत में (विशेष रूप से यू० पी०, बिहार, राजस्थान और सूबा मुतवस्सित के हिंदुस्तानी भाग में) हिंदू कौमी बेदारी का, जिसके विभिन्न पहलू धार्मिक अहया और तजदीद, सोशल रिफॉर्म, और जदीद तालीम में एक ज़बर्दस्त आलाए-कार बन गयी और उन तमाम तहरीकों के साथ-साथ उसका बहुत विकास हुआ। स्कूलों, कॉलेजों और कचहरियों में हिंदी और नागरी रस्मुल-ख़त के प्रयोग की ज़बर्दस्त मांग की गयी और उसे कामयाबी हुई। बीसवीं शताब्दी के शुरू में 'नागरी प्रचारिणी सभा' कायम हुई और उसके कुछ साल बाद 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' की बुनियाद पड़ी, अख़बार और रिसाले बड़ी तादाद में प्रकाशित होने लगे, धीरे-धीरे ब्रजभाषा को छोड़कर खड़ीबोली हिंदी में शाइरी भी होने लगी।

1920 ई० में जब राष्ट्रीय बेदारी की एक नयी लहर कांग्रेस और महात्मा गांधी की रहनुमाई में उठी तो उसके बाद हिंदुओं का और भी अधिक फ़रोग हुआ। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी मशहूर नज़्म 'भारत भारती' उसी ज़माने में लिखी। यह नज़्म उन गांधीवादी ख़यालात की, जो उस ज़माने में उत्तरी भारत के हिंदुओं को मुतहरिक कर रहे थे, बेहतरीन नुमाइंदगी करती है। पंडित रामचंद्र शुक्ल 'भारत भारती' के रचनाकार के बारे में लिखते हैं—हिंदीभाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निःसंदेह कहे जा सकते हैं। भारतेंदु के समय में स्वदेश-प्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी, उसका विकास 'भारत भारती' में मिलता है। इधर के राजनीतिक आंदोलनों ने जो रूप धारण किया, उसका आभास पिछली रचनाओं में मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्व-प्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान सबकी झलक हम पाते हैं।

(हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.-686-87)

इसी कौमी बेदारी का नतीजा है कि नाँविल, अफ़साने, शेर व नज़्म, ड्रामे, तन्कीदी मज़ामीन और किताबें, तारीख़, मआशियात, फ़लसफ़ा, इलाहियात और सियासियात का एक बढ़ता और फैलता हुआ तहज़ीबी सैलाब हिंदी भाषा के द्वारा हज़ारों-लाखों दिमागों को सैराब कर रहा है।

उर्दू : उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में

आइए अब खड़ी बोली की दूसरी शकल उर्दू पर हम नज़र डालें और देखें कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में इसका विकास किस प्रकार हुआ।

1. विकास

उत्तरी भारत के मुसलमानों में, हिंदुओं की तरह क़ौमी बेदारी अपने शुरुआती दौर में तीन रूप धारण करती है : एक तो तजदीद और इहयाये-दीन की तहरीक, दूसरे सोशल रिफ़ॉर्म, और तीसरे नयी शिक्षा का आंदोलन।

चुनांचे हम देखते हैं कि फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के भी तेरह-चौदह साल पहले शाह वलीउल्लाह देहलवी साहब के पुत्र शाह रफ़ीउद्दीन साहब ने कुरआन शरीफ़ का पहला अनुवाद उर्दू में किया (1788)। आपके छोटे भाई शाह अब्दुल कादिर साहब ने उससे भी ज़्यादा सलीस ज़बान में दुबारा कुरआन शरीफ़ का अनुवाद किया और उर्दू में उसकी तफ़्सीर भी लिखी। उसी तहरीक से वाबस्ता शाह मुहम्मद इस्माइल शहीद भी रहे थे। हम जानते हैं, इनके और इनके साथियों की रहनुमाई में एक ज़बर्दस्त आंदोलन (जिहाद) जारी हुआ, जिसमें हज़ारों मुसलमान शरीक हुए। यह आंदोलन आम लोगों का आंदोलन था, इसलिए उसके रहनुमाओं ने उसके नज़री उसूल उर्दू में धार्मिक रसाइल के द्वारा बयान किये। हज़रत इस्माइल शहीद ने 'तौहीद', 'सिराते-मुस्तक़ीम', 'तनवीरुल ऐनैन' नाम के रिसाले उर्दू में लिखे। 1857 ई० की बगावत के बाद उलेमा का यह आंदोलन कुछ दिनों के लिए दब गया।

यह बात ध्यान देने के काबिल है कि सर सैयद अहमद ख़ां, अपनी जवानी में, उस आंदोलन से प्रभावित थे और उन्होंने भी उन विशेष अकाइद की हिमायत में जो वहाबियत के नाम से मशहूर हैं, एक या दो रिसाले लिखे।

उत्तरी भारत के मुसलमानों की क़ौमी बेदारी दरअसल सर सैयद अहमद ख़ां की उस तालीमी और इस्लाही तहरीक से वाबस्ता है, जो उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम सालों में शुरू और जारी की। उर्दू नज़्म का नया रूप 'तहज़ीबुल अख़लाक़' में लिखनेवालों ने बनाया या उन लोगों ने जो दिल्ली कॉलेज से वाबस्ता रह चुके थे और मग़रबी तहज़ीब और अदब के ज़ेरे-असर उर्दू अदब की तजदीद करना चाहते थे। डिप्टी नज़ीर अहमद और मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद दिल्ली कॉलेज से निकले थे। इसी तरह मौलाना हाली, जिन्हें आज़ाद के साथ नयी उर्दू नज़्म का ईजाद करने वाला कहा जाता है, अलीगढ़ तहरीक से वाबस्ता हो गये थे और उन्होंने अपना 'मुसद्दस मदद जुज़ इस्लाम' सर सैयद के कहने से लिखा था।

'मुसद्दस' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मुसलमानों के शानदार माज़ी और भारतीय मुसलमानों की मौजूदा पस्तहाली को, समाजी इस्लाह, तालीम व तरबियत की तरगीब देने के लिए बहुत मुअस्सिर और दिलचस्प और सलीस अंदाज़ में बयान किया गया था।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जब केवल तालीमी और इस्लाही दौर का ख़ात्मा-सा हुआ और सियासी बेदारी के साथ-साथ आज़ादी के ख़यालात भी मुसलमानों में फ़ैलने लगे, तब उर्दू अदब ने एक और करवट ली, और शिबली, ज़फ़र अली ख़ां, अबुल कलाम और आख़िर में इक़बाल मुसलमानों की नयी क़ौमी बेदारी की तर्जुमानी करने लगे।

इस बेदारी का एक पहलू यह भी था कि मुसलमानों में आम तौर से उर्दू को आगे बढ़ाने और उसके तंगनज़र और मुतअस्सिब दुश्मनों से बचाने का भी ज़बर्दस्त जज़्बा उनमें बेदार हुआ, और मुस्लिम एजुकेशनल कांफ़्रेंस के आंदोलन के एक जुज़ की हैसियत से अंजुमने तरक्की-उर्दू भी कायम की गयी।

जब मैं यह कहता हूँ कि नयी उर्दू की तरक्की, भारतीय मुसलमानों की गुज़रता सौ साल की क़ौमी बेदारी से वाबस्ता है और उसी के साथ हुई तो उसके यह माऽनी हर्गिज़ नहीं कि उर्दू अदब की तरक्की में हिंदुओं का जो योगदान रहा, उसे घटाना चाहता हूँ या उसकी अहमियत को कम करना चाहता हूँ। रतननाथ सरशार, सुरूर जहानाबादी और चकबस्त जैसे अदीबों के नाम मामूली हैसियत नहीं रखते, इसलिए कि उन्होंने हमारे अदब पर गहरे नुक़्श छोड़े हैं। मुझे इसका भी पूरा अहसास है कि अगर हमारे दौर-जदीद के सबसे बड़े उर्दू शाइर इक़बाल है, तो उसी ज़माने के सबसे बड़ा नाविलनिगार और अफ़सानानवीस प्रेमचंद हैं, और मैं यह भी अच्छी तरह जानता हूँ कि उर्दू के तरक्कीपसंद शाइरों में अगर एक तरफ़ जोश मलीहाबादी जैसे उस्ताद हैं, तो दूसरी ओर फ़िराक़ हैं। कृशन चंदर, अशक़, और बेदी की तख़लीकी अहमियत ज़ाहिर है।

फिर भी यह वाक़आ है कि वह इश्तिराक़ जो उर्दू के इन हिंदू-उर्दूदानों और उनके अलावा ज़माना-गुज़रता और हाल के और भी बहुत-से गैर-मुस्लिम उर्दूदानों और मुस्लिम उर्दूदानों में है, उससे यह नतीजा निकालना ग़लत होगा कि हिंदू आमतौर से उर्दूदां हैं। वाक़आ यह है कि उर्दू अदब का ग़ालिब उन्सुर पहले भी और आज भी अधिक मुसलमानों पर मुश्तमिल है और इसी वजह से उर्दू अदब के ज़्यादातर भाग पर मुसलमानों की तहज़ीब व तमद्दुन की छाप है। बिल्कुल उसी प्रकार हिंदी के ग़ालिब उन्सुर पर हिंदू तहज़ीब के आसार नुमायां हैं। यहां पर मैं यह चीज़ साफ़ कर देना चाहता हूँ कि जब मैं हिंदू तहज़ीब या मुस्लिम तहज़ीब का नाम लेता हूँ तो मेरी मुराद धार्मिक फ़र्क़ से नहीं होती। भारत की तहज़ीब इस देश के विभिन्न भागों में विभिन्न शक़्लें रखती है और उसमें बेशुमार बातें मुश्तरक़ हैं। फिर भी उन इलाक़ों में जहां उर्दू या हिंदी आम तौर से बोली जाती है, हिंदू और मुस्लिम कल्चर का अंतर हमें उर्दू और हिंदी की मौजूदा अदबी शक़्लों में साफ़ दिखायी देता है।

मुश्तरका बातें

असल बात यह है कि उर्दू और हिंदी, अपनी मौजूदा अदबी और तहरीरी शक़्ल में अलग-अलग हैं, हालांकि उनकी नह्वी साख़्त बुनियादी तौर से एक है। अब यह बहस कि ये दोनों एक भाषा की दो शाख़ें या दो अलग और मुस्तक़िल भाषाएं हैं, कुछ बेकार-सी मालूम होती है। इल्मे लिसान की रू से, जैसे कि डॉक्टर ताराचंद साहब और कुछ अन्य उलेमा का फ़रमाना है—उनको अलग-अलग दो भाषाएं कहना शायद सही नहीं है। बहरहाल उनका फ़र्क़ ज़ाहिर है; और उस फ़र्क़ का असली कारण यह है कि यह हमारी कल्चर की दो समानांतर धाराओं की आईनादार हैं। दोनों हमारे देश की फितरी और तारीख़ी पैदावार हैं। दोनों भारतीय हैं। दोनों को ज़िंदा रहने और फलने-फूलने का बराबर हक़ है।

तो क्या इसके माऽनी यह हैं कि भारत के उन इलाक़ों में जहां उर्दू या हिंदी इस समय बोली जाती है, उर्दू और हिंदी की शिक्षा जब आम लोगों को अलग-अलग दी जायेगी तो धीरे-धीरे ऐसी हालत पैदा हो जायेगी कि उर्दू बोलने वाले हिंदी बोलने वालों की बातें न समझ सकेंगे और हिंदी बोलने वाले उर्दू बोलने वालों की बातें न समझ सकेंगे? या यह होगा कि स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय सभी तालीमी और अदबी इदारे उर्दू और हिंदी में बंट जायेंगे,

एक शहर और एक गांव के रहनेवाले एक-दूसरे की बोली तक न समझ सकेंगे?

अगर हम अपनी कल्चर के मुआमलात को हकीकत-पसंदी, इंसाफ़ और एक-दूसरे के लाभ के उसूल पर हल करें तो हर्गिज़ इस प्रकार का अलगाव नहीं होगा। सियासत की तरह तहज़ीबी मुआमले में हकीकत को उसके मुकम्मल और विभिन्न रूपों में और पहलुओं से देखकर और समझकर ही हम ऐसे नतीजे पर पहुंच सकते हैं, जो सबको काबिले-कुबूल हों और जिसमें सबका भला हो।

उर्दू और हिंदी के जो विभिन्न पहलू हैं, उन्हें हमने देख लिया; अब देखना यह है कि उनमें कौन-सी बातें मुश्तरका हैं।

सबसे पहले उर्दू और हिंदी में जो चीज़ हमें मुश्तरका दिखायी देती है, वह इन दोनों की बोलियां हैं। इससे इंकार नहीं हो सकता है कि आम बोलचाल की भाषा बहुत बड़ी हद तक मुश्तरका है। यह भाषा जिसे आम तौर पर हिंदुस्तानी कहते हैं—यूपी०, दिल्ली, बिहार, मध्य भारत, राजस्थान, हैदराबाद और पूर्वी पंजाब के शहरों में बोली जाती है। देहातों में (जहां लोग हिन्दुस्तानी की विभिन्न बोलियां बोलते हैं), सारे भारत के शहरों में टूटे-फूटे अंदाज़ में यह समझ ली जाती है। बंबई, कलकत्ता, अहमदाबाद की ज़्यादा आबादियां उसे बोल और समझ लेती हैं। ग़ैर-हिंदुस्तानी इलाकों के बहुत-से लोग जो राष्ट्रीय जज़्बे के मातहत उर्दू या हिंदी पढ़ते-लिखते हैं, उस मुश्तरका भाषा को बोल और समझ लेते हैं।

दूसरे यह कि उर्दू और हिंदी अदब में भी अनेक स्थानों पर हमें उसके नमूने मिलते हैं, जैसे कि नज़ीर अकबराबादी और हाली के कलाम के कुछ भाग उसे हम चाहे आसान उर्दू कहें, चाहे आसान हिंदी।

तीसरे यह कि मुश्तरका भाषा हमारी बेशतर फ़िल्मों में प्रयोग होती है।

चौथे, आम जलसों में भाषण देते समय अच्छे मुक़र्रिर उस मुश्तरका भाषा का प्रयोग करते हैं। गांधीजी, जिन्ना साहिब, पंडित नेहरू, बाबू राजेंद्र प्रसाद, मज़दूर आंदोलन से संबंध रखने वाले अक्सर मुक़र्रिर उसी भाषा का प्रयोग करते हैं।

पांचवें, उर्दू और हिंदी की नवीं बनावट एक है। दोनों की बुनियाद खड़ी बोली है, जो मध्यप्रदेश की शौरसेनी अपभ्रंश से निकली है।

भविष्य में कल्चर का प्रश्न

उर्दू और हिंदी की मौजूदा पोज़ीशन, उनमें बराबरी और उनमें अलहदगी की मौजूदा स्थिति को समझने के बाद अब यह सवाल पैदा होता है कि भविष्य में भारत के उन इलाकों में जो उर्दू या हिंदी' बोली के इलाके¹ हैं, कल्चर का प्रश्न किस प्रकार हल किया जायेगा? हम इस प्रश्न को सियासी और समाजी प्रश्नों से अलग करके नहीं देख सकते।

हम जानते हैं कि साम्राज्यवादी शासक हमारी क़ौम के इस अहम प्रश्न को हल करने से कासिर ही नहीं रहे। उनके प्रशासन-काल में कल्चर अगर बढ़ी है तो उनकी मुख़ालिफ़त

1. मेरी मुराद उस अदबी इलाके से है, जिसे ग्रियर्सन ने पश्चिमी और उत्तरी भारत के इलाके में शामिल किया है।

के बावजूद और उनके खिलाफ कोशिश करके। इसकी सबसे बड़ी मिसाल आम शिक्षा की समस्या है। हमारी क़ौम में केवल पंद्रह प्रतिशत आदमियों का शिक्षित होना साम्राज्यवादियों की कल्चर-दुश्मनी की सबसे बड़ी दलील है।

केवल एक आज़ाद और ज़महूरी भारत पूरी तरह से मुहज़ज़ब और मुतमद्दिन हो सकता है। अब उस इलाक़े में आम शिक्षा की समस्या किस प्रकार हल करेंगे, जहां इस समय दो अदबी ज़बानें-हिंदी और उर्दू प्रचालित हैं, लेकिन जहां के लोग आमतौर से एक बोली समझ और बोल लेते हैं?

ज़ाहिर है कि हम यू० पी० और बिहार के हरेक देहात और शहर के हरेक मुहल्ले में स्कूल खोलेंगे तो उनमें से अधिकतर हिंदू बच्चे हिंदी पढ़ेंगे और अधिकतर मुसलमान बच्चे उर्दू पढ़ेंगे। यह उनका जाइज़ और फ़ितरी रुज़ान है। हमें इसका प्रबंध करना होगा। ज्यों-ज्यों हमारे देश के हिंदुस्तानी बोलनेवाले इलाक़े में शिक्षा बढ़ रही है, हमें यह नक्शा साफ़ दिखायी देने लगा है। एक सच्चे ज़महूरी प्रशासन का फ़र्ज़ होगा कि वह दोनों भाषाओं में शिक्षा का प्रबंध करे।

लेकिन हमारे जीवन की आवश्यकताएं हमें एक-दूसरे के साथ काम करने, एक-दूसरे के साथ रहने-सहने, एक-दूसरे के ख़यालात व ज़ब्बात मालूम करने, एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर काम करने पर मजबूर करती हैं। हिंदू और मुसलमान अवाम के जीवन के मक़सद एक होंगे-आज़ादी की फ़ज़ा में खुशहाली का मुहज़ज़ब और पुरअम्न जीवन बसर करना, जिसमें हमारी जिस्मानी, ज़ेहनी और रूहानी ताक़तों की बेहतरीन नशोनुमा हो सके।

इसलिए उर्दू जाननेवालों के लिए यह ज़रूरी होगा कि वह हिंदी से वाक़फ़ियत हासिल करें। हिंदी जाननेवालों के लिए ज़रूरी होगा कि वे उर्दू सीखें। जब हम एक-दूसरे के ख़यालात व ज़ब्बात से वाक़िफ़ होंगे, हमारे दिमाग़ एक-दूसरे के अदब के बेहतरीन ख़ज़ानों से रौशन होंगे तो वह मुर्व्विजा जिहालत जो उर्दू के तरफ़दारों में हिंदी की ओर से और हिंदी के हिमायतियों में उर्दू की ओर से आज मौजूद है, कम होने लगेगी और वे हास्यपूर्ण हरकतें जो आजकल के बाज़ हिंदीदां उर्दू के मुर्व्विजा शब्दों को त्यागकर कर रहे हैं, बेवकूफी और जिहालत की निशानी समझी जायेंगी, इसी तरह हिंदी शब्दों पर नाक-भौं चढ़ानेवालों को लोग क़बिलेरहम, गुलामाना और मुतअस्सिब ज़हनियत का शिकार समझेंगे।

इस तरह, हिंदी और उर्दू भाषाओं की एक नयी तहलील¹ शुरू होगी और उस महान् भाषा के नक्शा उभरने लगेंगे जो अपने में उर्दू और हिंदी की तमाम रिवायात को, उनके तमाम ख़ज़ानों, उनकी तमाम लताफ़तों और शीरीनियों, उनकी वुसअतों और गहराइयों को समाये हुए होगी, जो हमारी नयी तहज़ीब का रूहानी ताजमहल कहलाये जाने की हक़दार होगी और उसे हम सही मानों में 'हिंदुस्तानी' का नाम दे सकेंगे।

हमें क्या करना चाहिए

यह खुशी लानेवाला भविष्य खुद-ब-खुद वजूद में नहीं आयेगा। तारीख़ चाहती है कि इसके तकाज़ों को हम अपने अमल से पूरा करें। हमें तहज़ीबी एकता की उस मुहिम में तंगनज़र असबिय्यत

1. मिश्रण, विलयन

और रुजतपरस्त अलहदियत का मुकाबला करना पड़ेगा और उन्हें शिकस्त देनी होगी।

हिंदी के तरफदारों में जो लोग उर्दू के वजूद से इन्कार करते हैं, जो उर्दू को मिताना चाहते हैं, हमें उन्हें समझाना होगा कि इसमें हिंदी और देश दोनों का नुकसान है। हमें उन्हें समझाना होगा कि हमारे देश में रहनेवाले लाखों-करोड़ों भारतीयों की ज़ेहनी तरबियत उर्दू के ही द्वारा हो सकती है। और इसलिए हर एक भारतीय का कौमी फ़र्ज़ है कि उर्दू की तरक्की को अच्छी नज़र से देखे और जहां तक हो सके, इस काम में मदद करे।

बिल्कुल उसी तरह हमें उन लोगों को भी समझाना पड़ेगा जो हिंदी की मुख़ालिफ़त करते हैं कि बेशुमार भारतीयों की तालीम व तरबियत का ज़रिया हिंदी ही हो सकती है और इसलिए उसकी मुख़ालिफ़त करना अपनी तंगनज़री का सुबूत देना है।

उर्दू और हिंदी की मौजूदा अलहदगी को तस्लीम करते हुए हमें कोशिश करनी चाहिए कि यह अलहदगी कम हो।

इसलिए ज़रूरी है कि इस समय हिंदी और उर्दू का वह लिसानी¹ इलाका जो दोनों में मुश्तरका है, जिसे आसान उर्दू, आसान हिंदी या हिंदुस्तानी का नाम दिया जाता है, कायम रहे और उसे बराबर बढ़ाने की कोशिश की जाये।

हिंदी के तरक्कीपसंद अदीब इस रुझान की मुख़ालिफ़त करें, जिसके मातहत हिंदी में से फ़ारसी, अरबी या उर्दू के मुख़िजा² और आम-फ़हम शब्दों का प्रयोग करना छोड़ा जा रहा है।

उर्दू के अदीब ठेठ हिंदी या संस्कृत-तद्भव या तत्सम अलफ़ाज़ जो प्रयोग किये जाते हैं या जो अवाम में बाले जाते हैं, उनको अपनी भाषा से अलग न करें।

मुश्तरका स्कूलों, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों और अन्य मुश्तरका तालीमी इदारों के शिक्षकों के लिए ज़रूरी हो कि वे दोनों भाषाएं अच्छी तरह जानते हों।

हिंदी और उर्दू के मुस्तनद उलेमा इल्मी तौर फ़न्नी-इस्लाहों³ के मुश्तरका लुगात⁴ तैयार करें। जहां किसी इस्लाह के लिए एक शब्द न हो सके, वहां हिंदी और उर्दू दोनों की इस्लाहें लिख दी जायें। ये लुगात उर्दू और नागरी दोनों रस्मुल-ख़त में हों।

ऐसे लुगात तैयार किए जायें जिनमें हिंदी और उर्दू दोनों के शब्द हों और दोनों भाषाओं में माउने दे दिये जायें।

अदीब दोनों भाषाएं सीखें और इस सिलसिले में हम प्रेमचंद, अशक, अख़्तर हुसैन रायपुरी, डॉक्टर ताराचंद, पंडित सुंदरलाल की मिसाल पर अमल करें। दोनों भाषाएं जानने से अदीब आसानी से अपनी किताबें उर्दू और हिंदी में प्रकाशित कर सकेंगे। इसमें अदबी और माली दोनों तरह से उनका फ़ायदा है।

हम सब कोशिश करें कि फ़िल्मों, ड्रामों, भाषणों, अख़बारों और रेडियो पर ऐसी उर्दू या ऐसी हिंदी प्रयोग हो जो अधिक से अधिक लोगों की समझ में आये। रेडियो से उर्दू और हिंदी दोनों नश्र हों। लेकिन, उर्दू को घटाकर हिंदी न हो और हिंदी के बदले उर्दू न हो; साथ-साथ मुश्तरका 'हिंदुस्तानी' का भी प्रोग्राम हो। उर्दू और हिंदी के प्रोग्राम जहां तक हो सके, आसान भाषा में हों।

1. भाषायी, 2. प्रचलित, 3. पारिभाषिक शब्दों, 4. शब्दकोश, 5. प्रसारण

उर्दू में हिंदी और हिंदी में उर्दू अदब को मक़बूल बनाने की कोशिश की जाये। उर्दू की किताबें हिंदी रस्मुलख़त में भी प्रकाशित हों ताकि हिंदीवाले उन्हें आसानी से पढ़ सकें, इसी तरह हिंदी की किताबें उर्दू रस्मुल-ख़त में प्रकाशित हों। कठिन शब्दों के अर्थ दिये जायें। हिंदी और उर्दू किताबों के अनुवाद भी एक-दूसरे की भाषा में छपें, जैसे प्रेमचंद और अशक, अख़्तर हुसैन की किताबों के होते हैं।

तरक्कीपसंद अदीब उर्दू और हिंदी के अदबी और लिसानी इदारों में शरीक होकर काम करें। अगर हिंदी के अदीब हैं तो कोशिश करें कि हिंदी में उर्दू की मुखालिफ़त के रुझानात ख़त्म हों, उर्दू के अदीब हिंदी के ख़िलाफ़ तअस्सुब को दूर करने की कोशिश करें। सब एक-दूसरे की भाषा सीखें और तअस्सुब के कारण से शब्दों को निकालने के बजाय दूसरी भाषा के नये शब्दों को अपनी भाषा में लेकर खपा देने की कोशिश की जाये।

भारत की बैनुलअक्वामी ज़बान, हिंदी और उर्दू दोनों हों। जिसका जी चाहे जौन-सी भाषा सीखे। लेकिन यहां भी ऐसी कोशिश जारी रहे कि हिंदी और उर्दू की मुशतरका चीज़ें उभरें।

खात्मा

अब आपको एक छोटा-सा लतीफ़ा सुनाकर मैं इस तूलानी¹ दास्तान को ख़त्म करता हूँ। थोड़े दिन हुए मैं अपने इन ख़यालात का इज़हार उर्दू के एक बहुत बड़े आलिम से, जिनका मैं बेहद अहतिराम करता हूँ, कर रहा था। उन्होंने मुझसे नाराज़ होकर कहा, 'आप दोनों को खुश करना चाहते हैं।' मैंने निहायत आजिज़ी के साथ उन्हें जबाब दिया, 'इसमें हरज क्या है?'

क्या उर्दू और हिंदी की यह गुत्थी जो धीरे-धीरे ज़्यादा पेचीदा होती जाती है, किसी ऐसे भी तरीक़े से हल हो सकती है, जिससे उर्दू या हिंदी के विकास या तरक्की पर ज़र्ब पड़ती हो? केवल वही कल कामयाब हो सकता है जो इन दोनों भाषाओं के वजूद, इनके जवाज़² और इनकी ज़रूरत को तस्लीम करके ऐसी राह निकाले जो मुतज़ाद³ न हो, और जो हमारी तहज़ीब के इन मुतवाज़ी धारों को इस प्रकार फलने और बढ़ने का मौक़ा दे कि आगे चलकर वे एक-दूसरे से मिल जायें।

(नूर ज़हीर द्वारा संपादित पुस्तक 'सज्जाद ज़हीर की प्रतिनिधि रचनाएं' : प्रकाशक, मेघा बुक्स, दिल्ली-32 से साभार)

उर्दू कविता शमशेर बहादुर सिंह

(1)

हम क्यों उर्दू-काव्य-साहित्य की चर्चा कर रहे हैं?

हिंदी काव्य की आवश्यकताएं

हमारा ग्रामीण भी कभी-कभी दैनिक-पत्र पढ़-सुन लेता है। लेकिन हमारी कविताएं भी उसके पढ़ने में आती हैं या नहीं—और उन पर उसका मत...? न हो उस गरीब में इतनी क्षमता, कोई भी मत स्थिर करने की, पर हमें नहीं भूलना है कि आज हमारे साहित्य का सवाल समस्त भारत का सवाल हो गया है। हमारे काव्य की भी सृष्टि अब बंधे हुए तंग दायरों में नहीं बढ़ सकती। सोचो, कि हम जो हिंदी लिखते-पढ़ते हैं, अपनी वाणी के संबंध में हमारा क्या दृष्टिकोण है? इतना अवश्य जानते हैं कि अपने साहित्य, अपने काव्य को हम आज अपने जीवन के संघर्ष से विरक्त हुआ नहीं देख सकते। इसीलिए देखना चाहते हैं कि हमारा कवि संस्कृतियों की ठोस अनुभूति के द्वारा हमारे व्यापक जीवन के सत्य-सौंदर्य से हमारा परिचय कराने में सशक्त है या नहीं, संसार की सभ्यता का आदान-प्रदान उसकी कल्पना में वह सूक्ष्म दृष्टि, वह कंपन, भरता है या नहीं, जिसका भाव-स्पर्श पाकर हमारा भूत और भविष्य एक नये अर्थ से गौरवान्वित हो जाय और हमारे वर्तमान की आधारभूत प्रेरणाएं और लक्ष्य अधिक स्पष्ट हो जायं।

सम्प्रति उसके क्षेत्र की परिमितता

आधुनिक प्राच्य कवियों की दशा देखकर इकबाल कहते हैं—

मशरिक के नयस्तां में है मोहताजे-नफ़स नै;

शायर! तेरे सीने में नफ़स है कि नहीं है?

अर्थात्—यह नीरव बांसुरियों का जंगल! मालूम नहीं, कवि के हृदय में कुछ बोलता भी है या नहीं! कवि का वैयक्तिक स्वर, कल्पना के तथ्यों तक वैयक्तिक पहुंच और उनकी गहरी अनुभूति का आभास उसकी वाणी में आज हमें बहुत कम देखने को मिल रहा है। स्वर-साधना का आधार बहुत परिमित और शब्द-योजना बहुत संकुचित है। न प्रतिभा में अन्वेषण का रोमांस है, और न उसके 'रोमांस' में कुछ दम। दो-चार कविताओं से ही कवि का ज़ोर नहीं मान लिया जाता और न एकाध कवि से किसी युग का महत्त्व ही बढ़ जाता है; अथैव न ही दूसरे देशों से तुलना किये बिना अपने स्थान का पता चलता है।

अपने ज्ञान की परिमितता, अपने भंडार की हीनता कवियों के लिए सचमुच शोचनीय है। अपने ही देश-इतिहास के किन-किन युगों का सजीव चित्रण हमारी खड़ी बोली का काव्य-साहित्य अब तक खड़ा कर सका है? हमारी आधुनिक सभ्यता का वास्तविक नग्न दिग्दर्शन हमें अपने किन हिंदी छंदों में मिला है? वह भीषण राग, जिसको सुनकर हमारे कान बधिर हो जायं, कहां हमारी चेतना-शक्ति को जाग्रति से तेजपूर्ण करता है? ढोरों के वह बाड़े, जिन्हें हम भारतीय ग्राम कहते हैं, उनका वास्तविक रूप कौन आधुनिक कवि देखने-दिखाने में अभी तक सफल हुआ है? एक विषादपूर्ण 'अभाव' है, 'शून्य' की 'नीरवता' है, कितने ही एकाकीपन हैं, एकाकार से होते हुए अतीत के अस्पष्ट स्वप्न हैं; बस, निराशा ही निराशा है—हृदय के मूक गान; सुख-दुःख के बुद्बुद। हमारी उर्दू में भी...लेकिन यहां कम-से-कम इक़बाल का एक गंभीर आधुनिक स्वर है जो वर्तमान सभ्यता के स्तर-स्तर को भेद जाता है। अकबर की शमा अभी भी विदेशी प्रकाश पर हंस रही है। इस सूक्ष्म-दृष्टा की चेतावनी थी कि—

उर्दू में जो सब शरीक होने के नहीं,
इस मुल्क के काम ठीक होने के नहीं;
मुमकिन नहीं शेख अमएल-कैस बने,
पंडितजी बाल्मीक होने के नहीं!

(‘उर्दू’ का अर्थ ‘लश्कर’ भी है। स्वर्गीय पद्मसिंह का इस रुबाई पर नोट—‘यहां उर्दू से मुराद एक मुश्तरका ज़बान हिंदुस्तानी से है, चाहे उसे उर्दू कहो या हिंदी।’) खैरा।

एक-दूसरे के वैभव से समृद्ध होने के अलावा और दूसरी एक चीज़ की हमारी व्यवहृत वाणी को आवश्यकता है और वह है उस बुनियादी भाषा की, जिसकी खोज हमें गांव-गांव के शब्दों और महावरों में, कौम-कौम के रीति-रिवाजों के गीत-साहित्य में और उनके जीवन के सुख-दुःख, हास-रुदन के भाव संबल में करनी होगी। कारण यही नहीं है कि शहरी साहित्य में अकृत्रिम पवित्रता के भाव स्वस्थ नहीं रह गये हैं; अपितु कल्पना के स्वल्प क्षेत्र को विस्तार देने, और शब्द, अर्थ, स्वर और लय की साधना को अधिक महान, अधिक पूर्ण बनाने के लिए उसकी वाणी की शक्तियों में एक अद्भुत मंत्र फूंकने की भी आवश्यकता है। और यही इस नवीन युग की साधना होगी।

आज एक उत्तरदायी कवि के समक्ष भारतीय संस्कृति केवल हिंदी या इस्लामी संस्कृति नहीं है। इसके ताने-बाने को समझने, इस महान देश के आधार-सत्य को प्राप्त करने में ही आधुनिक कवि-हृदय की पूर्णता और महत्ता है। दृष्टिकोण कुछ संकुचित करने पर भी ज्ञात होता है कि हम अपनी बहुत-सी चीज़ों को अभी अपना नहीं सके हैं। ‘विशाल भारत’ के एक पिछले अंक में ‘उर्दू की आधुनिक प्रगति’ पर उपेंद्रनाथ ‘अशक’ का एक लेख छपा था। कोई कारण नहीं कि इसमें उद्धृत तथा और अन्य बीसियों रचनाएं हिंदी साहित्य में सम्मानित स्थान न पायें। हाली की ‘बेया’, ‘बरखा रुत’, ‘हुब्बेवतन’ इत्यादि, इक़बाल की एक कविता, ‘नया शिवाला’ पंजाब के कुछ आधुनिक कवियों (‘हफ़ीज़’ आदि) तथा मेरठ के ‘सागर निज़ामी’ के गीतों से हिंदी के उस रूप का बहुत हल्का-सा आभास मिलता है, जो उसके भविष्य की संपत्ति होगा। ‘नवीन’ की शब्दावली में भी उसकी मीठी झंकार कभी-कभी सुनायी दे जाती है।

पाश्चात्य कवियों से तुलना

यदि हम देखें कि पाश्चात्य कवि (मैं सिर्फ अंग्रेजी और अमेरिकन कविता के बारे में कह सकता हूँ) अपने कथानक, चरित्रों तथा वातावरण-चित्रण के लिये किस प्रकार देश-विदेश की भाषा, कला और जीवन के रूप-रंग का सौंदर्य तथा ज्ञान-विज्ञान के दुरूह-से-दुरूह और नीरस-से-नीरस तथ्यों का भावमय संस्कार करते हैं, तो हमें उनके वैचित्र्योन्मेषक दुस्साहस, उनकी कल्पना के सुविस्तृत क्षेत्र और छंद, गति तथा लय की नवीनतम सृष्टियों को देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ेगा। और हम अपने खास पड़ोसी की भाषा का भी रसानंद लेने में भी मानो असमर्थ हैं। शायद कारण यह भी हो कि वह बचपन से हमारे कानों में पड़ती रही है और हमारे हाट-बाजार और दुकान-दफ्तर की भाषा है, हमारी हिंदी का ही रूप है, कितना ही 'अवैदिक' सही। और दूसरे कारण इकट्ठा करने में तो हमारे प्रांतों के शिक्षा-विभागों ने जैसे अपनी संकीर्ण नीतियों के लंबे इतिहास तैयार कर लिये हैं।

अस्तु, अब यह नहीं कि इंग्लैंड के पिछली शताब्दी के कवियों की काल्पनिक उड़ान का दम भरते रहने में या रवींद्रनाथ की तत्सम संस्कृत शब्दावलियों को उन्हीं के प्रतिस्वर में इंकृत करते रहने में हम अपनी उत्कृष्टता समझते रहें, बल्कि यह देखें कि किसी प्रकार वह योग प्राप्त हो जो हम अपने ही घर में गड़ा हुआ धन खोज और निकालकर अपने काम में ला सकें? केवल शब्दों को रेल-मेल लेने से नहीं, कुछ अनोखे भावों का पैबंद लगा लेने से नहीं, बल्कि दोनों प्रमुख संस्कृतियों के इतिहास, धर्म, कला और साहित्य के एक साथ अध्ययन की शुरु से ही अनिवार्य और व्यापक व्यवस्था करने से ही वह मौलिक सरसता, आधारभूत सौंदर्य की वह ग्रहण-शक्ति पैदा हो सकती है, जो कवि-कृतियों में इस युग को सफल बनायेगी।

उर्दू कविता का आंतरिक रूप

हमारे हिंदी काव्य-जीवन से जिसका इतना गहरा संबंध है, उस भाषा के जिन दो-चार कवि-रत्नों को अपनाने का भाव हिंदी-संसार ने दिखाया है, वे हैं 'नज़ीर', 'अकबर', 'हाली' और 'चकबस्त', और हां, 'बिस्मिल' इलाहाबादी। अपनी विशेष कृतियों अथवा कविता में अपनी विशेष प्रवृत्तियों के कारण ही ये कविगण हिंदी-जगत को रुचिकर लग सके हैं। शायद एक 'चकबस्त' को छोड़कर अन्य कवियों की प्रतिभा का पूर्ण या सच्चा रूप क्या हिंदी पाठक वास्तव में देख पाये हैं?

इसके पीछे एक सामाजिक कारण है। अर्थात् सांस्कृतिक विभिन्नता-जनित एक-दूसरे के प्रति विराग : जिसका एक बड़ा कारण स्वयं भारतीय साहित्य के शिक्षण की गलत प्रणाली भी है। तीसरे उर्दू के विषय में कुछ गलतफहमियां, उसके काव्यादर्शों तथा उत्कृष्ट कृतियों से अज्ञान। इस अंतिम कारण पर संक्षेप में आगे चलकर बहस करेंगे। पहले तो यह देखें कि उर्दू कविता का स्वरूप क्या है। और इसके आकर्षण के मूल में क्या चीज है?

भावुकता के पक्ष से रूपक में इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि :- यह उस मर्माहता विषाद-नगरी दिल्ली की भोली बालिका है, जिसने अपने बिखरे वैभव की कल्पना के कंठहार से इसे विभूषित किया। इसका शैशव दक्खिन में बीता। स्वर कुछ बचपन से ही करुण रहा है।-हां, जब इसने लखनऊ का ऐश देखा तो पलकों में विलास जाग उठा और कपोल सुहास से खिल

उठे। पर आज उसका यौवन-स्वर बहुत गंभीर-बहुत कोमल तथा मधुर-किंतु बहुत गंभीर हो गया है। उस परदेसी की-सी इसकी आत्मा है, जिसकी पूजा का सामान घर पर रह गया हो, एक वियोगी आत्मा है, जो अपने आपको भूल जाना चाहती है, इसीलिए इतनी आकर्षक है; किंतु अपने खोये हुए प्यार को इसी देश में ढूँढ़ रही है, इसी देश के स्वरों में उसकी खोज लगा रही है। इसी में हमारी बोल-चाल जो इसने सीख ली है, इसी में इसकी-हमारी आत्मीयता है। मीर को कितना गर्व है इस पर-

गुफ्तगू हमसे रेख्ता में न कर!

यह हमारी ज़बान है प्यारे!

‘रेख्ता’, अर्थात् उर्दू। गज़ल के शेरों में इस भाव के एक-एक मोती को हृदय से लगाकर रखते जाते हैं। उन्हें एक संबंध-गुण में पिरोकर उनकी माला गूँथने का मानो हमारे जीवन में अवकाश नहीं।-हां, ‘मस्नवी’ का ढंग अलग है-उसका हर शेर उर्दू की एक चौपाई समझिए। और ‘मर्सियों’ की बात भी न्यारी है; क्योंकि उसकी षट्पदी प्रबंध-काव्य के प्रवाह में ढलती है। मर्सिये...धर्म के शहीदों पर चढ़ाये हुए ये हार उस दुनिया की चीज़ हैं, जिनसे जीवन का अनन्य लगाव है। इनके अलावा, लोकपालों की प्रशस्तियां ‘क़सीदे’ कवि-कला कौशल का आदर्श और दरबारों की मनोरंजन-सामग्री मात्र रही हैं। ऋतु-वर्णनादि में इन्हीं दोनों दृष्टिकोणों का सामंजस्य हो गया है।

उर्दू कविता का बाह्य-रूप; छंद, आदि

उर्दू स्वर और ध्वनि से हिंदी जगत अपरिचित नहीं। नाथूराम ‘शंकर’ और भगवानदीन ‘दीन’ आदि उससे छंद और महाविरों का चस्का ले चुके हैं। मैथिलीशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा और गोपालशरण सिंह की कविता पर उसका प्रभाव पड़ा है; तथा अधिक मौलिक रूप से और कुछ अधिक सफलतापूर्वक आजकल बच्चन हमें उसका रसास्वादन करा रहे हैं। जो कविता प्रेमी सवैया और घनाक्षरी की गति-लहर पर एक बार मुग्ध हो चुके हैं, उन्हें शायद खड़ी बोली के मात्राओं में बंधे हुये छंदों में वह आनंद मुश्किल से मिलेगा, जो उन्हें व्यंजनों के साथ स्वरों की सिकुड़-फैलकर घुलती हुई लय में मिला है। उर्दू में मात्रिक छंद होते ही नहीं। ‘हिंदी तर्ज’ में गाते समय भी उर्दू कवियों ने गति और लय पर ध्यान दिया है, मात्रा पर नहीं, जैसे-

प्रेमनगर से आयी मैं दासी,

पटमंदिर के खोल!

—(‘सागर’)

यह मानना पड़ेगा कि छंदों का-विशेषतः लंबे छंदों का-अपना विशेष आकर्षण होता है। [भावों के उद्रेक और पोषण में इसका प्रभाव कितना अधिक है, इसके विवेचन की यहां आवश्यकता नहीं] इसलिए इसका मोहक उदाहरण ‘प्रिय प्रवास’ है। उर्दू की बाज़ लंबी बहों की गति भी ऐसी ही द्रावक और माधुर्यपूर्ण है :- (फ़ारसी काव्य का गुण)-यद्यपि रूप इनमें कई छंदों का हिंदी ही है। मसलन इस छंद में-

मेरी आंख बंद थी जब तलक, वो नज़र में नूरे-जमाल था;

खुली आंख, तो न ख़बर रही कि वो ख़ाब था कि ख़याल था।

प्रत्येक ठहराव पर भाव अधिक पूर्ण होता जाता है, जिससे अर्थ में स्वतः एक गहनता पैदा

होती जाती है। ऐसी ही प्रभावोत्पादक वह ग़ज़ल भी है, जिसकी करुण पंक्ति है—
कभी आके मेरे मज़ार पर, जो दिया किसी ने जला दिया।

अथवा इसमें—

दिया अपनी खुदी को जो हमने उठा
वा' जो पर्दा-सा बीच में था, न रहा,
रहे पर्दे में अब न व' पर्दानशीं
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा।

जहां स्वरो को एक दूसरे से मिलकर चलना पड़ता है और पद के विस्तार में जहां कल्पना के लिए नीति की ओर झुकना ही उपयुक्त जान पड़ता है।

दिल ही तो है, न संगो-खिशत, दर्द से भर न आये क्यों
रोयेंगे हम हज़ार बार, कोई हमें सताये क्यों

इसमें गति दो लहरों की तरह बार-बार मिलती और हटती जान पड़ती है; भाव भी स्वाभाविक रूप से उसी का अनुसरण करते हैं।

इस छंद का लोच भी अपूर्व है—

य' न थी हमारी किस्मत कि विसाले-यार होता
अगर और जीते रहते, यही इंतज़ार होता।

इक़बाल इसी छंद में कहते हैं—

दिले-मुर्दा दिल नहीं है, इसे जिंदा कर दुबारा
कि यही है उम्मतों के मरज़े-कुहन का चारा।

आधुनिक दौर में छंदों का महत्व

गति और छंद का महत्व जितना आज बढ़ गया है, उतना पहले कभी नहीं था; कारण, (श्रीमती महादेवी के शब्दों में) यह युग गीति-प्रधान युग होता जा रहा है। उर्दू में भी यही बात है। भावों को अधिकाधिक रागमय करने, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त व्यंजना ढूंढने तथा कल्पना को मधुरतम स्वर-विन्यास देने की ओर ही हमारे कवियों का प्रयत्न है। इस दौर से गुज़रना आवश्यक है। अस्तु, उर्दू में इसके सुंदर प्रतिनिधि सागर, हफ़ीज़, तथा उत्कृष्ट कलाकार जोश और इक़बाल हैं। यद्यपि इक़बाल के नग़्मों बहुधा सहज ही गेय नहीं हैं, तथापि उनके पद गति और लय के आंतरिक माधुर्य से चमत्कृत हैं। गंभीर विषयों के चुनाव के कारण ही यह बाहरी अंतर पड़ जाता है।

(2)

उर्दू में ग़ज़ल का स्थान

ग़ज़ल वास्तव में उर्दू कविता की जान है। और यह हमेशा गाने की ही चीज़ रही है; अन्यथा इसको ग़ज़ल माना ही नहीं गया है। महफ़िलों और साहित्यिक गोष्ठियों का यह ख़ास अवलंब रही है। इसीलिए अगर 'मर्सिये' का विचार, थोड़ी देर न करें, तो आदि युग को छोड़कर, उर्दू

काव्य गज़ल का इतिहास मात्र रह जाता है। यह ईरानी संस्कृति का ख़ास तोहफ़ा है जो बहुत व्यापक अर्थ में यहाँ क़बूल हुआ। दरबारी सभ्यता के चिह्न इसमें विशेष हैं—कवि एक ही भाव में दिमाग़ को नहीं उलझाता। रंग-रंग के भाव-चित्रों में प्रेम और सौंदर्य की बहार दिखाकर कवि अपनी सुरुचि और रस-मर्मज्ञता का प्रमाण देता है। किसी विषय की व्याख्या करने का इसमें अवकाश नहीं। एक मार्मिक संकेत और बस, दूसरा मार्मिक संकेत और बस। एक-एक बात में एक-एक रस द्वारा हृदय को पिघलाती हुई ग़ज़ल पूरी हो जाती है। जीवन के सभी अनुभवों को स्पर्श करती हुई यह प्रत्येक के हृदय में अनायास ही इस प्रकार प्रतिस्वरित हो उठती है कि उसका स्फुट रूप, शेर की एक-दूसरे से असंबद्धता अत्यंत उपयुक्त और स्वाभाविक जान पड़ती है। संबोधन का जो परोक्ष भाव शाश्वत रूप से इसमें निहित रहता है, उसके आधार पर कवि और श्रोता में एक गंभीर और सच्चा संबंध स्थापित हो जाता है। युग-परिवर्तन के साथ-साथ सुसंस्कृत होकर ग़ज़ल में आज प्रत्येक विषय का समावेश संभव हो गया है, किंतु है यह पूर्व-परिचित श्रृंगारिक लक्षण के आधार पर ही, चाहे वह नाम मात्र को ही क्यों न हो, तथापि उसका संकेत-व्यापार इतना गूढ़ हो गया है और अनुभूतियाँ ऐसी सूक्ष्माभिव्यक्ति ढूँढ़ती जान पड़ती हैं कि प्रत्येक विशिष्ट कवि एक प्रकार के आध्यात्मिक रंग में रंग गया—सा दिखायी देता है। साथ ग़ज़ल की सम्मानित परंपरा ने शब्द-संगठन और लोच, तथा महावराबंदी और सफ़ाई का महत्व बढ़ाकर उसे अधिक क्लिष्ट होने से काफ़ी बचाया। कवियों ने, विशेषतः लखनऊ और रामपुर में, भाषा की कोमलता में वह चपलता, भावों में वह शोखी भर दी कि अन्यत्र इसका जवाब मुश्किल से मिलेगा।

ग़ज़ल का प्रभाव उर्दू काव्य के और सब अंगों पर बहुत गहरा पड़ा है। ग़ज़ल की भाषा ओजपूर्ण बनाकर, उसमें एक ही विषय का विधिपूर्वक सविस्तार प्रतिपादन करने से वह 'क़सीदा' हो जाता है, जिसमें सम्मानदाताओं की प्रशंसाएं, विविध प्रकार के वर्णन, संतों की स्तुतियाँ, ईश-वंदना आदि विषयों का समावेश होता है। 'क़सीदों' में बहुधा कवियों ने अपना असाधारण भाषाज्ञान, अपूर्व कला-कौशल और कल्पना का ज़ोर ही दिखाया है।

यही गुण षट्पदी (मुसद्दस) में संचारी भावों का योग देकर जब करुणा रस का परिपाक करते हैं, तब 'मर्सिया' का प्रसिद्ध रूप प्राप्त होता है, जीवन की खुली हुई मार्मिक आलोचना इन्हीं सजीव वर्णनों में मिलती है। यह भी उर्दू की विशेष संपत्ति है। धार्मिक कविता का स्थान इन्हीं के अंतर्गत आता है। चकबस्त के आधुनिक मर्सिये भी इन्हीं की परंपरा का आधार लिये हुए हैं। इसके सर्वोत्कृष्ट कवि को तो उर्दू का तुलसीदास ही कहना चाहिए। एक और काव्य-रूप, 'मस्नवी' के वर्णनात्मक छंदों की तुलना हम ऊपर चौपाई से कर चुके हैं। प्रेम विषयक खंड-काव्यों की रचना इन्हीं छंदों में हुई है; जिनमें मीर हसन का 'सहरूल बयान' और मुं. दयाशंकर नसीम का 'गुल्ज़ारे-नसीम' अमर है।

(3)

उर्दू कविता की ऐतिहासिक रूप-रेखा

उर्दू कविता का इतिहास दक्खिन में 16वीं शताब्दी के प्रथम चरण में धार्मिक पद्य-निबंधों और

‘मर्सियों’ से ही शुरू करना होगा, यद्यपि सबसे प्रथम अमीर खुसरो का नाम ले लेना आवश्यक है। दक्खिन के शाहों की रसिकता और काव्य-मर्मज्ञता स्वयं उन्हीं की प्रशस्त रचनाओं से प्रमाणित है। अपने समय की बड़ी मीठी और मुक्त भाषा में ये लोग रचना करते थे—‘मन लगन’ (लगभग 1750 ई.) के दो पद्य हैं—

ए! रूप तेरा रती-रती है—
 परबत-परबत, पती-पती है!
 परबत में आके, न कम पती में;
 यकसार है रास हौर रती में!

दक्खिन के इन प्राचीन कवियों में अभिव्यक्ति का वह हिंदी रूप मिलता है, कुछ वह उच्चारण, वह महाविरा, जिनको पश्चिम यू.पी. के गांवों में हम अब भी सुन सकते हैं, जैसे, ‘कस्या’, ‘मिल्या’, ‘होर’ (और) इत्यादि।

‘वली’ दखिनी जब दिल्ली गये तब वहां उर्दू कविता ने रंग पकड़ा। मोहम्मद शाह रंगीले के इस युग में कवियों ने फ़ारसी आदर्शों से होड़ लेना आरंभ कर दिया। फ़ारसी इनमें अधिकांश की मातृ-भाषा थी। उनमें जो-जो बातें इन्हें लुभाती थीं, उनका जवाब ‘रेख़्ता’ यानी उर्दू में उपस्थित करते थे।

इसी युग में फिर ‘मीर’ आते हैं और ‘सौदा’ और ‘दर्द’। भाषा में ‘बोलचाल’ का सरस अछूतापन, उसके साथ भावों की अत्यंत स्वाभाविक अभिव्यक्ति-विशेषतः ‘मीर’ का प्रेम-दर्शन, तथा ‘सौदा’ का मानव-प्रकृति-परिचय, हमें जिस प्रभाव और सत्यता के साथ मिलता है, उसने उन्हें उर्दू में युग-युग के लिए आदर्श बना दिया है। दिल्ली जब उजड़ी तो इन लोगों ने लखनऊ आबाद किया और अपने सामने ही वह नया स्वांग—इसे स्वांग ही कहना चाहिए—देखा, जिसमें कवियों की अपूर्व प्रतिभा और असाधारण लोक-ज्ञान ने, ‘मीर’ और ‘दर्द’ के गंभीर-गहन आदर्शों को भुलाकर, लखनवी दरबारों की मसखरी सीखी और बाज़ारी प्रेम और भड़ौवेपन की नयी राह निकाली। संसार में इन विषयों को ऐसे उत्कृष्ट कवि न मिले होंगे, जैसे प्रकांड पंडित और रसिक ‘इंशा’ और ‘मसहफ़ी’; जो गर्मागर्म महफ़िलों में फुलझड़ियां-सी छोड़ते या बाज़ारी दिल्ली की चोटें करते हैं। मगर इनके कितने ही छिट-पुट नमूनों में इनकी प्रतिभा के तेवर कहते हैं कि ‘समय की गति प्रतिकूल है, नहीं तो हम क्या-क्या ललित-काव्य न लिखते, संगीत की कैसी-कैसी धारा न बहाते, प्रकृति का कैसा-कुछ दिग्दर्शन न कराते कि जो हमारे युग की यादगार होती!’ किंतु प्रतिभा की सर्वोन्मुखी उठान की इस लहर के जोर को परिस्थितियों के चट्टान ने तोड़कर हास्यापद बना दिया।

इसके बाद जब लखनऊ में ‘आतश’ और ‘नासिख’ के अखाड़े जमते हैं, और पराधीन बहादुरशाह ‘जफ़र’ को दिल्ली में उस्ताद ‘जौक़’, मिर्जा ‘ग़ालिब’ और हकीम ‘मोमिन’ अपनी-अपनी गज़लें या क़सीदे सुनाते नज़र आते हैं, तब यह कला सहज-साध्य सी रह गयी नहीं जान पड़ती। (एक-मात्र वह बहेलिया रागी, वह दरबारी परंपराओं से मिमिख मियां ‘नज़ीर’ ही लेखक के उपरोक्त कथन का अपवाद है, जिसके स्वच्छंद काव्य-जीवन की ऋतु-वार, तीज-त्यौहार, मेले-पर्व आदि आते-जाते हुए अपने राग से मानों स्वयं रागमय कर जाते हैं।) अस्तु, कहीं तो कवि-हृदय भाषा की सुघराई

और मृदुलता के लिए विह्वल है—जैसे 'जौक' और 'जफ़र' में; कहीं अलंकारों की आबोताब या भावों की मस्ती उसे मोहे लेती है—जैसे 'नासिख' और 'आतश' में; और कहीं सांकेतिक अभिव्यक्ति की मार्मिकता तथा अर्थ-वैभव का स्वप्न आंखों को विभोर करता है—'मोमिन', विशेषतः 'ग़ालिब' में; इन कवियों की वाणी में कविता का हंस कुछ खोजने उड़ चला है। और बहुत ऊंचे उड़ चला है। कहीं तो उसे कुछ मिला है; जैसे, 'आतश' में छवि-सत्ता का विश्वास या 'जफ़र' में करुणा का व्यापक माधुर्य; और कहीं उसे कुछ नहीं, अथवा बहुत कम मिला है—जैसे 'जौक' और 'नासिख' में, लोक-नीति-ज्ञान; और फिर, कहीं—जैसे 'ग़ालिब' में और यदा-कदा 'मोमिन' में भी, वह इतना अधिक कुछ देख पाया है कि भावाधिक्य से उसका स्वर असाधारण हो उठा है कि उसकी वैचित्र्यमय अनुभूति से हमारे आंतरिक जीवन के भाव-नेत्र जिज्ञासु होकर खुल जाते हैं।

इन महाकवियों के शागिर्दों ने जो कुछ गुरुओं से सीखा और अपने शागिर्दों को सिखाया, वही देश के नये राजनीतिक संस्कारों से मिलकर उर्दू का वर्तमान काव्य-साहित्य है। 'जौक' के उत्तराधिकारी दाग़ ने साधारण बात-चीत में एक असाधारण आकर्षण भर दिया और सामान्य प्रेमालाप में एक ऐसी गुद्गुद-सी भर दी, जो नयी थी, और जिसने उर्दू जगत में कवियों का एक गुलिस्तान-सा जगा दिया। ठीक इसी समय हाली ने अपने सीधे-सादे स्वर में—किंतु जिसकी मार्मिकता उन्होंने 'ग़ालिब' से प्राप्त की थी—एक नया राग अलापा; यानी वतन, क़ौम और समाज-सेवा का राग। शायद यही एक उर्दू कवि है, जिसकी रचनाएं बिना किसी भूमिका के हर विदेशी समझ लेता है। कुछ इस उर्दू काव्य-भाषा का संस्कार ही ऐसा है। अस्तु, मननशील इक़बाल पर इसका असर पड़ा। उसकी कल्पना व्यग्र हो उठी। इधर 'अकबर' इलाहाबादी ने नयी रोशनी के उजाले में देश की जो अवस्था देखी, उस पर उसे हंसी आ गयी। बात कुछ ऐसी थी कि अपने ऊपर हम स्वयं भी हंस पड़े। और, एक देश के पुजारी ने 'आतश' की सौंदर्य-सत्ता को देश की स्वाधीनता की भावना में प्रतिष्ठित किया और सकरुण आशा से उसकी आरती की। ये ब्रजनारायण चकबस्त थे।

समाधुनिक कवियों में जोश के प्रकृति और मानव-स्वभाव के सुंदर स्वाभाविक चित्रण से हमें अंग्रेज़ी कवियों की याद आने लगती है। उनमें शेली और बायरन का-सा सम्मिश्रण है। अन्य विशिष्ट कवि गण, जैसे 'असग़र', 'फ़ानी', 'ज़िगर' आदि ग़ज़ल की मार्मिक लहरों में अपने-अपने हृदय का लेखा ले रहे हैं। परंपरा इनमें कीर्तिमान है। इनकी अनुभूतियां मार्मिक और करुण रस से ओत-प्रोत हैं तथा अभिव्यक्ति बहु रागमय है।

उर्दू कविता की विशेषताओं पर ऐतिहासिक दृष्टि

उर्दू कविता का यह इतिहास चार शताब्दी पुराना भी न होगा। इसकी भाषा ने इतने रूप नहीं बदले हैं, जो विशेष व्याकरणों की ज़रूरत पड़े। धार्मिक और सामाजिक संस्कारों में परिवर्तन की विभिन्नता बहुत नहीं झलकती। उस पर, स्थिर रूप से ईरानी आदर्श आधार-स्तंभ बने रहे, और उसका अपना स्वत्व अनुकरण की कृत्रिमता से अनुरंजित हो गया; फलतः विशेष प्रतिभा-संपन्न कवि ही अपने वैयक्तिक रूप हमें दिखा सके, जैसे 'सौदा', 'मीर', 'आतश', 'ग़ालिब', 'दाग़' आदि। कल्पना उपमा-उत्प्रेक्षकों के परों पर जिस वायु-मंडल की सैर करती रही, वह बहुत दूर था; जहां प्रेम की रीति यहां से निराली और सुख-दुख के स्वप्न विभिन्न अर्थों की आभा लिये हुए थे। पर,

मानव-हृदय तो कहीं भिन्न नहीं है। इसलिये अपने ही व्याकरण में उसका बोल सुनकर उसे अपना आत्मीय कहना ही हमारी सभ्यता को मान्य हुआ। और 'हाली' के समय से तो इस देश का अन्न-जल उसके शरीर में ऐसा रसता गया कि हिंदी का यह रूप नये निखार पर आने लगा। इसकी विशेषताओं को शाही दरबारों और शहरी तकल्लुफ ने, प्रचलित मुशायरों की आबो-ताब के योग से और भी प्रखर और प्रशस्त किया; तथा, उस्तादी और शागिर्दी की पुरानी प्रतिष्ठित प्रथा ने भाषा को अत्यधिक शुद्ध और सुडौल बना दिया; इतना कि चीनी और फ्रेंच और फ़ारसी को छोड़कर संसार की किसी भी काव्य-भाषा को इस गुण पर ईर्ष्या हो सकती है। इसमें एक ऐसी शोखी आ गयी, जो इसकी विशेषता है और जिसका अन्यत्र कहीं जवाब नहीं और अब यह गुण इस भाषा में आकर ठहर गया है। परंपरा-जन्य भाषा के इस रूप की रंच-मात्र अवहेलना भी आज उर्दू जगत में सहन नहीं की जा सकती।

उर्दू कविता का अनूठापन

हिंदी साहित्य-रसिकों के असंतोष का यह कारण नहीं होना चाहिए कि ऐसी भाषा में गंभीर गुरुता और गहनता का अभाव है—'मीर', 'दर्द', 'अनीस', 'दबीर', 'ग़ालिब', 'हाली' और 'इक़बाल' का कलाम ही इस शंका का समाधान कर देता है। यह सत्य है कि पिछली शताब्दी का पूर्वाद्ध उर्दू कविता का रीति-काल ही है। पर इसके भाव-संसार की सीमा 'गुल', 'बुलबुल', 'शमा', 'परवाना' आदि शब्दों से स्थिर करना इनके गूढ़ अर्थ-संकेतों की व्यापकता को समझने से इन्कार करना है। ग़ज़ल का कठिन रूप सुरक्षित रखते हुए भी अगर अनुवाद में इन अर्थ-संकेतों की व्यापक सरसता का आभास दे सकना सहज संभव होता, तो उर्दू काव्यभाषा का अनूठापन अन्य भाषा-भाषी भी देख सकते, और इस दृष्टि से इसकी तुलनात्मक विवेचना अधिक सार्थक होती। ग़ज़ल अपनी भाषा के विशेष माधुर्य के बल पर ही ग़ज़ल कहलाती है। इसी का इतिहास बड़े अंशों में उर्दू काव्य का इतिहास है।

कई महत्व की चीज़ें फिर भी उर्दू में अभी नहीं; यह निस्संकोच मानना पड़ेगा। जैसे एक वास्तविक महाकाव्य या जैसे नाटक-काव्य। अनीस के मर्सियों को मिलाकर हम उन्हें महाकाव्य नहीं कह सकते। हां, एक हफ़ीज जालंधरी का 'शाहनामाए-इस्लाम' है, जो अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार मानव-समाज और जीवन के सैकड़ों अंग तथा प्रकृति संसार में अनगिनती ऐसे दृश्य हैं जिनका चित्रण अभी न उर्दू में है, न हिंदी में। उर्दू कविता में हिंदी की बहुत-सी चीज़ें नहीं हैं। वहां सूरदास और मीरा की पागल प्रेम-विह्वलता नहीं और न वहां कबीर का अनहद नाद है। संसार के कितने ही उत्कृष्ट कवियों का सादृश्य यहां नहीं मिलेगा। लेकिन क्यों मिले? अपनी-अपनी संस्कृतिजन्य इसकी अपनी प्रेरणाएं, सौंदर्य की अपनी साधनाएं और अभिव्यक्ति के अपने योग हैं। सत्य-सौंदर्य-आनंद प्राप्ति की इसकी अपनी सफलताएं हैं और वे अद्वितीय हैं। बहुत अल्पायु होते हुए भी काल के संघर्ष से और विशेषतः आधुनिक युग में इसने देश की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों की अपने भाव-स्पंदन में जो सुंदर अभिव्यक्ति की है, उसके संबंध में अकबर, चकबस्त, इक़बाल और जोश का नाम लेना पर्याप्त है। इससे इस युग में उर्दू काव्य को अभूतपूर्व गौरव प्राप्त हुआ है। इधर ठेठ भाषा में गीत लिखने की ओर भी प्रयास हुआ है।

आज उर्दू कविता का क्षेत्र अपेक्षाकृत बहुत व्यापक है। समय का आदेश है कि इससे अब हम पूर्णतः अभिज्ञ हों और उन रसों, उन कला-वृत्तियों और अनुभूतियों के प्राण-तत्व को अपनी भाषा में खींचें, जो इसको अधिक ठोस और व्यापक, अधिक अर्थपूर्ण, विस्तृत और वैभवपूर्ण बना सकें।
(‘भारत’,...1937, या’ 38 आरंभ)

X X X

यों जान-बूझकर तो नहीं, लेकिन कुछ समझ-बूझकर बहकाना और बहक जाना—यही तो शायरी है। हां, यह नशा, जीवन के प्याले का—सा गहरा तो नहीं, लेकिन है उससे तेज़। और आज भी तेज़ है। और ज़मानों और दुनियावालों का दौर इसे अभी और गहरा ढालेगा—और तेज़ बनाकर।

दिगरगूं है जहां, तारों की गर्दिश तेज़ है साकी।

दिले-हर ज़रा में गौगाए-रुस्ता खेज़ है साकी।

—इक़बाल

(दुनिया का नक्शा बदल रहा है, हर ज़रों के दिल में प्रलय का शोर है।)

कुछ इसी की भनक-सी हमारे कानों में पड़ती है। कहीं तीव्र, कहीं मद्धिम, जब हम आधुनिक उर्दू छंदों को गुनगुनाते हैं, या मन-मन में भी पढ़ते हैं। ‘जोश’ और ‘रविश’ और ‘सागर’ को तो जाने दीजिए, उनके यहां तो समाजवाद के ‘नक्कारे’ बज रहे हैं? ग़ज़ल-गोयों को ही ले लीजिए—कि जिनमें एक बूंद समुंद्र का तूफ़ान बनना चाहती है, अगर बन सकती है तो। जी! एक संकेत में समाज और मानव-हृदय और उसके अंदर अनंत की बातें कह-सा जाना और फिर उसमें कभी-कभी बीसवीं का भ्रम खोलने लगना, अथवा इन सबसे दिल हटाकर किसी एक तनहा बुलबुल के राग में या किसी अकेले ख़ामोश गुल के बिखरते हुए रंग में विभोर होकर जीवन-सुख की बहार और ख़िज़ां के दर्द से परिपूर्ण हो उठना—बस यही संकेत तो ग़ज़ल का एक शेर है। अस्तु, हमें कुछ समझाकर बहका ले जाने के लिए यही संकेत काफी है। मसलन देखिए—

मज़हब की ख़राबी है, न अख़लाक़ की पस्ती

दुनिया के मसायब का सबब और ही कुछ है।

(‘अख़लाक़’—नैतिकता; ‘मसायब’—मुसीबतें)

इक़ ख़ाबे-परीशां-से है इस दौर के आसार;

हुशियार कि अब रंगे-जहां और ही कुछ है।

एहसास, सब एहसास है यह रंजो-खुशी क्या,

ए इश्क़, तुझे काम अहम और ही कुछ है।

—‘फ़िराक़’

‘सैले-ज़माना’ पर एक कवि पूछता है—

किसे ख़बर है कि हस्ती का मुद्दआ क्या है?

क़ज़ा का सिलसिला यह क्या है, औ’ क़ज़ा क्या है?

ये’ वक्त क्या है; फ़लक़ क्या है, औ’ फ़िज़ा क्या है?

मगर कोई उत्तर नहीं मिलता। हिर-फिरकर यह सब खेल अपने हृत्पटल पर समाप्त हो जाता है। हज़रत नज़माफ़ंदी कहते हैं—

संसार की रीत, नापी-जोखी सुमिरन,
माला का वो फेर, वह अनोखी सुमिरन,
हम जानें सखी हमारा साईं जाने-
मन की सुमिरन है सबसे चोखी सुमिरन।

(चित्रपट, 18 जनवरी, 1939)

संदर्भ :

1. उर्दू कविता में हास्य रस भी एक बड़ी विभूति है। 'सौदा', 'इशा' और 'अकबर' ने इस रस-वाटिका का कोना-कोना खिला दिया है।
2. अली सरदार जाफरी का 'नयी दुनिया के सलाम' उर्दू में शायद पहला काव्य-नाटक है, जो पिछले साल (1947) प्रकाशित हुआ है।

हिंदी के मशहूर व मकबूल कवि, साहित्यकार एवं विचारक बाबा नागार्जुन के उर्दू के मुतआल्लक बेशकीमती खयालात वकार सिद्दीकी

उर्दू भाषा व साहित्य की प्रगति, उसके भविष्य, उर्दू की लिपि की रक्षा और यू.पी. में उर्दू को दूसरी सरकारी ज़बान का दर्जा देने की मांग एवं हिंदी और उर्दू भाषा व साहित्य को करीब लाने के संबंध में जो सवालात बाबा नागार्जुन से किये गये थे, उनके बेशकीमती खयालात पर आधारित जवाबात यहां पेश किये जा रहे हैं।

यह इंटरव्यू 13 अप्रैल, 1989 को दिल्ली में लिया गया था, जब वह 'गोमती गैस्ट हाऊस' में ठहरे हुए थे और मुल्क के मशहूर फ़नकार और रंगकर्मी सफ़दर हाशमी की शहादत के पश्चात् सफ़दर समारोह में भाग लेने के उद्देश्य से पधारे थे।

वकार सिद्दीकी : उर्दू के भविष्य के बारे में आपका क्या खयाल है? उर्दू और हिंदी भाषा व साहित्य को करीब लाने के बारे में आपकी राय और मशविरा क्या है?

नागार्जुन : उर्दू इतनी प्रभावशील और जानदार जुबान है कि उसे ख़त्म नहीं किया जा सकता। कभी-कभी उर्दू की इस खुसूसियत की वजह से दूसरे अहसासे-कमतरी का शिकार हो जाते हैं।

उर्दू वाले हिंदी और हिंदी वाले उर्दू के साहित्य के बारे में बातचीत नहीं करते या बहुत कम करते हैं। ये दोनों ही एक-दूसरे के साहित्य से बेरुखी का नतीजा हैं। हिंदी के अदीबों के बीच उर्दू के अदब (साहित्य) पर और उर्दू वालों के दरम्यान हिंदी के अदब पर बातचीत होनी चाहिए, ताकि एक दूसरे की ज़बान और अदब की परंपराओं और मूल्यों से अवगत हों और दोनों के बीच की दूरी कम हो। कम से कम कॉलेज के स्तर पर हिंदी के साथ उर्दू के अहम और काबिले जिक्र अदीबों (साहित्यकारों) की रचनाएं भी पाठ्यक्रम में शामिल होनी चाहिए। इसी तरह उर्दू के तालिबे इल्मों (अध्येयताओं) के पाठ्यक्रम में हिंदी के कुछ अहम अदीबों की रचनाएं शामिल की जानी चाहिए। एम.ए. हिंदी के साथ उर्दू का एक पर्चा अनिवार्य होना चाहिए और उर्दू एम.ए. करने वालों के लिए हिंदी का एक पर्चा भी जरूरी होना चाहिए, ताकि अदब के तालिबे इल्म दोनों ज़बानों की परंपराओं और विशेषताओं से वाकिफ़ हों। इस तरह दोनों ज़बानों के दरम्यान हायल दूरी कम होगी। इस सिलसिले में एक काम यह भी हो सकता है कि हिंदी अकादमियां उर्दू के बड़े-बड़े अदीबों, जैसे 'हाली', 'शिब्ली' इत्यादि का अदब देवनागरी लिपि में प्रकाशित

करें और उर्दू अकादमियों को हिंदी के बड़े साहित्यकारों की रचनाएं उर्दू लिपि में प्रकाशित करना चाहिए। मैंने इस तरह का मशविरा इस किस्म की संस्थाओं को अक्सर दिया भी है। लेकिन शायद वे इसके लिए तैयार नहीं हैं।

व. सि. : उर्दू और हिंदी के अदब और ज़बान को करीब लाने में जनवादी साहित्यकारों की क्या जिम्मेदारी है और उर्दू को उसका जायज जनतांत्रिक अधिकार दिलाने की जिम्मेदारी किसकी है?

नागार्जुन : जनवादी साहित्यकारों की यह जिम्मेदारी है कि वे दोनों ज़बानों की अदबी और तहज़ीबी परम्पराओं के उन जनवादी तत्त्वों को उभारें जो दोनों की अलहदगी के बावजूद दोनों में समान हैं और इस तरह वे दोनों को करीब लाने में बहुत अहम रोल अदा कर सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि जैसे-जैसे जनता का जनवादी आंदोलन आगे बढ़ेगा, वैसे-वैसे दोनों ज़बानें एक दूसरे के करीब आती जायेंगी। आज हिंदी के साहित्यकारों की खासतौर से यह जिम्मेदारी है कि वे उर्दू को उसका जायज जम्हूरी हक़ दिलाने की तहरीक की बागडोर अपने हाथों में लें और उर्दू के अदीबों, दानिशवरों (बुद्धिजीवियों) एवं उर्दू बोलने वाले अवाम को मुस्लिम फिरकापरस्तों की साजिशों का शिकार न होने दें और उर्दू वालों को क़ौमी ज़िंदगी की धारा से काटने की कोशिश को नाकाम कर दें।

व. सि. : उर्दू को उत्तरप्रदेश की दूसरी सरकारी ज़बान बनाने के बारे में आपकी क्या राय है? क्या आप इस मांग का समर्थन करते हैं?

नागार्जुन : राजनीतिज्ञों ने उर्दू के साथ बहुत ज़्यादा नाइंसाफी की है। उर्दू के लिए पाकिस्तान की ज़मीन हमवार नहीं है और हिंदुस्तान में भी उसे वह मुकाम और दर्जा नहीं मिला है, जिसकी वह मुस्तहिक है। उर्दू की असल भूमि उत्तर प्रदेश है, लेकिन उसे अपनी असल भूमि में भी अभी तक दूसरी सरकारी ज़बान का दर्जा नहीं दिया गया। पंजाब से अलग होकर हरियाणा एक प्रांत बनाया गया—उसकी अपनी कोई भाषा नहीं और कुछ लोकगीतों और लोककथाओं के अलावा उसका अपना कोई साहित्य नहीं है। अब लोगों के मन में यह बात पैदा हो रही है कि इस राज्य की कोई भाषा भी होनी चाहिए, लेकिन रातोंरात तो भाषा खड़ी नहीं होती। जब पढ़े-लिखे लोग लंबे अर्से तक बोली में साहित्य की सर्जना करते हैं, तब वह बोली भाषा का रूप धारण करती है। उर्दू का एक शानदार अतीत रहा है, जो सदियों के मेल-जोल और सामाजिक-सांस्कृतिक संबंधों का प्रतिफल है। उर्दू के अदब ने हर दौर में वक्त के तज़ाज़ों का साथ दिया है। इसके अदीबों और शायरों ने क़ौमी आज़ादी—की जद्दोज़हद में अपनी शिरकत और लेखन के ज़रिये शानदार भूमिका अदा की है, लेकिन यह उर्दू की बदकिस्मती है कि उसे अपनी भूमि उत्तरप्रदेश में वह स्थान और दर्जा नहीं दिया गया, जिसकी वह हक़दार है। अपने साथ बरती जाने वाली नाइंसाफियों के बावजूद उर्दू ज़बान की ताज़गी और रवानी आज भी बरकरार है। मैं उर्दू को उत्तरप्रदेश की दूसरी सरकारी ज़बान बनाने की मांग की पुरजोर हिमायत करता हूँ।

व. सि. : हिंदी के बाज अदीब उर्दू के रस्मुल-खत (लिपि) को बदलने की बात करते हैं और उर्दू को कोई दर्जा देने को तैयार नहीं हैं। इस सिलसिले में आपका क्या सुझाव है?

नागार्जुन : जब हम उड़िया, मलयालम भाषाओं की लिपि बरदाशत करते हैं तो फिर उर्दू

के रस्मुलख़त को तब्दील करने की बात करना दुरुस्त नहीं है। लिपि का संबंध भाषा के साथ-साथ जन-भावनाओं से भी होता है, इसलिए उनका भी सम्मान करना चाहिए। चुनांचे मैं उर्दू रस्मुलख़त तब्दील करने की बात से सहमत नहीं हूँ। आज अगर उर्दू की लिपि बदलने की बात कही जा रही है तो कल नमाज़ पढ़ने पर भी एतराज़ किया जा सकता है, इस तरह की बातें सांप्रदायिकता का हिस्सा हैं। और सांप्रदायिकता से ही जन्म पाती हैं। इस तरह के लोग कह सकते हैं कि अगर उर्दू वालों को ज्यादा सहूलियतें दी गयीं तो एक और पाकिस्तान बनने का ख़तरा पैदा हो जायेगा। वे यह भी कह सकते हैं कि मेरी उम्र ज्यादा हो गयी है, इसलिए मुझे इस ख़तरे का एहसास नहीं है। लेकिन मैं जनतांत्रिक व्यवस्था में सभी ज़बानों को बराबरी का दर्जा दिये जाने का पक्षधर हूँ, और एक जिंदा और ताक़तवर ज़बान को म्यूज़ियम की शोभा बनाने या रिकार्ड रूम तक सीमित कर देने का विरोधी हूँ। सिर्फ़ उर्दू अकादमियों के स्थापित करने से उर्दू की तरक्की नहीं हो सकती है। जब तक प्राथमिक स्तर से उच्चतर स्तर तक उर्दू की शिक्षा का उचित और माकूल इंतज़ाम नहीं किया जायेगा, उर्दू की तरक्की मुमकिन नहीं। विद्यार्थियों की तादाद की क़ैद लगाकर उर्दू की तालीम से उर्दू पढ़ने वालों को महरूम नहीं करना चाहिए। उर्दू पढ़ने वालों को इस बात की गारंटी होना चाहिए कि उर्दू पढ़ने की वजह से उन पर रोज़गार के दरवाज़े बंद नहीं होंगे। यह तभी मुमकिन है, जब प्रशासन में उर्दू को उसका मुनासिब मुक़ाम हासिल होगा। सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में उर्दू में दरख़्वास्तें देंगे और उर्दू में जवाब पाने की सहूलियतें हासिल होंगी और तमाम सरकारी ऐलानात और फार्म वगैरह उर्दू में भी दस्तयाब होंगे।

आखिर में मैं फिर कहता हूँ कि मैं उर्दू को उसके अस्ल रस्मुलख़त में तरक्की और विकास करने के पूरे अवसर उपलब्ध कराने का पक्षधर हूँ और उर्दू की असल भूमि उत्तरप्रदेश में उसे राज्य की दूसरी सरकारी ज़बान बनाने की हिमायत करता हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि अल्पसंख्यकों के जान और माल और जनतांत्रिक अधिकारों की हिफ़ाज़त करना बहुसंख्यक जनता और शासन की जिम्मेदारी है।

हिंदी-उर्दू : विरासत की पहचान*

कमलेश्वर

हमारे मशहूर और अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्वतंत्रता सेनानी और प्रखर पत्रकार गणेश शंकर विद्यार्थी, जिन्होंने सांप्रदायिक दंगों की रोकथाम के लिए अपना साहसिक बलिदान दिया था, उन्होंने देश की गुलामी के दौर में कहा था :

“मुझे देश की आजादी और भाषा की आजादी में से किसी एक को चुनना पड़े तो मैं निःसंकोच भाषा की आजादी को पहले चुनूंगा, क्योंकि मैं फ़ायदे में रहूंगा। देश की आजादी के बावजूद भाषा की गुलामी रह सकती है, लेकिन अगर भाषा आजाद हुई तो देश गुलाम नहीं रह सकता।”

गणेश शंकर विद्यार्थी की इस टिप्पणी में कई तरह के अर्थ छिपे हुए हैं, जिन पर ज़रूरी बात की जा सकती है, लेकिन मैं यहां केवल भाषा के महत्त्व वाले पक्ष को ही रेखांकित करना चाहूंगा। हम अगले वर्ष सन् 2007 में सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का 150वां वर्ष मना रहे हैं। जन-सामान्य के सामने और उसकी औसत स्मृति में सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का सबसे उजला पक्ष यह है कि अंग्रेजों की बढ़ती सत्ता और गुलामी के खिलाफ़ यह संग्राम भारत के हिंदू-मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर लड़ा था और यह कि भारतीय मध्यकालीन इतिहास में यह दुर्लभ घटना पहली बार हुई थी, नहीं तो इस देश में हिंदू और मुसलमान राजे-रजवाड़े हमेशा आपस में ही लड़ते रहे थे, जिसकी वजह से अंग्रेजी सत्ता को यहां पैर जमाने और मुल्क को गुलाम बनाने का बना-बनाया कूटनीतिक और सामरिक माहौल मिल गया था। हमारे कुछेक इतिहासकारों ने भी इसे इसी इकहरे दृष्टिकोण से देखा और विश्लेषित किया है। इससे हमारी जहनी सोच का सहज सरमाया यह बनता है कि अंग्रेजों के खिलाफ़ सन् 1857 में लड़ने के लिए भारत की सामंती-सल्तनती हिंदू-मुसलमान शक्तियों का असंभव मेल-मिलाप लगभग एकाएक हुआ था। माध्यमिक कक्षाओं के पाठ्यक्रमों में यह सहज इतिहास मौजूद है और साथ ही जन-मानस में भी यह अधूरी सांस्कृतिक-इतिहासगत धारणा पायी जाती है। इसका पूरा सांस्कृतिक और भाषायी संदर्भ सामने लाना ज़रूरी है।

इसी संदर्भ में हिंदी-उर्दू भाषा के जनपक्षीय इतिहास को यदि देखा जाये तो हम उत्तर भारत की सम्मिलित भाषायी और सांस्कृतिक धरोहर को तत्काल रेखांकित कर सकते हैं और इसकी विरासत के पुख़्ता हक़दार माने जा सकते हैं। हिंदी भाषा और साहित्य के इतिहास में हिंदी-उर्दू की एकता और समान स्रोतों का समयगत उल्लेख वहीं से मिलने लगता है, जहां से सिद्ध संतों

* भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद (आई.सी.एच.आर.) के त्रिदिवसीय अंतरराष्ट्रीय सेमिनार के (दिसंबर 2006) में प्रस्तुत लेख।

और घुमक्कड़ी नाथपंथी साधुओं का युग शुरू होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से नौवीं से दसवीं सदी के इस दौर की भाषा को अपभ्रंश से विकसित होने वाली 'पुरानी हिंदी' पुकारा गया है। यह भी माना गया कि आर्य भाषाओं के विकास का तीसरा चरण अपभ्रंश काल है। प्राकृत के बाद जो भाषायी दौर आया, उसे भ्रष्ट माना गया। जिस प्रकार प्राकृत का अर्थ स्वाभाविक या पहले से ही बनी हुई भाषा है, उसी प्रकार अपभ्रंश का अर्थ है जनबोली अर्थात् जन-सामान्य की बोली। भरतमुनि के संदर्भ के अनुसार अपभ्रंश बोलचाल की भाषा थी। पतंजलि ने भी 'शब्द संदर्भ' में अपभ्रंश के लिए अपशब्द या म्लेच्छ की चर्चा की है। संस्कृत के 'वाचस्पति कोश' में भी अपभ्रंश का अर्थ 'ग्राम्य भाषा' मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश का शब्दार्थ हुआ विकृत, भ्रष्ट या अशुद्ध, अर्थात् जो भाषा अपनी गरिमा और रूप से गिरी हुई हो। इस शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख पतंजलि द्वारा किया गया, जिन्होंने अपभ्रंश शब्द को अनेक कोणों से देखा, परखा और तिरस्कृत करते हुए उसे भ्रष्ट होने की पदवी दे डाली

यह उन सातवीं और आठवीं सदियों का काल है, जब बौद्ध-जैन धर्मों का अवसान और शंकराचार्य, मंडन मिश्र, कुमारिल भट्ट जैसे आध्यात्मिक वेदांताचार्यों का उदय हो रहा था। यही वह समय भी है जब वैदिक कही और मानी जानेवाली संस्कृति के सामने इस्लाम धर्म का पहला झोंका आया था। भारत के सिंध प्रांत को अरब आक्रमणकारी मुहम्मद बिन कासिम ने जीता था। राजे-राजवाड़ों, जय-पराजय के स्तर पर इस आक्रमण को यदि न भी देखा जाये तो भी जन-साधारण के स्तर पर जो असर हुआ होगा, उसे सहज ही समझा जा सकता है, क्योंकि मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से बहुत पहले ही सिंध, गुजरात और दक्षिण भारत में अरब व्यापारी मौजूद थे। ज़ाहिर है कि सर्व-साधारण के स्तर पर जो भाषा विकसित हो रही होगी, वह अपभ्रंश यानी भ्रष्ट ही मानी और पुकारी गयी होगी। इस मानसिकता के कारणों को सहज ही समझा जा सकता है।

देशी और विदेशी विद्वानों ने इसके नाम को मंजूर करते हुए भी इसे आर्य-भाषा कुल की देशी भाषा ही माना है। यह भाषा अपनी पूर्ववर्ती भाषाओं के योग-सहयोग का ही प्रतिफल थी, जो कि समय पाकर विकसित हुई। ग्यारहवीं शती तक लोकभाषा के रूप में अपभ्रंश उत्तरी भारत से दक्षिण तक पूरी तरह फैल चुकी थी और फिर धीरे-धीरे मंद और क्षीण पड़ती हुई यह अपना समय 16वीं शती तक खींच ले गयी। बंगाल से महाराष्ट्र तक यह अंगीकृत हुई, जबकि उत्तरी भारत में तो प्रायः सभी ने इसे ही मान्यता प्रदान की। राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में इसका विस्तार क्षेत्र बहुत विशाल बताया है, क्योंकि संस्कृत से अनभिज्ञ लोग भी इसे ही महत्त्व देने लगे थे।

अपभ्रंशों से ही आधुनिक भारतीय भाषाएं उद्भूत हुई हैं—ब्राह्मण से सिंधी, कैकेय से लहेंदी, टक से पंजाबी, महाराष्ट्री से मराठी, शौरसेनी से ब्रज, गुजराती, राजस्थानी, पश्चिमी हिंदी और पहाड़ी, अर्धमागधी से पूर्वी हिंदी और मागधी से मैथिली, मगही, वज्जिका, अंगिका, बांगला, असमी और उड़िया। इस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश की बैसाखी पर पुरानी हिंदी चल निकली, जिसे कि प्रारंभिक हिंदी, हिंदवी या देश भाषा की संज्ञा मिली और इसी से हिंदी-उर्दू का नाभि-नाल जुड़ा हुआ है। इस प्रकार पुरानी हिंदी (हिंदी-उर्दू) का जन्म 9वीं-10वीं शती में हो गया था। चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी के अनुसार जैन साहित्य में और हेमचंद्र के 'प्राकृत व्याकरण' तथा देसी नागमाता में भी खड़ी बोली के लक्षण मौजूद हैं। नाथ संप्रदाय के गुरु गोरखनाथ के साथ ही चरपटनाथ

ने भी हमें खड़ी बोली की आहट दे दी थी और चंदबरदायी ने 'पृथ्वीराज रासो' में खड़ी बोली के उन रूपों को समोया है, जो आज भी आधुनिकतम हैं।

इसी समय फ़ारसी के पारंगत विद्वान और हिंदवी के जन्मदाता अमीर खुसरो का युग शुरू होता है। यह तेरहवीं सदी का उत्तरार्ध काल है, जब हिंदवी यानी हिंदी-उर्दू भाषा का समन्वित रूप उभरने और सामने आने लगता है। अपने प्रारंभिक काल के दौरान यह बोली हैदराबाद, महाराष्ट्र और मैसूर में भी प्रवाहमान थी। महानुभाव पंथ ने महाराष्ट्र में इसी को अपनाया। इसी में नामदेव के गीत गूजे, 13वीं सदी में संत ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी टीका' और 16वीं शती में संत एकनाथ, संत तुकाराम और कान्होबा ने भी इसी बोली को अपनाया और विकसित किया।

सोलहवीं सदी के संत एकनाथ, संत तुकाराम से पहले ही उत्तर भारत में कबीर की लहर चल पड़ी थी और सूफ़ी संतों और भक्तिकाल का उदय हो चुका था और यह दौर, जैसा कि साहित्य के कुछ इतिहासों में कहा गया है कि 'यह दौर भारत की हिंदू जाति की पराजित मानसिकता का दौर था', यह एक दूषित दृष्टिकोण था, क्योंकि सर्व-साधारण की दृष्टि से यदि तमाम समाजशास्त्रीय प्रमाणों को सामने रखकर देखा जाये तो यह 'पराजित मानसिकता का दौर' नहीं बल्कि भाषा और सांस्कृतिक समन्वय का सबसे महत्त्वपूर्ण और उन्नायक दौर था। समन्वय का यह दौर पिछली सात सदियों से, अपने विरोधाभासों, बनते-बिगड़ते प्रसंगों और ऊंच-नीच के बावजूद चला आ रहा था, जिसे औरंगज़ेब जैसा विवादास्पद बादशाह भी खंडित कर सकने की स्थिति में नहीं था। औरंगज़ेब की विख्यात या कुख्यात इस्लामपरस्ती और सांस्कृतिक अनुदारता भी इस सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया को बाधित नहीं कर सकी, जो सदियां पार करती हुई अंग्रेज़ी सत्ता के खिलाफ़ सन् 1857 में खड़ी होती है और अपनी हिंदुस्तानी अस्मिता का युद्ध लड़ती है। सही बात तो यह है कि दुनिया के कुछ देशों में धर्मों के संघर्ष चाहे होते रहे हों, पर भारत में धर्मयुद्धों का कोई इतिहास नहीं है। भारत ने ही इस सोच और परंपरा को जन्म दिया है कि संस्कृतियों का सम्मिलन ही होता है, संघर्ष नहीं। यही हिंदी-उर्दू भाषा की सच्चाई भी है और हमारी मिली-जुली विरासत भी, क्योंकि इन दोनों भाषाओं-हिंदी और उर्दू ने एक ही उत्तर भारतीय बोली 'खड़ी बोली', शौरसेनी अपभ्रंश, राजस्थानी और हरियाणवी की मिली-जुली विरासत से जन्म लिया था, जिसे 'हिंदवी' पुकारा गया था।

इतिहास की बदलती करवटों के साथ ही इस हिंदवी भाषा को समय-समय पर अनेक भाषाओं के प्रभावों को भी झेलना पड़ा। समय-समय पर न जाने कितने देसी और विदेशी भाषा वर्गों के सैलाब आये और वे इसके ऊपर अपनी छाप छोड़ते गये। किंतु खड़ी बोली हिंदी और उर्दू की मूल प्रकृति भी एक-सी बनी रही और लगातार विकसित होती रही। इसी भाषा के लिए हिंदुई, हिंदवी, हिंदी और उर्दू नामों का प्रयोग होने लगा।

अमीर खुसरो ने अपने दीवान 'गुरातुल कमाल' की भूमिका में स्वीकार किया है कि उनसे पहले 11वीं सदी में फ़ारसी के एक कवि मसऊद-बिन-साइद सुलेमान (1054-1131) ने भी हिंदवी में काव्य-रचना की थी। उसने तीन दीवान अरबी, फ़ारसी और हिंदवी में लिखे थे। इसकी पुष्टि कई इतिहासकारों ने भी की है।

इस तरह 'पुरानी हिंदी' को यदि सिद्धों और नाथ संप्रदाय की जनभाषा के रूप में देखा

और माना जाये तो लगभग उसी दौर में हमें मसऊद-बिन-साइद सुलेमान के 'हिंदवी' कलाम की मौजूदगी की पुष्टि सहज ही होती दिखायी देती है। इसका साधुओं और सूफियों की धार्मिक या संप्रदायगत पहचान से कोई विशेष लेना-देना नहीं है, क्योंकि यह उनकी मजबूरी थी कि वे विकसित होती जनभाषा का इस्तेमाल करें। वे भाषा का निर्माण नहीं, उपयोग कर रहे थे। ग्यारहवीं, बारहवीं ओर तेरहवीं सदी में—पुरानी हिंदी कहें या हिंदवी, इसकी बोलचाल का सांचा उत्तर भारत की जनता ने, अपनी जीवनगत सामाजिक जरूरतों के लिए तैयार कर लिया था। यह सांचा विदेशी नहीं, नितांत भारतीय था जो जन-साधारण ने ब्रज, लहेंदी, डिंगल-पिंगल, हरियाणवी, दक्खिनी, देहलवी और खड़ी बोली की भाषायी मिट्टी से तैयार किया था। उस दौर के कवि तो सिर्फ उस बनती, विकसित और स्थापित होती सांस्कृतिक तथा भाषायी विरासत के गवाह हैं। हिंदी-उर्दू की इस स्रोत-भाषा को हम चाहे 'पुरानी हिंदी' कहें या 'हिंदवी'। भाषा वैज्ञानिक आधार पर भी इन्हें पृथक नहीं माना जा सकता। यही हिंदी-उर्दू की एकात्मता की विरासत और पहचान है।

और इसी 'हिंदवी' के बारे में, तेरहवीं सदी में अमीर ख़ुसरो ने भारतीय गौरव के साथ कहा था—

तुर्क हिंदुस्तानियम मन हिंदवी गोयम जवाब,
शकर मिस्री न दारम कज अरब गोयम तुख़न।

अर्थात् 'मैं हिंदुस्तानी तुर्क हूँ और हिंदवी में उत्तर देता हूँ। मेरे पास मिस्र की शकर नहीं है कि मैं अरबी में बात करूँ!' और इसी विरासत और मिली-जुली पहचान को लेकर हिंदी और उर्दू, दोनों भाषाएं चल रही हैं। इन दोनों की सांस्कृतिक और ख़ानदानी जड़ एक है और इनमें अपनी-अपनी विशिष्ट खाद और पहचान के साथ इनकी शाखें और पत्ते विकसित हुए, होते रहे और हो रहे हैं, और होते रहेंगे।

मूल्यांकन

साझा संस्कृति और संगीत की सार्वभौमिकता

(‘खुदा के लिए’ के बहाने धार्मिक तत्त्ववाद और साम्राज्यी नस्लवाद पर एक टिप्पणी)

जवरीमल्ल पारख

शोएब मंसूर एक पाकिस्तानी फ़िल्मकार हैं, जिनकी पहली फ़िल्म ‘खुदा के लिए’ अप्रैल माह में भारत में प्रदर्शित हुई है। जुलाई 2007 में यह फ़िल्म पाकिस्तान में प्रदर्शित हुई थी। भारत में पहली बार यह फ़िल्म गोवा फ़िल्म फेस्टिवल के दौरान दिखायी गयी थी। तभी से इस फ़िल्म की चर्चा होने लगी थी। लगभग चार दशकों बाद भारत में प्रदर्शित होने वाली यह पहली पाकिस्तानी फ़िल्म है। इस फ़िल्म में एक छोटी, लेकिन अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका नसीरुद्दीन शाह ने निभायी है। इस फ़िल्म का संपादन भी भारत में ही हुआ है। इस प्रकार इस फ़िल्म का भारत से एक खास रिश्ता भी बना है।

फ़िल्म का संबंध 11 सितंबर 2001 की उस घटना से है, जब न्यूयार्क में वर्ल्ड ट्रेड सेंटर के दो टावरों पर बिना हथियारों की मदद के हमला हुआ था और उन्हें ध्वस्त कर दिया गया था। अमेरिका पर हुए इस हमले ने यूरोपीय मूल के अमेरिकी नागरिकों के एक हिस्से में नकारात्मक प्रतिक्रियाएं भी पैदा कीं। उनके बीच इस कुप्रचार को बल मिला कि इस्लाम एक प्रतिगामी और बर्बर धर्म है और मुसलमान स्वभावतः हिंसक और क्रूर होते हैं। इस प्रकार आतंकवाद को मुसलमानों से और इस्लाम से जोड़ दिया गया। कई गोरे अमेरिकियों ने मुसलमानों और पगड़ी पहनने वाले सिक्खों को हमले का निशाना बनाया। सिक्खों को इसलिए कि अपनी पगड़ी और दाढ़ी की वजह से वे ओसामा बिन लादेन की तरह नज़र आते थे। इस हमले का बहाना बनाकर अमेरिका ने पहले अफ़गानिस्तान और बाद में इराक़ पर हमला किया और अन्य साम्राज्यवादी देशों के साथ मिलकर इन दोनों देशों पर अधिकार कर लिया। लेकिन इन देशों में विशेष रूप से अफ़गानिस्तान में अमरीकी दख़लंदाज़ी की कहानी काफी पीछे तक जाती है। 1979 में जब अफ़गानिस्तान की पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (पीडीपीए) ने एक जनतांत्रिक और समाजवादी शासन कायम करने की दिशा में क़दम बढ़ाया था तो उस क्षेत्र में सोवियत प्रभाव के बढ़ने के ख़तरे को देखते हुए तत्कालीन अमेरिकी प्रशासन ने अफ़गानिस्तान के विभिन्न कबीलाई गुटों और धार्मिक मुल्लाओं को हथियारबंद करना शुरू कर दिया। इस काम में अमेरिका का सबसे बड़ा सहयोगी बना पाकिस्तान का तत्कालीन फौजी शासक ज़िया उल हक़ । अमेरिकी दख़लंदाज़ी के काफी अर्से बाद अफ़गानिस्तान के तत्कालीन शासन के अनुरोध पर सोवियत सेनाओं ने वहां प्रवेश किया था। लगभग एक दशक बाद सोवियत सेनाएं तो लौट गयीं, लेकिन अफ़गानिस्तान का शासन जिन धार्मिक तत्त्ववादियों और युद्धोन्मादियों के हाथों में पहुंचा।

उन्होंने इस देश को और वहां की जनता को भुखमरी, बदहाली और बर्बरता के अंधेरे कुओं में धकेल दिया। अफ़गानी कबीलों के इस्लामीकरण के काम को अंजाम देने के लिए अरब देशों-खासतौर पर संयुक्त अरब अमीरात और सऊदी अरब के निरंकुश शासकों की मदद ली गयी। ये दोनों अमेरिका के पिट्टू देश हैं। उसका नेतृत्व इस्लाम के सबसे प्रतिगामी पंथ वहाबी में यकीन करने वाले अरबों को सौंपा गया था। इन्हीं कबीलाई गुटों में से तालिबान का जन्म हुआ। जब अफ़गानिस्तान की सत्ता तालिबान के हाथ में आयी तो उन्होंने शरीअत के नाम पर मध्ययुगीन कानूनों को लागू करना शुरू किया। नतीजतन मामूली अपराधों के लिए भी कठोर सज़ाएं दी जाने लगीं। स्त्रियों को पर्दे में रहने के लिए मजबूर किया गया। उन पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाये गये। आधुनिक खेलों जैसे फुटबॉल, क्रिकेट आदि को भी इस्लाम विरोधी माना जाने लगा। यहां तक कि संगीत, चित्रकला आदि को भी यह कहकर प्रतिबंधित कर दिया गया कि ये कलाएं गैर-इस्लामी हैं। पाकिस्तान के वरिष्ठ पत्रकार अहमद राशिद का मानना था कि तालिबान ने जिस इस्लामी तत्ववाद को बढ़ावा दिया, वह इससे पहले के सभी इस्लामी मूलगामी विचारों की तुलना में कहीं ज्यादा पिछड़ा हुआ था। उनके अनुसार, “तालिबान का इस्लामी और अफ़गान इतिहास का ज्ञान, शरीअत और कुरआन का ज्ञान और बीसवीं सदी के दौरान मुस्लिम दुनिया में राजनीतिक और सैद्धांतिक विकास का ज्ञान भी बहुत सतही और कमजोर था। बीसवीं सदी के इस्लामी तत्ववाद में विद्वतापूर्ण लेखन और बहस का एक लंबा इतिहास मौजूद था, जबकि तालिबान के पास ऐसा कोई ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य या परंपरा नहीं थी और न उसके पास इस्लामी घोषणापत्र या इस्लामी या अफ़गानी इतिहास का कोई विद्वतापूर्ण विश्लेषण था। उसका दुनिया में चलने वाली तत्ववादी इस्लाम से संबंधित बहस से बहुत मामूली वास्ता था। उसका स्वयं अपने इतिहास के बारे में ज्ञान और भी कम था। इसी अज्ञान ने ऐसे रूढ़िवाद को जन्म दिया, जिसमें किसी तरह की बहस के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी, यहां तक कि दूसरे मुसलमान भाइयों के साथ भी नहीं।” (तालिबान : इस्लाम, आइल एंड दि न्यू ग्रेट गेम इन सेंट्रल एशिया, 2002, आई. बी. टॉरिस पब्लिशर्स, लंदन और न्यूयार्क, पृ. 93)। संयुक्त अरब अमीरात, सऊदी अरब और पाकिस्तान ने 11 सितंबर 2001 से पहले तक तालिबान द्वारा सत्ता हथियाये जाने को खुला समर्थन दिया था। अफ़गानिस्तान की जनता को तालिबान के हाथों जो कष्ट झेलने पड़ रहे थे, उसको लेकर न सिर्फ चुप्पी साधी गयी बल्कि 9/11 से पहले तक अमेरिका की कोशिश तालिबानी शासकों से संबंध बढ़ाने की ही रही। लेकिन जब अल कायदा द्वारा अमेरिकी ठिकानों पर हमले किये जाने लगे और इन हमलों की ज़द में स्वयं अमेरिका की धरती भी आ गयी तो उसने अल कायदा और उसके नेता ओसामा बिन लादेन और तालिबान को ख़त्म करने का बीड़ा उठाया।

अफ़गानिस्तान के इस्लामीकरण का कार्य पाकिस्तानी शासकों की मदद से पूरा किया जा रहा था, इसलिए यह बहुत स्वाभाविक था कि स्वयं पाकिस्तान में भी धार्मिक तत्ववाद को बढ़ावा मिलता। दूसरी ओर, दुनिया-भर में आतंकवाद से लड़ने के नाम पर अमेरिका का विरोध करने वाले इस्लामी देशों और आम मुसलमानों को निशाना बनाया जा रहा था,

इसलिए भी मुसलमानों में विशेषकर पश्चिम एशिया के देशों में इस्लामी तत्ववादियों का जोर बढ़ता जा रहा था। इन परिस्थितियों में आधुनिक और लोकतांत्रिक सोच के मुसलमानों से उनका संघर्ष होना स्वाभाविक था। पाकिस्तान के मुस्लिम समाज में चल रहा यह संघर्ष ही 'खुदा के लिए' की कथावस्तु का आधार है। भारतीयों के लिए इस फ़िल्म का महत्त्व इसलिए और ज़्यादा है कि ठीक इसी तरह का संघर्ष हम अपने देश में भी देख सकते हैं। भारत में जहां हिंदू बहुसंख्यक हैं, वहां राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ठीक तालिबानी किस्म के धार्मिक तत्ववाद को ही बढ़ावा देने का कार्य नहीं कर रहा है बल्कि पाकिस्तान के विपरीत वह अल्पसंख्यक धार्मिक समुदायों विशेष रूप से मुसलमानों के विरुद्ध नफ़रत और घृणा का प्रचार करने का भी दोषी है। तालिबान से आरएसएस इस रूप में ज़्यादा ख़तरनाक है कि वह न सिर्फ़ धार्मिक तत्ववादी है, बल्कि सांप्रदायिक फ़ासीवादी भी है। तालिबान की बर्बरता के शिकार तो उनके अपने ही लोग होते हैं, जबकि आरएसएस एक ओर ग़ैर-हिंदुओं को हमले का निशाना बनाता है तो दूसरी ओर प्रगतिशील सोच वाले हिंदुओं को भी नहीं बख़्शाता। यहां इस तथ्य को जरूर ध्यान में रखना चाहिए कि इस्लामी तत्ववाद का परचम लेकर चलने वाली राजनीतिक पार्टियों को पाकिस्तान में जनता का समर्थन बहुत कम हासिल है, जबकि भारत में हिंदुत्व पर आधारित धार्मिक तत्ववाद और सांप्रदायिकता का परचम लेकर चलने वाली राजनीतिक पार्टी को कहीं ज़्यादा समर्थन हासिल है। यहां तक कि वह दूसरी पार्टियों के सहयोग से केंद्र की सत्ता पर आसीन हो चुकी है और भविष्य में भी उसके सत्तासीन होने की प्रबल संभावना है।

'खुदा के लिए', जिसको अंग्रेज़ी में नाम 'इन दि नेम ऑफ़ गॉड' यानी 'खुदा के नाम पर' दिया गया है, कई अर्थों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण फ़िल्म है। भारत और पाकिस्तान के शासकों की परस्पर शत्रुतापूर्ण नीतियों ने न सिर्फ़ दोनों देशों को एक-दूसरे के विरुद्ध कुप्रचार करने का अवसर दिया है; बल्कि अपने-अपने देश की जनता को एक-दूसरे के बारे में गुमराह करने का भी। यह कहना तो मुश्किल है कि पाकिस्तान के लोग भारत के बारे में किस हद तक सही जानकारी रखते हैं, लेकिन यह सही है कि पाकिस्तान के बारे में अधिकांश भारतीय प्रायः बहुत कम सही जानकारी रखते हैं। उनकी नज़र में पाकिस्तान मध्ययुग में जीने वाला, धर्म पर आधारित एक ऐसा प्रतिगामी देश है जो हर दृष्टि से भारत से पिछड़ा हुआ है और जो युद्ध द्वारा और आतंकवाद द्वारा भारत को नेस्तनाबूद कर देना चाहता है। जबकि भारत एक धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और शांतिप्रिय देश है जिसने आज़ादी के बाद के इन छः दशकों में इतनी प्रगति की है कि वह अब विश्वशक्ति बनने से बस थोड़ा ही दूर है। इस दृष्टि से यह फ़िल्म भारतीयों को अवश्य देखनी चाहिए, ताकि वे पाकिस्तान के बारे में ज़्यादा वस्तुगत और संतुलित दृष्टिकोण अपना सकें और अपने दिमाग़ में जमा हो चुके भ्रमजालों को कुछ हद तक साफ़ कर सकें। यही नहीं, वे इस बात को भी समझ सकें कि हिंदू सांप्रदायिकता और तत्ववाद का ख़तरा क्या भारत में ज़्यादा ख़तरनाक रूप में मौजूद नहीं है?

'खुदा के लिए' में दो किस्म के विचारों को आलोचना के दायरे में लाया गया है। पहला धार्मिक तत्ववाद और दूसरा नस्लीय और धार्मिक विद्वेष। धार्मिक तत्ववाद के

प्रतिपक्ष में धर्म की प्रगतिशील और उदारवादी व्याख्या को प्रस्तुत किया गया है, तो, नस्लीय विद्वेष के प्रतिपक्ष में व्यापक मानवतावाद को रखा गया है। विडंबना यह है कि धार्मिक तत्ववाद और नस्लीय विद्वेष दोनों को शासक वर्गों का संरक्षण प्राप्त है, जबकि उदारवादी और मानवीय नज़रिये को हमले का निशाना बनाया जा रहा है। फ़िल्म हमारे समय की इसी विडंबना को उजागर करते हुए मानववाद के पक्ष में खड़ी होती है।

‘खुदा के लिए’ पाकिस्तान के शहर लाहौर में रहने वाले ऐसे उच्च-मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार की कहानी प्रस्तुत करती है जो अपने विचारों और जीवन-शैली दोनों में आधुनिक और उदारवादी हैं। मंसूर (शान) और सर्मद (फ़वाद अफ़ज़ल ख़ान) दो भाई हैं, जो संगीतकार भी हैं और जिनका अपना बैंड है। संगीत को उन्होंने अपना जीवन, अपना शौक और अपना पेशा बनाया हुआ है। लेकिन कट्टरपंथी मुल्लाओं की नज़र में इस्लाम में संगीत के लिए कोई जगह नहीं है। यह लोगों को पाप की ओर धकेलता है, उन्हें इस्लाम के प्रति अश्रद्धालु बनाता है। इसलिए इन मुल्लाओं के अनुसार, सच्चे मुसलमान को संगीत से नाता तोड़ देना चाहिए। हिंदुस्तान में बजरंग दल और शिवसेना के युवा कार्यकर्ताओं की तरह पाकिस्तान में भी तालिबानी सोच के युवा मुसलमान हर उस चीज़ पर आक्रमण करते हैं, जिनको वे इस्लाम के विरुद्ध मानते हैं या जिन्हें पश्चिम का प्रभाव समझते हैं। फ़िल्म के शुरुआती दृश्य में नये साल की पूर्व संध्या (31 दिसंबर, 2000) को इन दोनों भाइयों का बैंड संगीत के एक भव्य आयोजन की रिहर्सल में व्यस्त है, तभी वहां मोटर साइकिलों पर सवार युवक पहुंचते हैं और उस मंच को और वहां लगायी गयी रोशनी, पर्दे, पोस्टर आदि को तोड़फोड़ डालते हैं। यह बिल्कुल वैसा ही दृश्य है, जैसा हिंदुस्तान में वेलेंटाइन डे के दिन बजरंग दल और शिवसेना के कार्यकर्ता करते हैं। इसे सिर्फ संयोग नहीं माना जाना चाहिए कि हिंदी में बनी राकेश मेहरा की फ़िल्म ‘रंग दे बसंती’ में भी खुले विचारों वाले कॉलेज की लड़के-लड़कियों के घूमने-फिरने और नाचने-गाने पर हिंदुत्ववादी युवक एतराज़ करते हैं और उनको धमकी देते हैं कि वे अपने पश्चिमपरस्त तौर-तरीके बदलें। वे खासतौर पर मुसलमान युवक को निशाना बनाते हैं।

‘खुदा के लिए’ में संगीत को इस्लाम विरोधी मानने का सवाल बहुत अहम बनकर उभरा है। मंसूर का छोटा भाई तालिबानी मौलाना ताहिरी (राशिद नाज़) के प्रभाव में आकर संगीत छोड़ भी देता है, जबकि इस फ़िल्म का संगीत पक्ष खासतौर पर उल्लेखनीय है। संगीत को धार्मिक तत्ववाद और नस्लीय घृणा के विरुद्ध एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया गया है। जहां छोटा भाई संगीत छोड़ देता है, वहीं बड़ा भाई मंसूर संगीत सीखने के लिए अमेरिका के शहर शिकागो जाता है। इस प्रकार संगीत से जुड़े रहना और संगीत से अलग होना दो भाइयों द्वारा अपनाये गये दो अलग-अलग रास्तों का संकेत देता है। संगीत के माध्यम से बड़ा भाई मंसूर जहां अपने को दूसरों से जोड़ता है और दूसरे उससे जुड़ते हैं, वहीं छोटा भाई सर्मद अपना दायरा छोटा करता जाता है। यहां तक कि उसके अपने भी उससे दूर होते जाते हैं। शिकागो में मंसूर की मुलाकात एक गोरी ईसाई लड़की जेनी (आस्टिन मेरी सायर) से होती है। दोनों का एक-दूसरे से परिचय होता है। मंसूर अपना परिचय देते हुए बताता है कि वह पाकिस्तान का रहने वाला है। जेनी नहीं जानती

कि पाकिस्तान कहाँ है। मंसूर उसे समझाते हुए बताता है कि पाकिस्तान अफ़गानिस्तान, चीन, रूस और भारत के बीच स्थित है। जब मंसूर भारत यानी इंडिया का नाम लेता है तो जेनी उत्साह से बताती है कि वह इंडिया के बारे में जानती है, इंडिया, जहाँ ताजमहल है। तब मंसूर कहता है कि जिस शाहजहाँ ने ताजमहल बनाया था, वह मुसलमान था और वह भी मुसलमान हैं, जिन्होंने इंडिया पर एक हजार साल तक और स्पेन पर आठ सौ साल तक शासन किया था। मंसूर की इस बात पर जेनी कोई टिप्पणी नहीं करती, लेकिन जाते हुए वह नुसरत फ़तेह अली ख़ान की एक ऑडियो सीडी अपने बैग में से निकालकर मंसूर को देती है। मंसूर यह देखकर स्तब्ध-सा रह जाता है। स्पष्ट ही जेनी के लिए इस बात का कोई ख़ास महत्त्व नहीं था कि मंसूर का धर्म क्या है और हिंदुस्तान पर किसने शासन किया। उसके लिए पाकिस्तान का मतलब था, नुसरत फ़तेह अली ख़ान। ऐसा संगीतकार जो उस सूफ़ी परंपरा से जुड़ा था, जिस परंपरा ने हमेशा धार्मिक सहिष्णुता और सामंजस्य को सर्वोपरि माना था। भारतीय इतिहास का एक हजार साल का सत्य सिर्फ़ यह नहीं है कि यहाँ मुसलमानों ने हिंदुओं पर शासन किया, जैसा कि अनजाने में मंसूर कहता है बल्कि उसका सच उस साझा परंपरा में है, जिसे बनाने और समृद्ध करने में सूफ़ी संतों, फ़कीरों, संगीतकारों और रचनाकारों का महान योगदान रहा है। उन्होंने धर्म, साहित्य और संगीत की मध्य एशिया की विभिन्न परंपराओं को भारतीय परंपराओं के साथ इस तरह जोड़ा कि आज उन्हें अलग-अलग पहचानना लगभग नामुमकिन है। नुसरत फ़तेह अली ख़ान की गायकी उसी साझा परंपरा से जुड़ी है और यही कारण है कि नुसरत फ़तेह अली ख़ान जितने पाकिस्तान में लोकप्रिय हैं, उससे शायद ज़्यादा भारत में लोकप्रिय हैं और नुसरत की लोकप्रियता जब इस उपमहाद्वीप की सीमाओं के बाहर दिखायी देती है तो इस पर जितना गर्व पाकिस्तान के लोगों को होता है, उससे कम भारतीयों को नहीं होता।

फ़िल्म के एक दृश्य में अफ़्रीकी अमेरिकी प्रोफ़ेसर संगीत-कक्षा में सभी विद्यार्थियों को अपना-अपना संगीत गाने-बजाने के लिए कहता है। वह मंसूर से उम्मीद करता है कि उससे उसे पश्चिमी संगीत से कुछ अलग सुनने को मिलेगा। मंसूर हसन ख़ान पश्चिमी संगीत की बजाय पियानो पर शुद्ध शास्त्रीय राग तिलक कामोद पर आधारित बंदिश पेश करता है :

स्थाई : नीर भरन कैसे जाऊँ सखी री अब
डगर चलत मोसे करत रार
अंतरा : चंचल चपल हट
नटखट
मानत ना काहू की बात
बिनती करत मैं गयी हार

खड़ीबोली के हल्के स्पर्श के साथ ब्रजभाषा में लिखी इस बंदिश का संबंध राधा-कृष्ण के प्रेम से है, जहाँ राधा (या कोई गोपी) अपनी सखी से कृष्ण की शिकायत कर रही है। तिलक कामोद अत्यंत लोकप्रिय राग है। थाट खमाज और तीन ताल में प्रस्तुत किये जाने वाले इस राग की बंदिशें आमतौर पर श्रृंगार से संबंधित होती हैं और राधा-कृष्ण या

कृष्ण-गोपियों के बीच के प्रेमभाव को व्यक्त करती हैं। प्रेम के दोनों रूपों- संयोग और वियोग के लिए यह राग प्रयुक्त किया जाता है। शायद इसी वजह से इसका संबंध तुमरी से भी है। इस राग के लिए सबसे उपयुक्त समय संध्या का उत्तरकाल माना जाता है। यह राग देस से काफ़ी मिलता-जुलता है। स्वयं तिलक कामोद के भी कई रूपभेद सुनने को मिल सकते हैं, जो अलग-अलग घरानों के असर का नतीजा हो सकता है। एक ही बंदिश में बोल में भी कुछ अंतर मिल सकता है। हिंदी फ़िल्मों में भी इस राग का प्रयोग संगीतकारों द्वारा किया जाता रहा है और कई लोकप्रिय मधुर फ़िल्मी गीत इस राग में हैं। राग कामोद तो काफ़ी पुराना है, लेकिन तिलक कामोद राग का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। संभवतः उन्नीसवीं सदी के मध्य से इसका चलन हुआ है। यह कहना तो मुश्किल है कि इसकी बंदिश मूलतः किसने बनायी है, लेकिन इस तरह की बंदिशें अमीर खुसरो के समय से बनती रही हैं। स्वयं खुसरो की कुछ बंदिशें इससे मिलती-जुलती हैं। यहां इस बात का भी उल्लेख करने की ज़रूरत है कि देश के विभाजन के बाद पाकिस्तान में इस बात का प्रयत्न किया गया था कि शास्त्रीय रागों के भारतीय नामों को बदला जाये या उनकी बंदिशों में बदलाव किया जाये। लेकिन ये कोशिशें सफल नहीं हुईं

और शास्त्रीय संगीत से जुड़े पाकिस्तान के गायक और वादक भी उन्हीं रागों और बंदिशों को परंपरागत रूप से ही गाते-बजाते हैं। फ़िल्म 'खुदा के लिए' में मंसूर इस बंदिश को इसकी पूरी शास्त्रीयता का निर्वाह करते हुए गाता है। 'नीर भरन कैसे जाऊं' तिलक कामोद राग के लिए सबसे उपयुक्त गीतों में से है और शास्त्रीय गायक प्रायः इसको गाते हैं।

संगीत की कक्षा में अफ़्रीका अमेरिकी प्रोफ़ेसर मंसूर से पाकिस्तानी संगीत की उम्मीद करता है, लेकिन मंसूर जो गीत गाता है और जिस राग को गाने के लिए चुनता है, क्या उसका संबंध पाकिस्तान से नहीं है? ब्रज में लिखा प्रेमगीत जो दरअसल भक्तिगीत भी है, मंसूर द्वारा उसे अपनी पहचान के रूप में चुनना क्या महज संयोग है? एक मुसलमान के रूप में मंसूर का यह कहना कि वह उस क़ौम से है, जिसने भारत पर एक हज़ार साल तक शासन किया था और दूसरी ओर, वह अपनी पहचान उस संगीत और गीत में पाता है, जिसका संबंध न इस्लाम से है और न मुसलमान होने से। शास्त्रीय गायन की जो परंपरा देश-विभाजन से पूर्व मौजूद थी, वह अब भी भारत ही नहीं, पाकिस्तान में भी मौजूद है। शास्त्रीय गायन के कार्यक्रमों में पाकिस्तान के कलाकार भी उन्हीं रागों को गाते-बजाते हैं जो भारत में गाये-बजाये जाते हैं, और इसके लिए उन्हीं बंदिशों को प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें भारत में प्रस्तुत किया जाता है। शास्त्रीय रागों को प्रस्तुत करने के लिए राधा-कृष्ण से संबंधित प्रेमगीतों को प्रस्तुत करने की लंबी परंपरा रही है। भारत में शास्त्रीय वादकों और गायकों में मुसलमानों का बड़ा योगदान रहा है। जिन विभिन्न रागों को आज हम भारतीय मानते हैं, उनमें से कई रागों की मूल रचना मुसलमान गायकों और संगीतकारों द्वारा हुई है।

तिलक कामोद जैसे परंपरागत शास्त्रीय राग में गायी गयी इस बंदिश को जब मंसूर अपने उन सहपाठियों के बीच पेश करता है तो इसे समझने वाला वहां कोई दूसरा नहीं है। उस कक्षा में मंसूर के अलावा सभी विद्यार्थी या तो यूरोपीय मूल के हैं या अफ़्रीकी

मूल के। उनके लिए गीत के बोल और वह राग जिसमें गीत प्रस्तुत किया गया है, दोनों ही अपरिचित हैं। इसके बावजूद शब्दों की मिठास, गायन की ओजपूर्ण शैली और संगीत का जादू सभी को अपने पाश में बांधने लगता है। धीरे-धीरे एक ऐसा माहौल निर्मित होने लगता है, जहां शब्द और उसके अर्थ, राग और उसकी विशिष्ट पहचान सब कुछ बेमानी हो जाते हैं। संगीत में जो सार्वभौमिकता का तत्व छिपा होता है, वह वहां मौजूद सभी पर हावी होने लगता है। गीत शुरू होने के कुछ क्षणों बाद प्रोफेसर आंखें बंद कर और गर्दन हिलाते हुए चुटकी बजाने लगता है। एक गोरा विद्यार्थी प्रोफेसर से अनुमति लेकर मंजीरा जैसा अपना वाद्य बजाने लगता है। इसके बाद एक-एक कर सभी विद्यार्थी अपने-अपने वाद्ययंत्रों के साथ संगत देने लगते हैं। उनके बीच के सारे भेद और सभी पहचानें विलीन होने लगती हैं। वे न अमेरिकी रहते हैं, न अफ्रीकी और न पाकिस्तानी। वे तब न ईसाई होते हैं, न मुसलमान। न गोरे, न काले और न सांवले। उनमें स्त्री और पुरुष का भेद भी मिट जाता है। उस प्रस्तुति से ऐसा समां बंधा जाता है, जिसके सौंदर्य को शब्दों में नहीं उतारा जा सकता। संगीत की इसी अद्भुत शक्ति से मौलाना ताहिरी जैसे तत्ववादी भय खाते हैं और धर्म का भय दिखाकर लोगों को उससे वंचित करना चाहते हैं।

‘खुदा के लिए’ पाकिस्तानी फ़िल्म है और इसलिए उसे उर्दू फ़िल्म भी कहा जा सकता है। यही फ़िल्म यदि हिंदुस्तान में बनी होती तो इसी भाषा को हिंदी कहा जाता। इस फ़िल्म में सिर्फ उर्दू जानने वाले पात्र ही नहीं हैं। उनमें अमेरिकी, अफ़गानी और अंग्रेज़ भी हैं, इसलिए पात्रों के अनुसार इसमें अंग्रेज़ी, पंजाबी और पश्तो का भी इस्तेमाल किया गया है। उर्दू के बाद सबसे ज़्यादा अंग्रेज़ी और उसके बाद पश्तो और पंजाबी। फ़िल्म की कहानी भी पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान, इंग्लैंड और अमेरिका में चलती है। इसी तरह की विविधता इस फ़िल्म के गीतों में भी है। फ़िल्म में उर्दू, अंग्रेज़ी, पंजाबी और ब्रजभाषा के गीत हैं। पंजाब के प्रसिद्ध सूफ़ी संत बुल्लेशाह (1680-1757) का गीत ‘बंदया हो..’ फ़िल्म में तीन बार गाया जाता है और हर बार कुछ भिन्न रूप में। एक बार तो इस गीत का एक अंतरा अंग्रेज़ी में भी गाया जाता है। एक सूफ़ी संत द्वारा लोकशैली में लगभग तीन सदी पहले लिखे गये गीत का फ़िल्म में इस तरह इस्तेमाल कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। यहां गीत की प्रभावशाली प्रस्तुति ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि बुल्लेशाह के जिस गीत को फ़िल्मकार ने चुना है, वह चुनाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। फ़िल्म की कहानी से सीधे तौर पर गीत का कोई संबंध नज़र नहीं आता, लेकिन जैसे ही गीत की गहराई में जाते हैं तो इसे दर्शक आसानी से समझ जाते हैं कि बुल्लेशाह के इस गीत का चयन क्यों किया गया है। गीत के महत्त्व को समझने के लिए यहां उसे उद्धृत करना आवश्यक है :

बंदया हो..

बुल्ले नू समझावन आयां मेना ते भरजाइयां

मन ले बुल्लेया सदा केहना चढ़ दे पल्ला रैयां

आल नबी ओलाद नबी नुं तो क्युं लिका लैयां

जेड़ा सानूं सैयद साढ़े दोज़ख मिले सज़ैइयां

बंदया हो...
 राइन साइन सभी रब दियां परवैयां
 सोहनिया परे हठाइयां ते कूजियां दे गल लैयां
 जे तु लोड़े बाग़ बहारां चाकर हो जा रैयां
 बुल्लेशाह दी जात के पूछी चाकर हो रज़ैयां
 बंदया हो...

बुल्लेशाह का लिखा यह गीत पंजाबी की एक बोली सिरैकी में है, जो आज की पंजाबी से कुछ अलग है। लाहौर का रहने वाला मंसूर पंजाबी है और इस रूप में बुल्लेशाह के गीत का चयन उसका अपनी जड़ों से जुड़ना भी है। अपनी ज़मीन से जुड़ने की बात तो प्रायः कही जाती है, लेकिन आमतौर पर इस बात की उपेक्षा की जाती है कि जमीन की किस परंपरा से जुड़ा जा रहा है। इस अर्थ में बुल्लेशाह से जुड़ने का अर्थ है पंजाब की उस परंपरा से जुड़ना, जिसकी पहचान धार्मिक उदारता, सहिष्णुता और साझी संस्कृति से बनी है। बुल्लेशाह पंजाबी के सबसे महान सूफी कवि माने जाते हैं। उनका यह गीत धर्म और जाति को संकीर्ण अर्थों में लेने से इन्कार का गीत है। इस गीत में बुल्लेशाह ईश्वर के बंदों को संबोधित करते हुए अपनी बात कहते हैं। गीत का भाव कुछ इस प्रकार है :

बुल्लेशाह को उसकी बहनें और भाभियां यह समझाने आयी हैं कि हमारा कहना मान लो और इस अराइन (पंजाब के मुसलमानों में एक निम्न जाति) का पल्ला छोड़ दो। तुमने अहले नबी और औलादे-अली (यहां तात्पर्य पैगंबर और उनके वंशजों से है। सैयद भी पैगंबर के वंशज माने जाते हैं) को बदनाम किया है। इसके उत्तर में बुल्लेशाह कहता है, अब जो कोई मुझे सैयद कहेगा, उसको सज़ा में दोजख़ मिलेगा (इस पंक्ति का एक अर्थ यह भी लगाया जाता है कि उसकी बहनें और भाभियां कहती हैं कि अब जो कोई हमें सैयद कहेगा, उसे दोजख़ यानी नरक मिलेगा)। बुल्लेशाह कहता है कि ये सब अर्थहीन बातें हैं और अल्लाह को न जानने का नतीजा है। अगर तुम बागे-बहार देखना चाहते हो तो किसी राइन के चाकर (सेवक) हो जाओ। बुल्लेशाह की जाति क्या पूछते हो, वह तो इस मुकाम पर उस बंदे की वजह से ही पहुंचा है।

बुल्लेशाह ने यहां जिस अराइन की तरफ़ संकेत किया है, बताया जाता है कि उसे उन्होंने मुर्शिद (गुरु) का दर्जा दिया था। इसी से बुल्लेशाह के परिवार वाले उनसे नाराज़ थे। बुल्लेशाह का संबंध सैयद परिवार से था। बुल्लेशाह एक सच्चे सूफी संत थे। वे कबीर की तरह ऊंच-नीच और जात-पात का भेदभाव नहीं करते थे। पंजाबी भाषा के इस महान सूफी संत और कवि में धार्मिक उदारता, सहिष्णुता और समन्वय भावना के दर्शन तो होते ही हैं, उनमें कबीर की तरह विद्रोही चेतना भी थी। यही कारण है कि उन्होंने धार्मिक रूढ़ियों और जाति-पाति के बंधनों पर तीखा प्रहार भी किया था। यह गीत उनकी इसी

विद्रोही चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे गीत को इतने महत्त्व के साथ प्रस्तुत करना स्पष्ट करता है कि 'खुदा के लिए' के पीछे किस तरह की वैचारिक परंपरा की शक्ति काम कर रही है।

बुल्लेशाह का संबंध उस महान भक्ति-आंदोलन से है, जिसकी एक महत्त्वपूर्ण धारा सूफ़ी संतों और कवियों से बनती है। अमीर खुसरो, मलिक मुहम्मद जायसी, बुल्लेशाह, वारिस शाह, लल्लेश्वरी, शाह लतीफ़, वली दकनी आदि सूफ़ी कवियों की इस विशाल परंपरा ने विभिन्न भारतीय भाषाओं में ऐसे महान साहित्य की रचना की है, जिसमें इस्लाम सहित विभिन्न भारतीय धर्मों और पंथों का, साहित्य की विभिन्न धाराओं का और संस्कृति के विभिन्न रूपों का सामंजस्य दिखायी देता है। इस परंपरा में शास्त्रीयता और लोकतत्व का भी सामंजस्य है। जायसी का महाकाव्य 'पद्मावत' इसका उदाहरण है जिसकी कथा में लोकतत्व का प्रभाव अन्य भक्त कवियों की तुलना में सबसे ज्यादा दिखायी देता है। बुल्लेशाह को सिर्फ़ सूफ़ी संत और कवि के रूप में ही याद नहीं किया जाता, बल्कि वे एक लोकनायक और लोकगायक के रूप में आज भी पंजाब के दोनों हिस्सों में मौजूद हैं। जिसे धर्म ने विभाजित किया, वह पंजाब बुल्लेशाह के जरिए आज भी जुड़ा हुआ है।

'नीर भरन कैसे जाऊँ' और 'बुल्लेशाह दी जात के पूछी...' इस साझा परंपरा की दो धाराएँ हैं। इसे महज़ संयोग नहीं माना जा सकता कि 'खुदा के लिए' का फ़िल्मकार विभाजन से पहले की उस परंपरा को याद करता है जो हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की दूरी को नहीं बल्कि उनकी निकटता और उनकी एकता को दर्शाती है। लेकिन हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एकता दिखाना फ़िल्मकार का लक्ष्य नहीं है। वह तो सभी धर्मों, जातियों, नस्लों के बीच एकता को दिखाना चाहता है। यही वजह है कि भारतीय परंपरा के एक लोकप्रिय राग की प्रस्तुति उस सार्वभौमिकता को निर्मित करने का माध्यम बनती है जो देशों, धर्मों, जातियों और यहां तक कि स्त्री-पुरुष के बीच के विभाजनों को पाटने की शक्ति रखती है। 'नीर भरन कैसे जाऊँ' के संदर्भ में इस बात को भी ध्यान में रखने की ज़रूरत है कि राधा-कृष्ण के प्रेम से संबंधित होते हुए भी इसका कथ्य लोक-अनुभव को व्यक्त करने वाला है। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे धार्मिक या आध्यात्मिक कहा जा सके। इसी प्रकार बुल्लेशाह के गीत में जाति के आधार पर बरते जाने वाले ऊँच-नीच के भेद पर जो प्रहार किया गया है वह मुस्लिम से ज़्यादा हिंदू समाज के बारे में सत्य है। लेकिन इस बात को भी यदि व्यापक अर्थ में लें तो जाति, धर्म, नस्ल आदि के भेदभाव को नकारने की यह भावना ही बुल्लेशाह के इस गीत को फ़िल्म के लिए प्रासंगिक बनाती है।

गीत की इसी प्रासंगिकता को फ़िल्मकार ने तब और बढ़ा दिया है, जब उसके साथ अंग्रेज़ी का एक अंतरा जोड़ दिया है। फ़िल्म के एक दृश्य में मंसूर अमेरिका में प्रकृति की सुरम्य गोद में अपनी प्रेमिका जेनी के साथ इस गीत को गाता है। 'बंदया हो...' की टेक में वह मंसूर का साथ देती है। उस गीत में जेनी अपनी तरफ़ से भी अंग्रेज़ी में एक अंतरा गाती है। बुल्लेशाह के गीत को जिस राग में बांधा गया है, उसको इस ढंग से पेश किया गया है कि बहुत ही सहजता से बिना अपना मूल स्वभाव छोड़े अंग्रेज़ी

अंतरा भी उससे जुड़ जाता है। अंग्रेजी अंतरे की पंक्तियां हैं :

Face the world with a smile
No one knows what I hid inside
They see only happiness
They can't see the tears that I've cried

इन पंक्तियों का भाव कुछ इस तरह है :

दुनिया का सामना मुस्करा कर करो
कोई नहीं जानता कि मेरे अंतर्मन में क्या है
वे सिर्फ खुशियां देखते हैं
वे उन आंसुओं को नहीं देखते, जिसके पीछे मेरा रुदन छिपा है।

इन पंक्तियों में हर उस व्यक्ति की पीड़ा निहित है जो दुखों का सामना हंसते हुए करता है, जो दुनिया में खुशियां बांटना चाहता है। संभवतः यह मुक्तक लेबनान के महान कवि और चिंतक खलील जिब्रान (1883-1931) के प्रख्यात काव्य ग्रंथ 'दि प्रोफेट' से लिया गया है। खलील जिब्रान की कविताओं का अनुवाद दुनिया की बीस से अधिक भाषाओं में हुआ है। एक मानवतावादी चिंतक और कवि के रूप में जिब्रान की खास पहचान है। अगर उनकी कविताओं और चिंतन का सार प्रस्तुत करना हो तो वह यही है कि 'सभी मनुष्य एक हैं और प्रेम सबसे बड़ा सत्य है' (द्रष्टव्य : खलील जिब्रान लिखित प्रेम का गीत)। अमेरिका से भी जिब्रान का विशेष रिश्ता रहा है, जहां उन्होंने अपने जीवन के अंतिम दो दशक गुजारे थे। इसलिए एक अमेरिकी स्त्री द्वारा जिब्रान की कविता को चुनना विशेष महत्त्व रखता है। इस तरह जेनी अमेरिका की राजनीतिक वर्चस्ववादी पहचान के समानांतर एक भिन्न पहचान प्रस्तुत करती है। विश्व पर वर्चस्व की आकांक्षा, श्रेष्ठ होने का अहंकार, नस्लीय विद्वेष और घृणा और अपने से भिन्न के प्रति अविश्वास और शत्रुता का भाव, यदि अमेरिका की सत्तावादी पहचान ये है तो जेनी इस अमेरिका का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वह उस अमेरिका का प्रतिनिधित्व करती है जो आपसी भाईचारे और प्रेम में यकीन करती है। जो युद्ध और वर्चस्व की भाषा नहीं बल्कि संगीत और प्रेम की भाषा में यकीन करती है। इसलिए वह भारत को ताजमहल से और पाकिस्तान को नुसरत फ़तेह अली ख़ान से जोड़कर देखती है। जिस अमेरिका के कारण मंसूर को भयावह यातना से गुज़रना पड़ता है उस यातना के बाद भी यदि उसका विश्वास डिगता नहीं तो इसका कारण जेनी जैसे अमेरिकी हैं जो हर मुसलमान को आतंकवादी मानने की समझ को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

मंसूर को अमेरिका की फ़ेडरल पुलिस सिर्फ एक गोरी अमेरिकी स्त्री की शिकायत पर पुलिस सोते में पकड़ के ले जाती है और उसे तरह-तरह से यातना देती है। उसके गले में पहने ताबीज़ को जिसमें अरबी में लिखी इबारत होती है, और जिसे अरबी न जानने के कारण स्वयं मंसूर पढ़ सकने में असमर्थ है, उसी इबारत को उसके आतंकवादी होने का सबूत मान लिया जाता है। अरबी भाषा वे अमेरिकी पुलिसिए भी नहीं जानते जो जबर्दस्ती मंसूर को ओसामा बिन लादेन और अल कायदा से जोड़ना चाहते हैं। मंसूर

के साथ होने वाले इस अत्याचार के विरुद्ध जेनी और उसके साथी मौन प्रदर्शन करते हैं। उनके हाथों में जो प्लेकार्ड हैं, उन पर धर्म को आतंकवाद से जोड़ने और नस्लीय घृणा को बढ़ावा देने वाली प्रवृत्ति के विरोध में नारे लिखे होते हैं। उस प्रदर्शन के दौरान 'माही वे' गीत हल्के-हल्के बजता है। जेनी की निराशा को व्यक्त करने के लिए बार-बार 'बादर घिर आये, मोरा सैया पास न आयो, रैना बीती जाये' जैसा लोकगीत भी हल्के-हल्के बजता है। पूरी फिल्म में शास्त्रीय संगीत के वाद्यों विशेषतः तबले और उसके साथ कभी 'ताक धिनाधिन' की आवाज़, तो कभी किसी गीत का कोई अंतरा उस दृश्य विशेष को अत्यंत प्रभावशाली बना देती है। युद्ध, यातना, एकाकीपन आदि के दृश्यों में पंजाबी, उर्दू, हिंदी, अंग्रेज़ी आदि के गीतों और तरह-तरह के संगीत का उपयोग अद्भुत वैषम्य और सामंजस्य निर्मित करता है। पूरी फिल्म में बैकग्राउंड म्यूज़िक को एक वैचारिक हथियार की तरह इस्तेमाल किया गया है। संगीत स्वयं जैसे घृणा, नफ़रत और हिंसा के विरुद्ध हथियार बनकर हर कहीं मौजूद है। मंसूर को दी जाने वाली यातना के दौरान भी यह संगीत कवच बनकर उसकी रक्षा में उपस्थित नज़र आता है।

मंसूर को अमेरिकी सत्ता के हाथों अपमानित होना पड़ता है, भयावह यातना सहनी पड़ती है। लेकिन उसकी चचेरी बहन मरियम (इमान अली) को तो अपनों के हाथों अपमानित होना पड़ता है। मंसूर को इसलिए यातना सहनी पड़ती है, क्योंकि वह मुसलमान है और मरियम को इसलिए सहनी पड़ती है, क्योंकि वह मुसलमान होने के साथ-साथ स्त्री भी है। मुसलमान स्त्री होने की वजह से ही उसे अपने प्रेमी देव (एलेक्स एडवर्ड्स) से अलग होना पड़ता है, क्योंकि देव मुसलमान नहीं बल्कि ईसाई और अंग्रेज़ है। एक मुसलमान पुरुष को तो हक़ है कि वह चाहे जिस धर्म की स्त्री को अपनी पत्नी बना सकता है, लेकिन एक मुसलमान लड़की को यह हक़ नहीं है कि वह ग़ैरमुसलमान से शादी करे। उसके बेदीन होने का ख़तरा है। दीन की हिफ़ाजत के लिए उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध कर दिया जाता है। उसे जबरन मां बनने के लिए मजबूर किया जाता है। यही नहीं इंग्लैंड के जिस खुले माहौल में उसका अब तक का जीवन गुज़रा था, उससे निकाल कर उसे तालिबानों की अंधेरी दुनिया में छोड़ दिया जाता है। अपना दीन बचाने के लिए अपनी इकलौती बच्ची को तालिबानी नरक में धकेल देने वाला यह पिता हुसैन शाह स्वयं उस दुनिया में एक पल रुकने के लिए तैयार नहीं होता। तालिबान की बंद दुनिया मरियम जैसी अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी स्त्रियों के लिए ही नरक नहीं है, वह अनपढ़ अफ़ग़ान स्त्रियों के लिए भी नरक है। मरियम को पाकिस्तान-अफ़ग़ानिस्तान के बार्डर पर जिस अफ़ग़ान गांव में और जिस अफ़ग़ानी परिवार में रहने का अवसर मिलता है, वहां की औरतों (जिनमें एक अधेड़ स्त्री जो शेरशाह की बुआ है और शेरशाह की युवा पत्नी और उसकी दो किशोर वय की अविवाहित भांजियां हैं) से मरियम की बातचीत इसी सच्चाई को उजागर करती है। वे औरतें जिन्होंने शहर तो दूर दूसरा गांव भी नहीं देखा है, उनमें भी आज़ादी और गुलामी के फ़र्क का एहसास मौजूद है। मरियम उस नरक से भागना चाहती है। युवा स्त्री पूछती है कि क्या तुम यहां से भागना चाहती हो, तो वह उलटकर पूछती है कि अगर मेरी जगह तुम होतीं तो क्या करतीं। युवा स्त्री एक क्षण लगाये बग़ैर उत्तर देती है :

‘भागती।’ इन्हीं स्त्रियों की मदद से वह वहां से भाग भी जाती है। यह और बात है कि वह कामयाब नहीं होती और पकड़ ली जाती है। इसी तरह जब किशोर लड़कियों को मालूम पड़ता है कि मरियम अंग्रेज़ी जानती है तो वे उससे इच्छा व्यक्त करती हैं कि वह उनको भी पढ़ना-लिखना सिखा दे। मरियम इस पर जबाब देती है कि उसे तो उर्दू नहीं आती। इस पर वे लड़कियां कहती हैं कि वे तो अंग्रेज़ी सीखना चाहती हैं, क्योंकि अंग्रेज़ी से रौब पड़ता है। इस पर मरियम कहती है कि वह उन्हें अंग्रेज़ी कैसे पढ़ा पायेगी, क्योंकि वह तो यहां से जल्दी-से-जल्दी भाग जाना चाहती है। इस पर उन लड़कियों में से एक कुछ क्षण सोचकर उत्तर देती है : ‘ये तो ठीक है। तुम भाग ही जाओ। हम इंग्लिश के बगैर गुज़ारा कर लेंगे।’ यदि शिक्षा आज़ादी के बीच अवरोध बनती है, तो आज़ादी शिक्षा से ज्यादा बड़ा मूल्य है, यह बात वे औरतें भी जानती हैं।

मरियम उर्फ मेरी आखिरकार अपने प्रेमी देव और मंसूर के माता-पिता की मदद से वहां से आज़ाद होने में कामयाब हो जाती है। लेकिन मौलाना ताहिरी उसके पति सर्मद को भड़काता है कि वह अपनी पत्नी और बच्ची पर हक़ के लिए लड़ें। उनका एक साथी कहता भी है : ‘हम बच्ची को मार तो सकते हैं, लेकिन उसको पाकिस्तान से बाहर नहीं जाने देंगे।’ लाहौर के हाईकोर्ट में मुक़दमा चलता है। अदालत को दो सवालों पर विचार करना है। एक, क्या लड़की की मर्जी के बगैर निकाह जायज़ है? दो, यदि जायज़ नहीं है तो ऐसे निकाह से होने वाली औलाद का वारिस (अभिभावक) कौन होगा? मौलाना ताहिरी कोर्ट में दलील पेश करता है : ‘एक मुसलमान लड़की को बेदीन होने से बचाना ज़रूरी था या उसकी मर्जी का होना या ना होना?’ जहां तक लड़की की मर्जी का सवाल है, मौलाना ताहिरी का विचार है कि लड़की की मर्जी पूछी जा सकती है, लेकिन फ़ैसले का हक़ मां-बाप को है। जब इस्तग़ासे का वकील मौलाना ताहिरी से पूछता है कि उसने सर्मद जैसे युवक को संगीत से क्यों दूर कर दिया तो वह जबाब देता है कि तस्वीर बनाना और गाना-बजाना हराम है। बिल्कुल वैसे ही, जैसे कि चोरी करना या जुआ खेलना। वह इस बात पर अफ़सोस करता है कि हुकूमत बेदीन है, इसलिए ऐसी चीज़ों को बढ़ावा मिल रहा है। जब शरीअत पर चलने वाली हुकूमत आयेगी तो ऐसा करने वालों को कोड़े मारे जायेंगे।

इस्लाम के अनुसार क्या सही है और क्या ग़लत, इस बाबत गवाही के लिए लाहौर के ही मौलाना वली (नसीरुद्दीन शाह) को बुलाया जाता है। जैसाकि अदालत में बताया जाता है, मौलाना वली इस्लाम के प्रख्यात विद्वान हैं और उन्होंने इस्लाम के विभिन्न पक्षों के बारे में एक दर्जन से ज्यादा किताबें लिखी हैं। मौलाना ताहिरी के ठीक विपरीत मौलाना वली को संगीत-प्रेमी के रूप में फिल्म में पेश किया गया है। जब मेरी मौलाना वली से मिलने के लिए उनके घर जाती है तो वहां 1944 की लोकप्रिय हिंदुस्तानी फिल्म ‘माई सिस्टर’ (हिंदी में नाम : मेरी बहन) का गीत बज रहा होता है। पंडित भूषण के लिखे इस गीत को पंकज मलिक ने संगीत दिया था और के. एल. सहगल ने गाया था। पांचवें दशक में एक गायक के तौर पर के. एल. सहगल शीर्ष पर थे। मौलाना वली के यहां न सिर्फ गीत बज रहा था, बल्कि एक फिल्मी गीत बज रहा था। व्यक्ति के नैराश्यपूर्ण

एकाकी जीवन की व्यथा को इस गीत में व्यक्त किया गया है :

ए कातिबे तकदीर मुझे इतना बता दे
क्यों मुझसे ख़फ़ा है तू, क्या मैंने किया है
औरों को खुशी, मुझको फ़क़त दर्द-ओ-रंजो-ग़म
दुनिया को हंसी और मुझे रोना दिया है
क्या मैंने किया है... क्या मैंने किया है...
हिस्से में सबके आई है...
हिस्से में सबके आई हैं रंगीन बहारें...

फ़िल्म में गीत इतना ही बजता है, यद्यपि गीत के आगे के बोल भी अत्यंत प्रभावशाली है।

बद फ़क़तियां लेकिन मुझे शीशे में उतारें
पीते हैं...
पीते हैं रोग रोज़ो शब मुज़्ज़रतों की मैं
मैं हूँ कि सदा खून-ए-जिगर मैंने पिया है
क्या मैंने किया है... क्या मैंने किया है
था जिनके दुमक दम से ये आबाद आशियां
हो चहचहाती...
हो चहचहाती बुलबुलें जाने गईं कहां
जुगनू की चमक है न सितारों की रोशनी
इस घुप अंधेरे में है मेरी जान पर बनी
क्या थी...
क्या थी बता कि जिसकी सज़ा तूने मुझको दी
क्या था गुनाह कि जिसका बदला मुझसे लिया है
क्या मैंने किया है...क्या मैंने किया है...
क्यों मुझसे ख़फ़ा है तू, क्या मैंने किया है...

इसका पहला अंतरा जिसमें 'औरों को खुशी, मुझको फ़क़त रंजो ग़म' कहा गया है, उसमें निहित भाव खलील जिब्रान के पहले उद्धृत मुक्तक में व्यक्त भाव से मिलते-जुलते हैं। इसकी अगली पंक्ति 'दुनिया को हंसी और मुझे रोना दिया है' में कबीर के दोहे 'सुखिया सब संसार, खावे और सोवे/दुखिया दास कबीर, जागे और रोवे' जैसा भाव है। न्यू थियेटर्स की फ़िल्म 'मेरी बहन' में के. एल. सहगल ने मुख्य भूमिका निभायी थी, जो पांचवें दशक के सबसे लोकप्रिय कलाकार और गायक थे। आज़ादी के पहले के इस गीत का फ़िल्म में बजना जैसे यह संकेत कर रहा हो कि मौलाना वली जैसे लोगों के लिए इतिहास शायद 1947 में ठहर गया था। हालांकि इस गीत की पंक्तियां मेरी की पीड़ा के अधिक नज़दीक है। ध्यान देने की बात यह भी है कि इस गीत को, जिसे पंडित भूषण ने लिखा, पंकज मलिक ने संगीतबद्ध किया और कुंदनलाल सहगल ने गाया था (बाद में पंकज मलिक ने अपनी आवाज़ में भी इसे गाया था), उसकी भाषा और शैली हिंदी की बजाए उर्दू

के ज्यादा नज़दीक है, बल्कि इसे उर्दू ही कहा जा सकता है। दरअसल, उस दौर में हिंदी-उर्दू विवाद में जिस हिंदुस्तानी का समर्थन गांधी-नेहरू जैसे नेता कर रहे थे, 'हिंदी' फिल्मों की भाषा उसकी सबसे प्रबल और लोकप्रिय अभिव्यक्ति है।

मेरी और मौलाना वली के बीच की यह पहली मुलाक़ात कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। मौलाना वली मेरी को देखकर कहते हैं कि यदि कोई छोटी बात हो तो कह दो, क्योंकि मेरे नमाज़ का वक्त हो रहा है। इस पर मेरी व्यंग्य के लहजे में कहती है : 'हनमाज़ तो क्या है, एक्सरसाइज़ तो करनी आपने। अभी करें, बाद में करें, क्या फर्क पड़ता है।' नमाज़ का इस तरह मज़ाक उड़ाना जाहिर है कि मौलाना ताहिरी कभी बर्दाश्त नहीं करते। शायद इस पर मेरी का सिर धड़ से अलग कर दिया जाता। लेकिन मौलाना वली इस पर मुस्कराते हुए कहते हैं : 'हमेरी इबादत को एक्सरसाइज़ कहने वाली या तो बहुत पहुंची हुई है या बहुत दुखी है।' मेरी उनसे जानना चाहती है कि हाईकोर्ट ने उन्हें एक मामले में गवाही के लिए बुलाया था, वे क्यों नहीं आये। इस पर वली जबाब देते हैं कि वे ऐसे झमेलों में नहीं पड़ना चाहते, इसमें काफी समय ज़ाया होता है। इस पर मेरी गुस्से से कहती है : 'अदालत चाहे किसी बेगुनाह को फांसी दे दे, लेकिन आपकी इबादत में ब्रेक नहीं आना चाहिए।' इस पर मौलाना वली को उत्सुकता होती है कि यह लड़की कौन है, कोई जर्नलिस्ट, वकील या एनजीओ की एक्टिविस्ट। इस बात का उत्तर देते हुए मेरी कहती है कि मैं क्या हूँ, यह अप्रासंगिक है। वह सवाल पूछती है कि क्यों इस मुल्क में लड़कियों को इंसाफ के लिए एनजीओ के पास जाना पड़ता है। मौलाना वली को अदालत में आने के लिए गुजारिश करने की बजाय वह यह कहते हुए जाने के लिए खड़ी हो जाती है : 'बंद कमरे में बैठकर इबादत करना और किताबें पढ़ना आसान है, लेकिन सच बोलना और सच के लिए तकलीफ उठाना बहुत मुश्किल है।' यही नहीं, वह यह कहते हुए मौलाना वली को स्तब्ध छोड़कर चली जाती है कि 'कयामत के दिन मैं खुदा को बताऊंगी कि इस आदमी के पास आपकी इबादत के लिए तो वक्त ही वक्त था, लेकिन किसी मज़लूम का साथ देने के लिए कुछ मिनट भी नहीं थे।' इस तरह फिल्मकार ने मेरी के माध्यम से धर्म के प्रति उदारवादी नज़रिए को स्वीकारने, लेकिन चुप बैठने वाली निष्क्रिय प्रवृत्ति की आलोचना की है। अपनी इसी बदली मानसिकता के कारण ही फिल्म के अंत में मेरी खुद इंग्लैंड लौटने की बजाय उसी गांव में वापस लौट जाती है, जिस गांव में उसकी जबरन शादी कर दी गयी थी और जहां उसे कैद रखा गया था। लेकिन इस बार वह उस अधूरे काम को पूरा करने के लिए गयी है, जिसकी शुरुआत वह उसी कैद के दौरान कर चुकी थी, यानी लड़कियों को शिक्षित करने का काम।

मौलाना वली की लाहौर के हाईकोर्ट में पेशी का दृश्य फिल्म का सबसे प्रभावशाली दृश्य है। अदालत के सामने जो दो सवाल थे, उनका मौलाना वली हदीस के हवाले से और पैगंबर के अपने जीवन से उदाहरण देकर उत्तर देते हैं। उनके अनुसार, 'अपनी मर्जी से शादी करना उसका (लड़की का) हक है।' जहां तक गैर-मज़हब में शादी करने का सवाल है, वली के अनुसार यह 'खुदा की नज़र में नापसंदीदा है' लेकिन नापसंदीदा तो बहुत सारी चीज़ें हैं, क्या उनकी वजह से किसी को इस्लाम से बेदखल कर देते हैं?

जहां तक मरियम का सवाल है, वली के अनुसार वह तो मुसलमान ही नहीं है। उसका जन्म ईसाई देश में हुआ, उसकी परिवार भी ईसाई देश में हुई, नाम (मरियम) तक उसका ईसाइयों वाला रखा गया। उससे इस्लाम के अनुसार चलने की मांग करना उनके अनुसार, डॉक्टरी की तालीम पूरी किये बिना किसी से यह शिकायत करना है कि उसे ऑपरेशन करना नहीं आता। सर्जरी को जो वकील के अनुसार जीन्स पहनने वाला और नाचने-गाने वाला लड़का था, मौलाना ताहिरी ने 'उसे इस्लामी हुलिए में ढालकर आशिके-रसूल बना दिया।' इसका जबाब देते हुए मौलाना वली कहते हैं कि चार पैगंबरों, जिन पर खुदा ने किताबें नज़्म कीं, उनमें से एक पैगंबर दाऊद को खुदा ने मौसिकी अता की थी। जहां तक हुलिए का ताल्लुक है, मौलाना वली का मानना है कि हुलिए का संबंध मज़हब से नहीं है। वे साफ तौर पर घोषणा करते हैं कि 'दीन में दाढ़ी है, दाढ़ी में दीन नहीं।' वे इस बात पर अफसोस जाहिर करते हैं कि चार-चार बार हज करने वाले मुसलमान स्मगलिंग और दूसरी तरह के अपराध करते हैं। 'हराम की कमाई जेब में रखकर हलाल गोस्त की दूकान ढूँढते हैं।' वे कहते हैं, 'कहीं ऐसा तो नहीं कि हम अबु जहाल बना रहे हैं। क्योंकि दाढ़ी तो अबु जहाल की भी थी और हुलिया भी वही था।' अबु जहाल वह शख्स था, जिसने पैगंबर का विरोध किया था। जब वकील इस अंतर्विरोध की तरफ ध्यान दिलाता है कि दाढ़ी तो उन्होंने भी रखी हुई है तो वह कहते हैं कि अपनी मर्जी से रखी है। क्योंकि प्रेम में व्यक्ति ठीक वैसा ही दिखना चाहता है जैसा कि उसका प्रिय दिखता है, उनके अनुसार, 'दाढ़ी इश्क का आगाज़ नहीं, इंतहा है।' पंजाबी सूफी शायर का हवाला देते हुए वह पंजाबी में एक पंक्ति उद्धृत करते हैं, जिसका भावार्थ कुछ इस प्रकार है : हीर कहता है कि मुझे हीर नहीं रांझा कहो। वली अपनी बात को समाप्त करते हुए कहते हैं कि पहले अपने हृदय को जगाने, अपने हृदय में प्रेम की आग लगाने की ज़रूरत है, तब बाहर का संसार भी अपने आप बदल जायेगा। स्पष्ट है कि मौलाना वली की पूरी शिक्षा इस्लाम की उदारवादी व्याख्या ही नहीं है, बल्कि उस व्याख्या पर सूफी परंपरा का गहरा प्रभाव भी दिखायी देता है, जहां इश्क हकीकी की परिभाषा ईश्वर और आत्मा के एक-दूसरे में लीन हो जाने की अवस्था को माना गया है। जहां पहनावा, इबादत आदि गौण हो जाते हैं। इस प्रकार 'खुदा के लिए' इस्लाम की तत्ववादी और प्रतिगामी व्याख्याओं को अस्वीकार करते हुए उदार, प्रगतिशील और मानवतावादी व्याख्या प्रस्तुत करती है। इस फ़िल्म में मौलाना वली द्वारा दिये गये तर्क इस्लाम और मुसलमानों पर होने वाले हमले के विरुद्ध आत्मरक्षा में पेश की गयी दलीलें भर नहीं हैं। फ़िल्म अपनी रचनात्मक ऊर्जा इस्लाम की उस उदारवादी परंपरा से ग्रहण करती है, जो उतनी ही पुरानी है, जितना पुराना स्वयं इस्लाम है। इस उदारवादी परंपरा के लिए कुछ भी अग्राह्य नहीं है और इस सत्य को संगीत के माध्यम से बार-बार दोहराया गया है।

(इस लेख को लिखने में विभिन्न वेबसाइटों से प्राप्त सूचनाओं का उपयोग किया गया है। साथ ही कुछ संदर्भों को समझने के लिए प्रो. अहमद रज़ा खान, प्रो. चमन लाल और डॉ. मुकेश गर्ग से सहायता ली गयी है। इसके लिए लेखक इनका आभारी है।)